मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली

संपादक
कृष्णदत्त पालीवाल

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-7

खण्ड-1

□ रंग में भंग □ जयद्रथ-वध □ पद्य-प्रबन्ध □ भारत-भारती

खण्ड-2

□ पत्रावली □ वैतालिक □ किसान □ पंचवटी □ हिन्दू

खण्ड-3

□ स्वदेश-संगीत □ सैरन्ध्री □ वकसंहार □ शक्ति □ वन वैभव □ गुरुकुल

खण्ड-4

□ विकट भट □ झंकार □ साकेत

खण्ड-5

□ यशोधरा □ द्वापर

खण्ड-6

□ सिद्धराज □ नहुष □ कुणाल-गीत □ अर्जन औरविसर्जन □ विश्व-वेदना □ काबा और कर्बला □ अजित

खण्ड-7

□ हिडिम्बा □ प्रदक्षिणा □ युद्ध □ अंजलि और अर्घ्य □ पृथिवीपुत्र : दिवोदास, जयिनी, पृथिवीपुत्र □ जय भारत

खण्ड-8

□ राजा-प्रजा □ विष्णुप्रिया □ रत्नावली □ उच्छ्वास

खण्ड-9

□ अनघ □ चन्द्रहास □ तिलोत्तमा □ निष्क्रिय प्रतिरोध □ विसर्ज्जन □ स्वप्न वासदत्ता □ प्रतिमा □ अभिषेक □ अविमारक

खण्ड-10

□ मेघनाद-वध □ वीरांगना □ विरहिणी व्रजांगना

खण्ड-11

□ पलासी का युद्ध □ वृत्र-संहार □ रुबाइयात उमर खय्याम

खण्ड-12

□ भूमि-भाग □ शकुन्तला □ स्वस्ति और संकेत □ त्रिपथगा □ मुंशी अजमेरी

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-7

सम्पादक

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
फोन : 011-23273167, 23275710
फैक्स : 011-23275710
e-mail : vaniprakashan@gmail.com
website : www.vaniprakashan.com

वाणी प्रकाशन का लोगो
विख्यात चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसेन
की कूची से

ISBN : 978-81-8143-761-7

वितरक :

वाणी प्रकाशन

21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक

साहित्य सदन

184, तलैया झाँसी

संस्करण : 2008

बारह खण्डों का मूल्य

मूल्य : 9000/-

आवरण : वाणी प्रकाशन

क्वालिटी ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110032

द्वारा मुद्रित

MAITHILISHARAN GUPT GRANTHAWALI-7

Edited by : Dr. Krishandatt Paliwal

निवेदन

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के समग्र साहित्य को एकसूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी के सहृदय-समाज को अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। गुप्त जी लगभग साठ वर्ष तक साहित्य-साधना में निरन्तर समर्पित रहे। वे हिन्दी भाषियों के साथ अहिन्दी भाषियों के सर्वाधिक प्रिय रचनाकार हैं। आज का पाठक उनकी समग्र कृतियों को पढ़ने का अरमान रखता है। मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना पाठक के उसी अरमान को पूरा करने की ओर एक कदम है।

राष्ट्रकवि की गरिमा से दीप्त-प्रदीप्त मैथिलीशरण गुप्त का कृती व्यक्तित्व और उनकी असीम सर्जनात्मक क्षमता किसी भी सुमनस को मोहने और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। उनके सर्जन में हमारी परम्परा के पुरखे बोलते हैं। आधुनिक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन, नवजागरण, सत्याग्रह-युग और नेहरू-युग का विचार-मन्थन गुप्त जी की रचना-दृष्टि के उत्तमांश को सामने लाता है। यह रचना-दृष्टि अपनी व्यापकता और गहराई में समाज के आर-पार देखने की क्षमता रखती थी। इतिहास-पुराण, मिथक, प्रतीक, रूपक उनकी लेखनी का पारस स्पर्श पाकर अपनी जड़ता खो बैठा और साहित्य कालजयी या क्लासिक शक्ति धारण कर लेता है। सच बात तो यह है उनके वैष्णव संस्कारों, विचारों, अभिप्रायों से काल का डमरू ऐसे बजा है कि उसमें से प्रेरणा का नाद फूट रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त की वाचिक परम्परा से प्राप्त प्रतिभा ने हिन्दी के साथ भारतीय साहित्य के एक विशाल लोक-चित्त को प्रेरित एवं प्रभावित किया है। उन्होंने स्वाध्याय से संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, मराठी के साहित्य को रमकर समझा था। वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और अंग्रेजी न जानना उनकी देसी प्रतिभा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन देसी प्रतिभा की ही यह विजय है कि कवि की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर महात्मा गाँधी ने उन्हें 'मैथिली काव्य मान' ग्रन्थ भेंट करते हुए 'राष्ट्रकवि' की उपाधि प्रदान की।

गुप्त जी का कवि कण्ठ ब्रजभाषा में फूटा था। उन्होंने अपने काव्यारम्भ में 'मधुप' और 'रसिकेन्द्र' नाम से कुछ पद्य ब्रजभाषा में लिखे भी। लेकिन शीघ्र ही

वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा प्रभाव शक्ति के कारण खड़ी बोली में कविता करने लगे। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को उँगली पकड़कर पैदल चलना सिखाया और एक दिन इतना परिमार्जित कर दिया कि वह सर्जनात्मक शक्ति से दौड़ने लगी। खड़ी बोली स्वाधीनता आन्दोलन की भाषा रही है—विद्रोह की शक्ति रही है। इस भाषा में प्रान्त नहीं, पूरा देश खुलकर बोला है। यहाँ कहना होगा कि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी काव्य के निर्माता थे और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अविस्मरणीय है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण ने हमारी संस्कृति-सभ्यता के इतिहास और साहित्य में विश्वास का जो स्वर उत्पन्न किया था, उसकी अधिकाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त की सर्जनात्मकता में ही हुई। हिन्दी प्रदेशों के साथ भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का मैथिलीशरण गुप्त ने पचास वर्ष तक नेतृत्व किया। गुप्त जी ने अनुभव किया कि लोक-वेदना और लोक-चिन्ता को वाणी दिये बिना कवि-कर्म का दायित्व पूरा नहीं होता। फलतः वे अपने देश और काल की समस्याओं-चुनौतियों के अनुरूप काव्य-सृजन में पूरे मनोयोग से प्रवृत्त हो गये। उन्होंने हिन्दी कविता को रीतिवाद से मुक्त करते हुए देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद विरोध की दिशा में मोड़कर दम लिया। भारतेन्दु और श्रीधर पाठक के बीज-भाव मैथिलीशरण गुप्त के सर्जन में पल्लवित-पुष्पित हुए। आज भी उनकी स्मृति से प्रेरणा की सुगन्ध आती है।

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य-फलक अत्यन्त व्यापक है। भारतीय साहित्य के अतीत और वर्तमान दोनों पर उनकी दृष्टि रही है। रामायण-महाभारत काल के साथ उनका विशेष रागात्मक सम्बन्ध है। वैदिक युग और बौद्धकाल के कई कथानक उन्होंने उत्साहपूर्वक लिए हैं। राजपूतकाल के प्रति भी उनका आकर्षण कम नहीं है। इधर वर्तमान को तो उन्होंने अपनी युग चेतना और काव्य-संवेदना का केन्द्र बनाया ही है। वर्तमान युग के भी कई चरण उन्होंने देखे थे—बालजीवन उनका सांस्कृतिक नवजागरण काल में बीता, यौवन जागरण सुधार-आन्दोलनों के युग में, प्रौढ़ावस्था गाँधी जी के सत्याग्रह-युग में और जीवन का चौथा चरण स्वतन्त्र भारत के नेहरू-युग में। जीवन के सभी सांस्कृतिक-राजनीतिक पहलुओं का उनके काव्य में विस्तार से चित्रण है।

गुप्त जी गाँधी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। गाँधी युग की प्रायः समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ—अंग्रेजी शासन के अत्याचार और उनके विरुद्ध संघर्ष, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा-आन्दोलन, किसान-मजदूर आन्दोलन, जेल जीवन, स्वतन्त्रता का उल्लास, विभाजन की विभीषिका, गाँधी जी की हत्या, संसद की गतिविधि, महँगाई की समस्या, चीन का आक्रमण, राजभाषा का प्रश्न, दलित-समस्या, उपेक्षिताओं के उद्धार की समस्या, नारी अस्मिता के खौलते प्रश्न, अशिक्षा की समस्या, पाश्चात्य सम्पर्क के शुभ-अशुभ प्रभाव, पारिवारिक जीवन-विधान में होनेवाले परिवर्तन,

ग्राम्य-जीवन का चित्रण आदि। अद्‌भुत बात यह है कि उनमें प्रगति और परम्परा, आधुनिकता और समसामयिकता, इतिहास और संस्कृति, परिवर्तन और निरन्तरता दोनों का सन्तुलित योग है। युगबोध की दृष्टि से अपने समकालीन साहित्यकारों में वे प्रेमचन्द के समकक्ष खड़े हैं।

उनमें लोक-जीवन, लोक-संवेदना और लोक-चेतना के कारण शुद्ध आभिजात्यवादी तत्त्वों के प्रति आग्रह न था। यह कवि आरम्भ से अन्त तक लोक-मंगलमूलक काव्य-कला, नाट्यकला, अनुवाद-कला आदि की साधना करता रहा। कवि के अपने शब्दों में, 'अर्पित हो मेरा मनुज काय/बहुजन हिताय बहुजन हिताय'। अतः उनकी काव्य-साधना का उद्देश्य है—लोक-कल्याण। आज हम क्या हो गये हैं? इसी क्या का उत्तर देने के लिए उन्होंने समस्त राष्ट्र का आह्वान किया था। वर्तमान का संशोधन करने के लिए यह जानना भी आवश्यक था कि अतीत में हम कौन थे और भविष्य में क्या होंगे? इस प्रकार उनके विचार का केन्द्र है वर्तमान। वे अतीतोपजीवी रचनाकार नहीं हैं। गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं और न व्यापक अर्थों में उन्हें सौन्दर्य का कवि कहा जा सकता है। मूलतः वे मानव-रागों, मानव-सम्बन्धों के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, तुलसी, भारतेन्दु की परम्परा का रचनाकार कहा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त परम्परागत अर्थ में आस्तिक हैं—वैष्णव हैं। राम के रूप में ईश्वर के प्रति उनकी अविचल आस्था है। इस तरह उनका मानववाद वैष्णव मानववाद ही है। इस वैष्णव मानववाद में सभी को (हिन्दू, शैव, शाक्त, सिख, मुसलमान, ईसाई सभी) जगह है। वे मुहम्मद साहब पर 'काबा-कर्बला' लिखते हैं, सिख-गुरुओं पर 'गुरुकुल' तथा कार्ल मार्क्स की पत्नी 'जयिनी' पर कविता। कहना होगा कि उनके सृजन-चिन्तन में पश्चिमवाद का 'अदर' या 'अन्य' नहीं है। भारतीय लोक मानस का आस्तिक समाजवाद उनकी 'भारतीयता' है। मैथिलीशरण गुप्त जी की इन्हीं मानववादी प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनाई गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये बारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड—काव्य
2. दूसरा खण्ड—काव्य
3. तीसरा खण्ड—काव्य
4. चौथा खण्ड—काव्य
5. पाँचवाँ खण्ड—काव्य
6. छठवाँ खण्ड—काव्य
7. सातवाँ खण्ड—काव्य
8. आठवाँ खण्ड—काव्य

9. नवाँ खण्ड–मौलिक एवं अनूदित नाटक
10. दसवाँ खण्ड–बांग्ला अनुवाद
11. ग्यारहवाँ खण्ड–अनुवाद
12. बारहवाँ खण्ड–विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है। किन्तु इस बात का ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके। समस्त गुप्त परिवार के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। सभी के सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं हो पाता। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद। श्री अरुण माहेश्वरी और वाणी प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और लगन से इस विशाल योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम पाठकों को समर्पित करते हैं। गुप्त जी के रचना-कर्म के 'पाठ' या टेक्स्ट की बहुलार्थकता का इस कार्य से थोड़ा-सा भी विकास सम्भव हुआ तो अपने को कृतकार्य मानूँगा।

–कृष्णदत्त पालीवाल

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

प्रतीक्षा–प्रसन्नता में परिवर्तित

प्रकाशकीय

प्रातः स्मरणीय राष्ट्र कवि स्व. मैथिलीशरण गुप्त (दद्दा) की ग्रन्थावली राष्ट्र को समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इसे प्रकाशित कर व श्री सियारामशरण गुप्त (बापू) द्वारा स्थापित 'साहित्य सदन' ने अपना उत्तरदायित्व पूरा किया है।

इस ग्रन्थावली की प्रतीक्षा समस्त हिन्दी जगत को थी। वास्तव में यह ग्रन्थावली राष्ट्र कवि के स्वर्गवास के उपरान्त प्रथम पुण्य तिथि 12 दिसम्बर, 1965 को प्रकाशित हो जानी चाहिए थी। किन्तु गुप्त परिवार के आपसी मतभेद के कारण यह पुण्य कार्य समय पर न हो सका।

राष्ट्र कवि का जन्म 3 अगस्त, 1886 को चिरगाँव में हुआ और स्वर्गवास 12 दिसम्बर, 1964 को, इस प्रकार 79 वर्ष तक निरन्तर साहित्य साधना करते हुए हिन्दी साहित्य के प्रखर नक्षत्र माँ भारती के विशद् पुत्र, कालजयी कवि ने लगभ 60 पुस्तकों की रचना की, अन्तिम समय में भी राष्ट्रकवि की शैय्या पर कविता की निम्न पंक्तियाँ लिखी प्राप्त हुई–

प्राण न पागल हो तुम यों
पृथ्वी पर है वह प्रेम कहाँ
मोहमयी छलना भर है
भटको न अहो अब और यहाँ
ऊपर को निरखो अब तो,
बस मिलता है चिरमेल वहाँ
स्वर्ग वही, अपवर्ग वही
सुख सर्ग वही निज वर्ग जहाँ।

राष्ट्र कवि की महत्त्वपूर्ण ग्रन्थावली के प्रकाशन में विलम्ब हुआ है उसको स्पष्ट करना हमारे गुप्त परिवार की प्रतिष्ठा के लिए श्रेयस्कर नहीं है हम स्वयं भी

गुप्त परिवार के अंग हैं क्योंकि 'साहित्य सदन' की स्थापना स्वयं दद्दा ने की थी उनके प्रति हमारी श्रद्धा, आदर और भक्ति आज भी है और सदैव बनी रहेगी, उनके उत्तराधिकारी हमारे आदरणीय हैं उनके प्रति भी हमारी भावना श्रद्धा की है।

इस ग्रन्थावली में जो सामग्री संकलित की गई है वह प्रकाशित पुस्तकों की है जिनका कॉपीराइट विधिवत् (पूज्य दद्दा एवं उनके उत्तराधिकारी सहित परिवारियों द्वारा हस्ताक्षरित कारोबारी फर्म विघटन पत्र दिन. 27.03.1960 के अनुसार) 'साहित्य सदन' 184 तलैया-झाँसी के पास निर्विवाद रूप से सुरक्षित है जिसे न्यायालय ने भी स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में 'साहित्य सदन' झाँसी द्वारा इसका प्रकाशन विधि-सम्मत है इसमें दो राय नहीं।

ग्रन्थावली हिन्दी के शोधकर्त्ताओं, साहित्यकारों, एवं जिज्ञासु पाठकों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं संग्रहणीय है इसके माध्यम से राष्ट्रकवि की सभी प्रकाशित रचनाएँ उपलब्ध हो सकेंगी। ग्रन्थावली के सम्पादक डॉ. कृष्णदत्त पाली ने समस्त सामग्री को 12 खण्डों में (लगभग 5500 पृष्ठ) में विषयानुसार विभाजित कर अत्यन्त सुलभ और उपयोगी बना दिया है। हम यह अधिकारपूर्वक नहीं कहते कि ग्रन्थावली राष्ट्रकवि का पूर्ण रचना संसार है। निश्चय ही कुछ अप्रकाशित सामग्री, चित्र, पत्रादि परिवारियों, साहित्यकारों और स्नेही विद्वानों के पास होंगे। हमारा उनसे विनम्र अनुरोध है कि अप्रकाशित सामग्री साहित्य सदन को भेजकर इस महान कार्य में हमें अपना सहयोग देकर आभारी करें हम आगे भी उपलब्ध सामग्री को सम्पादित करा कर अतिशीघ्र प्रकाशित कर इस अभाव को पूरा कर देंगे। जिससे राष्ट्रकवि का समस्त रचना संसार सदैव उपलब्ध रहे।

अन्त में 'वाणी प्रकाशन' दिल्ली के संचालक श्री अरुण माहेश्वरी का सम्बन्ध हमारे लिये महत्वपूर्ण है उन्होंने इस साहित्यिक यज्ञ में इस ग्रन्थ की वितरक के रूप में कमान सँभाली है यह सहयोग अद्वितीय है सदैव स्मरणीय रहेगा।

हम उनका आभार मानते हैं और यह अपेक्षा करते हैं कि 'साहित्य सदन' एवं 'सेतु प्रकाशन' झाँसी द्वारा आगामी प्रकाशन योजना में भी उनका मूल्यवान सहयोग हमें मिलेगा। साथ ही जगदीश शर्मा (दिल्ली) एवं प्रमोद कुमार समाधिया (झाँसी) के मूल्यवान परामर्श और सहयोग के प्रति हम कृतज्ञ हैं।

सधन्यवाद।

दिनांक : 1 फरवरी, 2008

—प्रमोद कुमार गुप्त
—आशीष गुप्त
'साहित्य सदन'
184, तलैया-झाँसी
(उत्तर-प्रदेश)

अनुक्रमणिका

हिडिम्बा 11-35

प्रदक्षिणा 37-74

युद्ध 75-105

अंजलि और अर्घ्य 107-130

पृथिवीपुत्र 131-169

दिवोदास 137

जयिनी 151

पृथिवीपुत्र 163

जय भारत 171-488

नहुष 178

यदु और पुरु 187

योजनगन्धा 192

कौरव-पाण्डव 197

बन्धु-विद्वेष 202

द्रोणाचार्य 205

एकलव्य 209

परीक्षा 214

याज्ञसेनी 219

लाक्षागृह 222

हिडिम्बा 225

वक-संहार 234

लक्ष्य-वेध 245

इन्द्रप्रस्थ	258
वनवास	264
राजसूय	270
द्यूत	275
वन-गमन	281
अस्त्र-लाभ	285
तीर्थयात्रा	290
द्रौपदी और सत्यभामा	303
वन-वैभव	309
दुर्योधन का दुःख	323
वन-मृगी	328
जयद्रथ	330
अतिथि और आतिथेय	333
यक्ष	336
अज्ञात वास	340
सैरन्ध्री	343
वृहन्नला	364
उद्योग	369
विदुर-वार्त्ता	375
रण-निमन्त्रण	378
अनाहूत	381
मद्रराज	384
केशों की कथा	387
शान्ति-सन्देश	394
कुन्ती और कर्ण	407
युयुत्सु	411
समर-सज्जा	416
अर्जुन का मोह	420
युद्ध	430
हत्या	459
विलाप	464
कुरुक्षेत्र	468
अन्त	472
स्वर्गारोहण	477

हिडिम्बा

बहन महादेवी को

अधिष्ठात्री महादेवी हमारी मर्म-वानी की,
उसे बलि वैष्णवी मेरी हिडिम्बा यातुधानी की।

—**मैथिलीशरण**

चिरगाँव,
नवरात, 2007

अपने विभिन्न पात्रों के साथ तादात्म्य प्राप्त करके ही कोई लेखक उनके प्रति न्याय कर सकता है।

रावण की बात करते हुए राम के विषय में, स्वयं तुलसीदास तुच्छ भावना प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होते हैं।

हिडिम्बा का पक्ष उपस्थित करने में उसके साथ न्याय करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। लेखक इसमें कितना कृतकार्य हुआ है, उसके पाठक ही इसके निर्णायक हो सकते हैं। तथास्तु।

श्रीगणेशाय नमः

हिडिम्बा

मूल्य रखती है राज्य से भी बड़ा लोक में,
राम की—भरत की उदात्त भ्रातृ-भावना
पुण्यभूमि पाकर उसी को हुई पावना,
डूबा महाभारत उसी के बिना शोक में।

विदुर-कृपा से कर छद्म घर छार-खार,
वन में प्रविष्ट पाण्डुपुत्र हुए गंगा पार।
भीम ने बनाया मार्ग बीहड़ में बढ़ के,
कुन्ती जा सकी उन्हीं के कन्धों पर चढ़ के।
माँ को लिये वे दिये सहारा भाइयों को भी,
गिनते न मार्ग में थे खड्ड-खाइयों को भी।
देखते उन्हें थे वन-जन्तु सुविस्मय से,
किन्तु दूसरे ही क्षण भागते थे भय से!
घने घने वृक्ष आतपत्र लिये आते थे;
निज फल-फूल उन्हें भेट दिये जाते थे।
कण्टक भी उनके पदों को धर गहते,
शल्यविद्ध मन में वे उनसे क्या कहते?
केकी गति धरते थे, पिक स्वर भरते,
उनके विनोद: का प्रयास-सा थे करते।
वे आखेट-मग्न मान सकते थे आपको,
भूलते परन्तु कैसे माँ के मनस्ताप को?

रानी न भी होती वह तो भी गृह-नारी थी,
घन-वन-योग्य न थी, चिर सुकुमारी थी।
पर उसको भी आज दुःख न था अपना,
पुत्रों की विपत्ति का ही जी में था कलपना।
बैठ भी सकी न वह अन्त में गहन में,
मन में अशान्त थी ही श्रान्ति आयी तन में।
छाई शून्य जड़ता प्रसून की-सी काया में,
झड़-सी पड़ी वह बड़ी-सी वट-छाया में!

"हाय! हम जैसे पाँच पाँच पुत्र रहते,
जननी हमारी सहे ऐसे दुःख दहते,
तो वृथा सहेगी कौन यातना प्रसव की;
होगी क्यों इतिश्री नहीं भाग्यहीन भव की?
नित्य भोग-व्यंजन जनों को जो जिमाती थी,
सेविकाओं को भी संग बैठाकर खाती थी,
आज पुत्रों को भी खिला पाती नहीं मन का
भवन-निवासिनी को त्रास मिला वन का।
राजपुत्री, राजरानी, राजपुत्र-जननी,
धूलि-लुंठिता है आज आर्त्त आत्महननी।
हो रही है निद्रित वा मूर्च्छित, पता नहीं,
जड़ से उखाड़ी गई क्या यह लता नहीं?
निज पर हैं वे, यह जिनसे छली गयी,
धन गया, धाम गया, धरती चली गयी।
करनी पड़ेगी भरपाई किसे इसकी?
दुर्योधन! तू है वह, ऐसी मति जिसकी,
आज अपने को तू कृतार्थ भले कहले—"
"जाओ, किन्तु खोजो भीम, पानी कहीं पहले।"
बोले उन्हें रोक के युधिष्ठिर थकित-से
"जो आज्ञा" वृकोदर चले चुप चकित-से।
दृष्टि और श्रुतियों को विस्तृत-सा करके,
जलचर पक्षियों का कलरव धरके,—
जाके कुछ दूर पा गये वे एक झरना,
दैव के अनुग्रह का वह था उतरना।

नीचे बढ़ उसने बनाया एक कुण्ड था,
घेरे जिसे घनी घनी झाड़ियों का झुण्ड था।
फूल-काँटे एक से कृतज्ञ होके विधि के,
पार्षद बने थे निज जीवन के निधि के।
किरणें चमकती थीं उसमें नहा नहा,
उनमें उमड़ता था वह भी रहा रहा।
खेलता था चारों ओर दूब में बहा बहा,
देखा उसे और कहा भीम ने 'अहा! अहा!'
एक दृष्टि में ही वे मधुर दृश्य पी गये,
बोल उठे—''आज हम मरते से जी गये।''
नीर निम्न गामी हुआ, इसमें क्या भूल है?
सींचना जिसे है इसे, तल में ही मूल है।
उतरी थकान जो चढ़ी थी उन्हें वन में,
प्राप्त हुए व्याप्त नये प्राण-से पवन में।
श्वास खींच बोले बली—''अम्बा-आर्य-आ जावें,
तो वे पुनर्नवता तुरन्त यहाँ पा जावें।''
रुक न सके वे वहाँ, लौटे वायुबल से
पात्र के अभाव में दुकूल भर जल से।

माता और भ्राता यहाँ हारे-थके सोये थे,
भावि-गति खोजते-से आप भी वे खोये थे।
प्रहरी हो भीम क्या क्या सोचा किये मन में,
साँझ को ही रात हुई उनको गहन में।
धारे गगनस्थली ने तारे रत्न चुनके,
चमके वे नूपुरों की रुनझुन सुनके।
सुन पड़ी राग की नयी-सी टेक उनको,
दीख पड़ी सुन्दरी समक्ष एक उनको।
उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी,
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी।
अंग मानों फूल, कच भृंग, हरी शाटिका,
कर-पद-पल्लवा थी जंगम-सी वाटिका।
ओस मुसकान बन ओठों पर आई थी,
सुरभि-तरंग वायु-मण्डल में छाई थी।

चौंक उठे भीम, रह वे न सके स्थिर भी,
खिन्न थे भले ही अविनीत न थे फिर भी।
ओठों पर तर्जनी धरे वे बढ़े धीरे से,
"देवि, कौन है तू यहाँ?" बोले हँस हीरे-से!
"जागें नहीं कच्ची नींद माता और भ्राता ये,
आप कष्ट में भी शरणागतों के त्राता ये।"
"धन्यवाद! देवी पद दान किया तुमने,
वस्तुतः मैं राक्षसी हूँ, मान दिया तुमने।
स्वीकृत इसीलिए मैं करती हूँ इसको,
अन्यथा मैं अपने समक्ष गिनूँ किसको?"
"राक्षसी इसीलिए क्या तू जो है निशाचरी?
यद्यपि दिवा-सी यह दीप्ति तुझमें भरी।
फूटा जिसे देख यहाँ पत्थर में सोता है,
ऐसा रस-रूप यदि राक्षसी का होता है,
तो थी राक्षसी के प्रति मेरी भ्रान्त धारणा,
तन्वि, तुझे योग्य नहीं यह वन-चारणा।"
"मानती हूँ इसको गुणज्ञता तुम्हारी मैं,
दुगुनी कृतज्ञ हुई बलि, बलिहारी मैं!
मेरा बड़ा भाग्य यह, जो मैं मन भा गयी,
वन घर मेरा, तुम्हें देखा और आ गयी।
अपने अतिथि का मुझी पर न भार है!
कह दो अपेक्षित तुम्हें क्या उपहार है?
दुःख में पड़े हो तुम सर्व सुख सेवी-से।"
"तो आलाप करता हूँ मैं क्या वन देयी से?"
"देवी ही सही मैं, तब मेरे देव तुम हो,
कामलता हूँ मैं, तुम्हीं मेरे कल्पद्रुम हो।"
सुन्दरि, क्या सत्य ही तू कोई अन्य बाला है?
रूप से जो ज्वाला और वाणी से रसाला है।"
"मैं हूँ" हँस बोली वह—"जो भी तुम जान लो,
हानि क्या मुझे यदि निशाचरी ही मान लो?
कल्प-सा किया है स्वयं मैंने निज काया का,
यातुधानी हूँ न, योग रखती हूँ माया का!"
"तो तू अपने को भले शूर्पणखा मान ले,
लक्ष्मण-सा धीर मैं नहीं हूँ, यह जान ले!"

''शूर्पणखा तक ही तुम्हारा बड़ा ज्ञान है,
वे हो तुम, जिनमें अतीत ही महान है!''
''लक्ष्मण न होने में प्रतिष्ठा कौन मेरी है?
तब भी प्रशंसनीय सत्यनिष्ठा तेरी है।
शूर्पणखा—'राक्षसी मैं' थी कह सकी कहाँ?
किन्तु इस रूप-रचना का हेतु क्या यहाँ?''
बोली चढ़ी भृकुटी उतार कर ललना—
''चाहो तो कहो तुम भले ही इसे छलना।
प्रिय-रुचि-हेतु चुना मैंने यह चोला है,
नरवर मेरा अहा भारी भला भोला है!''
''भोला? भली, 'मुग्ध' कह तो भी एक बात है,
रूठे वह क्यों न, सीधा सीधा यह घात है!''
''रूठना भी उसका क्या जो उदार चेता है,
चाहे जिसे देवी जान लेता, मान देता है?
देवों की अपेक्षा दैत्य हमसे निकट हैं,
नर तो निरीहता में दोनों से विकट हैं।
चाहिए उन्हें तो किसी दिव्य की अधीनता,
दीनता कहूँ मैं इसे किंवा आत्म-हीनता?
किन्तु और वेला नहीं, संकट समीप है,
सोदर हिडिम्ब मेरा रक्षःकुल-दीप है,
उसने मनुष्य-गन्ध पाके मुझे भेजा है,
आके तुम्हें देख कैसा हो उठा कलेजा है!
मारने को आयी थी, बचाऊँगी तुम्हें अहो!
होने से विलम्ब किन्तु डरती हूँ, जो न हो।''
हँस पड़े भीम इस बार अनादर से—
''भागें हम लोग भला राक्षस के डर से?
होंगे नर दूसरे वे तू है जिन्हें जानती,
ऐसा नहीं कहती हमें जो पहचानती।''
''जैसे तुम शूर्पणखा मुझको न कहते!
भाते किन्तु कैसे तुम भव्य जो न रहते?
देखके अपूर्व तुम्हें आयी मुझे ममता,
रक्षिक
''प्रेम
जा,

"इच्छा रहने दो उसे देखने की हाय तुम,
खो न बैठो आप निज रक्षा का उपाय तुम।
मैं भी उससे न बचा पाऊँगी तुम्हारे अंग,
भाग चलो प्यारे, हठ छोड़ अभी मेरे संग।"
"भाग चलूँ? छोड़ माता-भ्राता, वे जियें-मरें,
राक्षस नहीं हैं हम, तू ही कह, क्या करें!"
"राक्षस न होना किसी भाँति तो तुम्हें खला?
कौन रक्ष उनमें तुम्हारा लक्ष है भला?"
"इन्द्रियों के भोग की क्या बात कहूँ तुझसे,
प्राणों के लिए भी यह होगा नहीं मुझसे।"
"मानस का हंस कहाँ जाय कुछ चुगने,
प्रिय के जो प्रिय हैं, वे मेरे प्रिय दुगने।"
"यदि यह बात है तो चिन्ता-भय छोड़ दे,
मेरे नर नाम में अभी से जय जोड़ दे।
जैसी हो परन्तु तू है ऐसी भी, बहुत है,
भागना क्या, जीवन तो जन्म से ही हुत है।"

आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा!
बोला दूर से ही वह—"व्यर्थ होगा भागना!"
सोते हुओं को भी इस बार पड़ा जागना।
एक बार काँप के हिडिम्बा हुई जड़-सी,
आयी स्वजनों में अकस्मात झंझा-झड़-सी।
झुक झुक झोंके झेल ज्यों त्यों वन ठहरा,
वज्रदन्त वाला बढ़ काला घन घहरा।
"तू बलि बनेगा नर, भाग्य भला तेरा है!"
भीम हँसे—"आ गया मृगव्य आप मेरा है!
अन्य बलिदान वाली पूजा है अशक्तों की,
ईश चाहता है आत्मबलि ही स्वभक्तों की।
राक्षस, सहायता मैं दूँगा तुझे इसमें,
आज तुझे छोड़के विनोद मेरा किसमें?"
यह सुन आग हो हिडिम्ब बढ़ गरजा,
बीच में हिडिम्बा ने विरोध कर बरजा।

"सावधान, मैं वर चुकी हूँ इसे मन में।"
"लाई क्लिन्न रूपता तभी तू निज तन में!"
रुष्ट हुआ राक्षस—"क्या कहती है तू अरी,
धिक धिक! राक्षसी हो मर्त्य पर ही मरी।
अब क्या दिखाके यही दाँत हा हा खायगी?
पत्ती-सी प्रभंजन में उड़ती दिखायगी।
छोटा मुँह तेरा बड़ी बात क्या करेगी तू,
लेके यह क्षीण लंक, लचक मरेगी तू।
ओहो! यह कीर-चंचु, नाकों चने चाबेगी,
मानुषी हो नित्य निज मन को ही दाबेगी।
भीरु और अबला-सी रीं रीं कर बोलेगी,
लेके बड़ी आँखें ये अँधेरे में टटोलेगी।
दृष्टि सूक्ष्म हो तो व्यर्थ ही से स्थूल नेत्र हैं,
हरिणों के हाथियों के भिन्न-भिन्न .क्षेत्र हैं।
देख तू सकेगी अब भी क्या नैश तम में,
छोटी नाक में भी बड़ी घ्राण-शक्ति हम में।
खोके हा! निजत्व तूने अच्छी यह सज्जा की,
होके स्वयं हीन मुझे कैसी लोक-लज्जा दी!
बाधा न दी मैंने किसी काम में कभी तुझे,
विनिमय तूने दिया उसका यही मुझे?
जो है निज भोग्य, तू उसी की उपभोग्य है,
मैं क्या कहूँ, तू ही कह, तुझको क्या योग्य है?"
"आगे मुझे मार," "नहीं पीछे तुझे मारूँगा
और निज कुल को कलंक से उबारूँगा।"
भीम बोले—"अन्य जन्म लेके कुछ करना,
सम्प्रति तो निश्चित तू जान निज मरना!
स्त्री को धमका के स्वयं अबला बनाता है,
पागल-सा ज्ञान आप अपना जनाता है।
इसका क्या दोष, तुझे भूख, इसे प्यास है,
भिन्न अंश-रेखाएँ भले हों, एक प्यास है।
तेरी स्वमहत्तम की गणना में भूल है,
तेरे हाथ शून्य और तेरे मुँह धूल है।
नकटा ही दूसरे को नक्कू कह जाता है,
पा तू इसी भाँति यदि आत्म-तोष पाता है!"

राक्षस बहन को हटा के भिड़ा भीम से,
कौशल में बल में वे दोनों थे असीम-से।
उत्साहित दोनों दुगने-से हुए फूल के,
देखती थी स्तब्ध कुन्ती भूख-प्यास भूल के।
भीम के लिए न रण-रंग-रस तिक्त था,
भाइयों का साहस बढ़ाना अतिरिक्त था।
राक्षस भी न्यून न था, दे रहा था झटके,
पक्ष में था मानो स्वयं काल उस भट के।
किन्तु पानी पाकर हरा भी रहे मूल से,
कितना लड़ेगा पेड़ अन्धड़ की हूल से?
छूटी चिनगारियाँ-सी वार वार वारों से
सारा वन गूँज उठा दारुण हुंकारों से।
चड़मड़ वृक्षों, पक्षियों की फड़फड़ थी,
हड़बड़ पशुओं की पंक्ति गड़बड़ थी।
एक दूसरे की रेल-पेल दोनों झेलते,
मानो प्रतिपक्षी-संग भूमि को भी ठेलते।
छातियाँ सजीव-सी शिलाएँ टकराती थीं,
देख देख दर्शकों की आँखें चकराती थीं।
लड़ लड़ जाते कुछ गंडकों-से मुंड थे,
टाँगें मारते थे मत्त वारणों के शुंड थे।
कर धरते थे कर किंवा अजगर थे,
करते अमानुषिक नाट्य वे दो नर थे!
रक्खी गुण-ग्राहकता पार्थ ने लड़ाई की,
निज-पर-भेद भूल दोनों की बड़ाई की।
शत्रु की प्रशंसा जो वृकोदर को खटकी,
घींच धर उसकी उन्होंने खींच झटकी।
औंधे मुँह नीचे गिर उठने न पाया वह,
रह गया लेके भग्न कटि की स्वकाया वह।
पीठ पर पैर रख हाथ डाल दोनों ओर,
मोड़ा उसे भीम ने हुआ तड़ाक शब्द घोर।
मरते हिडिम्ब ने कहा सो सबने सुना—
"बहन, सुखी हो, वर तूने योग्य ही चुना।"

"हाय भैया! किसने तुम्हारी रीढ़ तोड़ दी?"
खींची अनुजा ने साँस अग्रज ने छोड़ दी।
क्रुद्ध भीम भूले भाव राक्षस की जाई के,
बोले—"भगिनी भी संग जायगी क्या भाई के?"
"प्रस्तुत मैं, प्यार किया मैंने जिसे एक बार,
उसके करों से मरना भी मुझे अंगीकार।
मानती हूँ, किन्तु मिटा मेरा मतिभ्रम है,
राक्षसों से न्यून क्या नरों का गतिक्रम है!
मैं यों सहगमन करूँ सो क्या अनाथ हूँ?
वर जिसे बैठी उस दुर्द्धर के हाथ हूँ।
माना न था मैंने तुम्हें मन के प्रमाद से
निश्चय नरों में तुम एक अपवाद-से।"

धर लिया वेग से सुजात को सुमाता ने,
गर्व से सराहा उन्हें एक एक भ्राता ने।
"अम्ब, अम्ब, आर्य, आर्य, आज्ञा मिले, जावे भीम,
दुर्योधन की भी यही दुर्गति बनावे भीम।
मेरा पुरस्कार यही, न्याय का निदेश हो,
राज्य धर्मराज का हो, निष्कंटक देश हो।"
चिन्ता की युधिष्ठिर ने नाम खुले लेख के,
शान्त किया भीम को हिडिम्बा ओर देख के।
"भद्रे, हम निज को छिपाये हुए हैं अभी,
तो भी जानने की बात जान गयी तू सभी।
भेद खोल देने से निबारें तुझे कैसे हम?
आप बचने के लिए मारें तुझे कैसे हम?
वैरी की बहिन भी तू स्त्री है, त्राण हो तेरा,
अपने समान हमें क्यों न प्राण हो तेरा?
बाधा है लिखी-बदी-सी हमको अराति की,
रह तू सुरक्षित ही रक्षणीया जाति की।"
"आर्य, शंका मुझसे करें न किसी बात की,
हममें प्रवृत्ति नहीं ऐसे घृण्य घात की।
प्रेम-वैर दोनों हम सीधे साध लेते हैं,
अन्य के करों से निज नाव नहीं खेते हैं।

प्राप्य सहयोग मेरा दुर्योधन के विरुद्ध,
देखें भीम, मैं भी कर सकती हूँ कैसा युद्ध।"
"धन्यवाद, प्रेममयी तेरी यह साधु-बुद्धि,
कर सकते हैं हम आप निज वैरशुद्धि।"
"राक्षसों के तुल्य ही, तुम्हारे पुत्र, देखो अम्ब,
प्रेम में नहीं तो लिये वैर में स्वावलम्ब!
हो हो हो!" हिडिम्बा हँसी, बोली वेग रोक के—
"किन्तु मेरे ये क्षण हैं हास्य के वा शोक के?
कितनी जघन्य हूँगी मैं तुम्हारी दृष्टि में,
हँसती हूँ, भीगती नहीं हूँ अश्रु-वृष्टि में।
अर्द्ध जड़ तुल्य हम जीवन बिताते हैं,
बीत जो गया है उसे शीघ्र भूल जाते हैं।
बैठ जाते लेकर विषाद को भी तुम हो,
गहरी गयी हैं जड़ें जिनकी, वे द्रुम हो।
काँटे कहो, तो भी हम झड़ते हैं फूल-से,
बँधते बहुत नहीं फल से वा मूल से।
फिर भी चिता की बाट जोह रहा भ्राता है,
उससे यहीं तक अभागिनी का नाता है।
हाय! इसमें भी घृणा तुमको न हो कहीं।"
"नहीं नहीं" बोल उठे पाण्डव—"नहीं नहीं।"
मित्र-सम शत्रु का संस्कार किया सबने,
और फिर निर्झर का मार्ग लिया सबने।

तोड़ लिये किसने वे तारे इस बीच में,
फूले मणि-पद्म थे जो कालिमा की कीच में।
"घात कर मानो आप काल काली रात का,
पहन रहा है रक्त धोके पट प्रात का।"
बोल उठी कुन्ती ओस भरती-सी दृष्टि में—
"प्रायः यही घटना घटित लोक-सृष्टि में!"

"उत्स पर मेरा एक कुंज-गुहा-धाम है,
उसमें तुम्हारा तीन दिन का विराम है।

चौथे दिन दर्शन करूँगी वहीं आके मैं
हूँगी कृतकृत्य अभी इतना ही पाके मैं।"
यों कह हिडिम्बा गयी साँस भर गहरी,
वह प्रतिवाक्य के लिए भी नहीं ठहरी।
वन में अदृश्य हुई क्षणदा ज्यों घन में,
दुःख उसके लिए सभी को हुआ मन में।
कुन्ती ने युधिष्ठिर को देखा प्रश्न दृष्टि से,
बोले आर्द्र करते वे माँ को हार्द हृष्टि से—
"आज्ञा जिस तिस की अधीन ज्यों क्यों पालें हम?
ऐसी आर्त्त प्रार्थना परन्तु कैसे टालें हम?
आयी यातु-वंश में हिडिम्बा किसी भूल से,
वैसे सुसंस्कार वह रखती है मूल से।
स्त्री का गुण रूप में है और कुल शील में,
पद्मिनी की पंकजता डूबे किसी झील में।"
स्वमत समर्थन-सा माता पृथा पा गयी,
मानो उन्हें लेने आप पुष्पकरिणी आ गयी।

"आहा! क्या विजन में ही लक्ष्मी का विकास है!"
पार्थ हँसे—"माँ, हमारा आना तब ह्रास है?"
"नहीं नहीं, हम तो उपासक हैं"—बोली माँ।
"सिद्ध न हो यह भी हिडिम्बा कहीं भोली माँ!"
"तेरी यह निश्छल विनोद की ही दृष्टि है,
जंगम ज्यों धोखा नहीं देती जड़ सृष्टि है।"
"तो क्या चेतना ही है ठगाती और ठगती?"
"हाँ, हाँ, अर्द्ध चेतना जो सोती है न जगती।"
"तो दो चार छींटे दे जगाऊँ क्यों न मैं उसे?"
हँस जल जाँचने को भीम उसमें घुसे।
एक पद्म ले उन्होंने माता को चढ़ा दिया,
फिर निज नित्य कृत्य सबने वहाँ किया।

उपवन-सा था वन सघन हरा हरा,
कन्द-मूल और फल फूलों से भरा भरा।

तो भी वहाँ जाते हुए लोग भय खाते थे,
इनके से भूले भटके ही कभी आते थे।
चिकनी चट्टानें थीं, चटाइयाँ थीं कुंजों में,
ज्योतिर्मयी ओषधियाँ दीखी लता-पुंजों में।
भीम बोले—"तीन दिन छुट्टी मना लूँगा मैं।
मृगया को वन का विनोद बना लूँगा मैं।"
"मैं यहाँ की मिट्टी से सुवर्ण ही बनाऊँगी।
खींच कुछ रेखाएँ गुहा में छोड़ जाऊँगी।
सृजती प्रकृति और पुरुष सजाता है,
यद्यपि कला-कृति प्रकृति से ही पाता है।
मेरा बोझ बाँट लेंगी मेरी प्रतिकृतियाँ।
जायँ हम, आयँगी हमारी यहाँ स्मृतियाँ।
"नकुल समीक्षक रहा माँ खरे-खोटे का।"
"तात, यह कार्य मुझे लाभ, तुझे टोटे का!"

बह गये तीन दिन एक ही लहर में,
चौथे दिन आयी वह तीसरे पहर में।
रूप तो वही था, अनलंकृत-सा वेश था।
निश्चय में उसके द्विधा का कहाँ लेश था।
जूझना पड़ा था इस बीच उसे मन से,
इससे थकी-सी दीखती थी वह तन से।
खिसकी खुली-सी जा रही थीं कुछ अलकें,
सँभल न पा रही थीं भारी भरी पलकें।
करके सभी को नमस्कार जय जय से,
कुन्ती के समीप जा झुकी वह विनय से।
"अम्ब, आ गयी मैं सब बन्धनों को तोड़के,
जैसे नदी जाय निज जन्म भूमि छोड़के!"
कुन्ती ने असीसा उसे—"तुझमें सुरुचि हो,
तन से भी मन से भी तू सदैव शुचि हो।"
"हम में अशौच भी माँ, आके नहीं रहता,
मरे मरे बन्धन भी नर ही है सहता।
कोरा कर्म-काण्ड-जाल जकड़े है जन को,
शुक्र पकड़े, है शनि धकड़े हैं जन को!"

"तो भी धरा-बाँधा नहीं रहता मनुज है।"
"मैंने सुना अम्ब, वह वायु का तनुज है!"
कहके हिडिम्बा हँसी और कुन्ती सुनके,
चौंक के चमक उठे चारों नेत्र उनके।
"पग न उठाया और शंका उठी हाय हाय,
कैसे चले यात्रा, एक पंछी यदि रोक जाय।
होगा क्या मुहूर्त्त लगी आग भी बुझाने का?
आयी यह भद्रा, अब काम कहाँ जाने का?"
"इच्छा किसे होगी तुझे छोड़ कहीं जाने की,
भद्रे, किन्तु सुविधा कहाँ है रह पाने की?"
"आर्ये, मैं स्वयं भी संग चलने को आई हूँ,
हार दासी होकर भी क्या मैं मन भाई हूँ?"
"मानिनि, तुझे क्या यह कहना है सोहता?
तेरा दृप्त भाव ही मुझे है बड़ा मोहता।"
"मानती हूँ, मुझमें अभाव है सहन का,
दोष यह क्षम्य हो हिडिम्ब की बहन का।
नागर नहीं हैं हम, जन्म से ही वन्य हैं!"
"किन्तु वे भी आरण्यक हममें जो धन्य हैं।
श्रेष्ठ गुण और शील दोनों आत्मजन्य हैं,
अन्यों से अमान्यता ही पाते अहंमन्य हैं।"
"तो मैं अब सुन लूँ, क्या आज्ञा मुझे होती है?
जाग फिर जीवित की कामना क्या सोती है?"
निज मुख नीचा कर बोली उससे पृथा—
"पुण्यजने, तू यों कष्ट करती है क्यों वृथा?"
"पुण्यजना पापमना क्या हूँ, नहीं जानती,
पुण्यपाप दोनों को सहैतुक मैं मानती।
कुछ भी सही मैं, किन्तु मेरे भी हृदय है,
औरों का नहीं तो मुझे अपना ही भय है।
न्याय से उन्हीं पर न भार मेरा सारा है,
रक्षक जिन्होंने एक मात्र मेरा मारा है।
सोदर के वैर-हेतु मैं भी जूझ सकती,
किन्तु कुछ और भी समझ-बूझ सकती।
वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं, प्रेम है,
और इस विश्व का इसी में छिपा क्षेम है।

उठ चली जाति-तिरस्कार-भयहीन मैं,
आप अहम्भाव कर बैठी हूँ विलीन मैं।
तो भी नहीं चाहती हूँ भव में मैं मरना,
जीवन का भाग निज भोग मुझे करना।''
''किन्तु हम मानव हैं और तुम—'' ''राक्षसी?''
बोली ओंठ काट वह और भी कसी कसी।—
''यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृतकार्यता।
और, राक्षसी भी क्या असुन्दरी मैं वैसी हूँ?
सम्मुख उपस्थित हूँ, खोटी खरी जैसी हूँ।''
''कृत्रिम।'' ''तो खोल दूँ यथार्थ की भी गठरी?
अम्ब, है अकृत्रिम तो हड्डियों की ठठरी!
कर - पद - अधर - कपोल - नख रँगना
इष्ट नुपूरों के संग कांची हार कँगना?
नथ-तरकी ही तो अकृत्रिमता लाती है,
जब वह नाक-कान दोनों कटवाती है!''
''सीधे कटवाती, छिदवा के नहीं छोड़ती?
भाव की भृकुटि यों ही भाषा को मरोड़ती।''
''शब्द ज्ञान मुझको नहीं है, क्षमा कीजिए,
भूल भाषा-भंगी अर्थ-भाव को ही लीजिए।''
''शब्दज्ञान—कोरा, क्यों न? आहा! इतनी कला,
अच्छा, यह अर्थ तूने पाया है कहाँ भला?''
''आँख-कान थे, जो जहाँ देखा और जो सुना,
निर्जन में मैंने मन ही मन उसे गुना।
भाई था, परन्तु कहाँ मन की सहेली थी,
आप अपने में उलझी-सी मैं अकेली थी।
और क्या हो, कोई जो न पागल हो ऐसे में,
रहना तो था ही, रही जैसे बना, जैसे में।
ताका करती हूँ बड़ी रात तक तारों को,
गूँथा करती हूँ पड़ी विविध विचारों को।
रखती विरक्ति ही मैं उत्सवों में, भोजों में,
आती नहीं सौ सौ ज्ञाति-युवकों की खोजों में!
खोजती हूँ मैं क्या, नहीं जानती, क्या खो गया
तो भी यह बोध मुझे मानो स्वयं हो गया—

जन की सहानुभूति ज्यों ज्यों व्याप्त होती है,
त्यों त्यों एक द्रवता-सी प्राप्त उसे होती है।
प्रायः यहीं बैठती हूँ भूल के विचरना,
सोचती हूँ, होती कहीं मैं भी एक झरना!
आँखें किन्तु दो ही चार बूँदें गिरा पाती हैं,
फिर पथरा के कहाँ दृष्टि फिरा पाती हैं।
देखती हूँ मात्स्यन्याय, न्याय है सो ठीक है,
फिर भी क्या जीवन की एक यही लीक है?"
"होते हैं विचित्र ही विचारक बड़े बड़े,
छोटे प्रश्न लेके बड़े करते हैं जो खड़े।"
"उठते विचार ही परन्तु नहीं मन में,
सहज विकार भी तो जागते हैं जन में।
निभने की उनसे गृहस्थता ही युक्ति है,
मुक्ति की ही ओर पहुँचाती यह भुक्ति है।
रूप-रंजना भी कहाँ एक सी है सबकी,
होती तो विचित्रता विलीन होती कब की।
लोक रुचि भिन्न है, स्वभाव भिन्न होता,
जिससे प्रसन्न एक, अन्य खिन्न होता है।
किन्तु रूपाधार तनु जर्जर है आप ही,
मन जो न हो तो तनु-यौवन है ताप ही।
सृष्टि मात्र कल्पना है सत्यता है नग्न-सी!"
सहसा हिडिम्बा हँसी, कुन्ती थी निमग्न-सी।
बोली राक्षसी ही—"नहीं मुक्त कोई माया से,
कर्म से तुम्हारे भीम भीम, हम काया से।
अम्ब, कुछ विमना-सी है तुम्हारी धृति क्या?
आयी है तुम्हें भी अहा! शूर्पणखा-स्मृति क्या?"
"राम राम! यह सुन होता मुझे खेद है,
तू कहाँ है, वह कहाँ, कितना प्रभेद है।"
"देवि, दे रही हो तुम मुझको बड़ाई क्या!
किन्तु जो चली गयी है उससे लड़ाई क्या?"
"कहती है ठीक ही तू, बीत गया युग है,
बहुधा अतीत आप आता उग उग है!
काम ही था उसमें, न होता अन्त में क्यों क्रोध?
तुझमें है संग संग मसृण ममत्व-बोध।"

"मैं अनुगृहीत हुई, जाना मुझे तुमने,
क्यों न हो, उदार हो, बखाना मुझे तुमने।
धर्म है हमारा भी, हमें है वह धारता
गुण है कठोरता भी, यदि सुकुमारता।
चाहे नाम क्रव्य मिला रूप छल का हमें,
रहता भरोसा निज बाहुबल का हमें
दुर्बल बनाती नहीं हमको दया-मया,
तो भी हार्द भाव हममें भी है नया नया।
गुण क्या तुम्हीं में हैं, हमी में सब दोष हैं;
कौन कहे, किसमें अधिक राग-रोष हैं।
मोह, मद और लोभ अल्पाधिक सबमें,
बैठ किन्तु एक शुभ काक-पिक सबमें।
भक्ष्य जो हमें है, वह क्या तुम्हें अभक्ष्य है?
नर तो अधिकतर नर से ही रक्ष्य है!
डर अपनों से है तुम्हें भी आज पर-सा,
हिंस्र जन्तुओं का वन बन गया घर-सा!
साधु सूक्ष्म भोजी नर प्राण छाँट लेता है,
गीधों को शृगालों को शरीर बाँट देता है!
जान पड़ता है मुझे, आज यदि पा जावे,
तो क्या तुम्हें दुर्योधन कच्चा ही न खा जावे।
भीम भी रहें क्यों रक्त उसका पिये बिना,
कौन जीते कौन जिये हमको लिये बिना?"
"बेटी, मैं सुनूँगी सब, जो कुछ कहेगी तू,
किन्तु यह मेरी एक बात क्या सहेगी तू—
होगा इस विश्व का विकास जो भी, जब भी,
नर से ही होगा वह, जैसा हुआ अब भी।
आते हैं चढ़ाव से उतार तथा आवेंगे
तो भी हम लोग सदा बढ़ते ही जावेंगे।
यात्रा पूर्ण होगी कहाँ, कब, किस वेला में,
खोया स्वयं सत्य उस कल्पना की खेला में!"
"किन्तु वह बढ़ना क्या होगा हमें छोड़के?
योग देना चाहती हूँ मैं सम्बन्ध जोड़के।
मैंने आत्म-अर्पण किया है इसी लोभ से,
कैसे कहूँ, किन्तु मेरा व्यंग्य नहीं क्षोभ से।

ईर्ष्या-दम्भ भी तो करता है नर संग संग,
अन्त में न भंग कर बैठे अपने ही अंग!
पाता रहे जैसे हो प्रबोध बीच बीच में,
जिसमें फँसे न घृणा-कल्मष की कीच में।
क्षुद्र दल बाँध वह बैठा बँट बँट के,
ठूँठ ऐसा एकाकी रहे न कट-छँट के।
तुच्छ तन में भी महत्प्राण रह सकता,
किन्तु उसे छोड़ जन तन ही है तकता।
शृंग भी मृगों के सिर रंग बरसाते हैं,
वे हमारे मत्थे तो कभी ही कहीं आते हैं।
तो भी जो नरों से हैं नरों का भेद करते,
वे क्या नहीं मिथ्या दर्प में ही पड़े मरते।
प्राणि मात्र सहज प्रवृत्तियों में एक से,
राक्षस भी चलते हैं अपने विवेक से।
निर्भय वे मारते हैं निर्भय हैं मरते,
किन्तु अपनों की लूट-मार नहीं करते।
रखते तुम्हीं क्या, नहीं हम कुछ देने को?
प्रस्तुत कृतज्ञता के साथ कौन लेने को?
हीनता-सी मान दोनों हीन रह जाते हैं,
अपने ही अपने में लीन रह जाते हैं।
एक नयी सृष्टि हम चाहें तो यहाँ रचें,
तुम पचो हममें वा हम तुममें पचें!
माना हम बैठ दैव दैव नहीं जपते,
तो भी क्या कठोरतम तप नहीं तपते?
होते सभी रावण न राम हम-तुम में,
काँटों में कुसुम और काँटे हैं कुसुम में।
लंका गयी, अन्त में अयोध्या भी गयी कभी,
दोनों का समन्वय तो शेष है यहाँ अभी।
यत्न दोनों ओर से न हो जो इसके लिए,
तो जन जियेगा वा मरेगा किसके लिए?
भाग्य यही, भूतल अभिन्न हम दोनों का,
एक स्रष्टा-द्रष्टा और एक यम दोनों का।
एक विभु वरद तुम्हारा सो हमारा है,
शतधा विभिन्न हुई एक मूल धारा है।

तुम भी डरावने-से बनते हो डाह में,
हम भी सुचारु रूप रखते हैं चाह में।
तुम हमें घृण्य, हम तुच्छ तुम्हें मानते,
एक दूसरे को ठीक दोनों नहीं जानते।
वस्तुतः परस्पर सहन में ही गति है,
मचली इसी के लिए आज मेरी मति है।
होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूँ,
जन्म से मैं जो भी रहूँ, जाति से तुम्हारी हूँ।
कर सकती हो अविश्वास कैसे मेरा तुम?
तोड़ दिया मैंने अम्ब, छोड़ो क्षुद्र घेरा तुम।
भार नहीं हूँगी मैं तुम्हारे भीम के लिए,
विचरूँगी व्योम में भी उनको लिये-दिये।
निश्चित समय जहाँ आया लौट आऊँगी,
केवल उन्हें ही तुम्हें सौंप नहीं जाऊँगी।
और एक जन को भी, जिसको जनूँगी मैं,
और फिर मर के भी अमर बनूँगी मैं।
पुत्रों के तुम्हारे वह पौत्र काम आवेगा,
और आगे मेरी भावनाओं को बढ़ावेगा।''
''मान लो, परन्तु भीम प्रत्याख्यान कर दे,
भंग यह सारा स्वप्न और ध्यान कर दे?''
''तब भी मैं पतित न हूँगी किसी पाप से,
उजल उठूँगी शुचिस्नेह के प्रताप से!
निष्फल भी सच्चा प्रेम त्यक्त कहाँ होता है?''
''तीर्थ ही बनाता वह, व्यक्त जहाँ होता है।''
''असुरों से नाता नहीं जोड़ते क्या सुर भी?
पूर्ण है पुलोमजा से इन्द्र-अन्तःपुर भी।
और यदि शर्मिष्ठा तुम्हारी पुरखिन है,
तो तुम्हें हिडिम्बा को निभाना क्या कठिन है?''

०

कुन्ती ने विचार कर पूछा युधिष्ठिर से,
देखा एक बार भली भाँति उसे फिर से।
''तुझ-सी बहू भी मुझे सहज मिली अहा!
पूर्ण काम हो तू'' यों उन्होंने उससे कहा।

हाथ उसका तो नहीं भीम को धरा दिया
भीम का ही पाणि उसे ग्रहण करा दिया!
''भौजी, अनुमोदन अवश्य तुम्हें दूँगा मैं,
किन्तु इतरों-सा निज मिष्ट नहीं लूँगा मैं!''
सुन यों नकुल से हँसे सब हिडिम्बा संग,—
''मीठे पर आये भला लौने ये लला के ढंग!''

प्रदक्षिणा

जननी (काशीबाई) की

स्मृति में

श्रद्धांजलि

राम जन्म के दिन हुई तू निज प्रभु-पद-लीन;
तेरी स्मृति के अंक में हूँ मैं अब आसीन।
होकर तू गृह-स्वामिनी रही सेविका-तुल्य,
थका नहीं पाया तुझे बाई, श्रम-बाहुल्य।
रामचरित को छोड़ कुछ पढ़ा न तूने और,
तेरे श्रद्धा-धाम में लिखा सभी का ठौर।
मधुर हमें तूने दिया, लिया अम्ल अविवाद,
भूले तेरे व्रत विविध अब भी याद प्रसाद।
अब भी यह अभ्रान्त देख रहा हूँ मैं यहाँ—
पूजन के उपरान्त तू दे रही प्रदक्षिणा!

जात—मैथिलीशरण

दीपावली 2007 वि.

'साकेत' प्रकाशित होने के पश्चात् थोड़े प्रयास से अपने प्रभु की प्रदक्षिणा का यह अवसर मुझे मिल गया था। परन्तु इसके प्रकटीकरण में बरसों का विलम्ब हुआ। फिर भी आशा है, मेरे पाठक इसमें मेरा साथ देंगे।

—मैथिलीशरण

चिरगाँव
2007 विक्रमाब्द

श्रीगणेशाय नमः

प्रदक्षिणा

एकाकी रह सका न जिनका
मातृगर्भ में भी अनुराग,
अनुज-हेतु अवकाश वहाँ भी
देकर दमका जिनका त्याग;
स्वयं राम ने चन्द्र छोड़कर
जोड़ा जिनका लक्ष्मण नाम;
उन सौमित्रि इन्द्रजित-जेता
दृढ़चेता को प्रथम प्रणाम।
धन्य अयोध्या के आँगन में
उतर पड़े करके मृदु मन्द्र,
वर्षा के दो दो वर वारिद,
और शरद के दो दो चन्द्र!
हरा-भरा हो गया धरातल
फैला चारों ओर प्रकाश,
ताप और तम के विकास का
बिना प्रयास हो गया नाश।
राम-सदृश थे भरत साँवले
गोरे लक्ष्मण-सम शत्रुघ्न,
तदपि राम के क्रम लक्ष्मण थे
और भरत के क्रम शत्रुघ्न।
युग के युग वे चार युगों में
दुर्लभ चारों फल-दाता,

जयति अष्टभुज एक प्राण वे
अष्ट-मंगलों के त्राता।
कौशल्या के रामचन्द्र थे,
कैकेयी के भरत सुनाम,
और सुमित्रा जननी के थे
सुत लक्ष्मण-शत्रुघ्न ललाम।
सब प्रकार से सफल काम था,
कृती पिता दशरथ का धाम,
चारों धामों की यात्रा को
मिला अयोध्या में विश्राम।
धर्म-हेतु अवतीर्ण हुए प्रभु,
मुनियों ने यह जाना था,
नर-रूपी निज परमेश्वर को
पहले ही पहचाना था।
इसीलिए माँगा राघव को,
कौशिक ने मख-रक्षा हेतु,
निरख भरत-शत्रुघ्न-ओर तब
मुसकाए लक्ष्मण कुल-केतु।
देख राम का इधर नवल वय,
उधर राक्षसों का बल सोच,
वृद्ध पिता दशरथ को उनको
देते हुए हुआ संकोच।
पर वंशज उन हरिश्चन्द्र के,
बिके धर्म पर थे जो आप,
नाहीं कर सकते वे कैसे
न्याय-निरत, निश्छल-निष्पाप।
मुनियों के तप के प्रभाव का
होने से मन में विश्वास,
माताओं ने धीरज बाँधा
लेकर एक दीर्घ निःश्वास।
मुनि ने उनके वीर-सुतों को
समझ सुभाजन शील-निधान,
दिया आप उपहार-रूप में
बला और अतिबला-विधान।

तम की कल्पित विभीषिका-सी
मिली ताड़का जब वन में,
प्रबला होकर भी अबला है,
सोचा नरहरि ने मन में;
तब तक बोल उठे मुनि—"मारो,
निस्संकोच इसे हे तात,
अधम-आततायी जो भी हो
समुचित है उसका अभिघात।"
"मुझे आत्म-रक्षा के पहले
है स्वदेश-रक्षा कर्त्तव्य"—
कहते कहते उस पर प्रभु ने
छोड़ी विशिख-शिखा निज नव्य।
क्रव्यादों की प्रथम शक्ति का
किया उन्होंने यों संहार,
राक्षस-वक्ष विदीर्ण हुआ वा
खुला आर्य-जय का यह द्वार।
सकुशल सिद्ध हुआ मख मुनि का
राम-लखन के रक्षण में,
बने वहाँ उसके बलिपशु-से
राक्षस-गण सम्मुख रण में।
कहा राम ने—"मेरे शर से
उड़ा दूर चाहे मारीच,
किन्तु धन्य लक्ष्मण, बच तुमसे
जा न सका कोई भी नीच!"
दिया निमन्त्रण मिथिलाधिप ने
मुनि को सुता-स्वयंवर का,
समझा उसे राम-लक्ष्मण-सह
लाभ उन्होंने अवसर का।
वन-जनपद नद-नदी पार कर
नये नये बहु दृश्य निहार,
पहुँचे तीनों जनकपुरी में,
मूर्तिमन्त था जहाँ विहार!
प्रभु परितुष्ट हुए थे पथ में
गौतम की गृहिणी को तार;

लिया जनक नृप ने आदर से,
किया उचित स्वागत-सत्कार।
दिया उन्हें सबसे उच्चासन,
हुए वहाँ तीनों आसीन,
देश देश के भूप जहाँ थे
बैठे एक लक्ष्य में लीन!
भिन्न भिन्न भूषा से भूषित,
वहाँ उपस्थित था नर-रूप,
पर सीता पाने की आशा
कर न सका कोई भी भूप।
मध्य भाग में कुटिल भाग्य-सा
रक्खा था हर का कोदण्ड,
कोई भी भट उठा न पाया
करता क्या उसके दो खण्ड।
प्रभु अवतरित अयोध्या में थे,
जनकपुरी में उनकी शक्ति,
जहाँ भक्ति होती भूपों को,
हुई वहाँ उलटी आसक्ति!
दुर्बल पड़ा जहाँ जन का मन
तनु-बल क्या कर सकता है,
तकता लक्ष ललकता है वह,
फिर फिर थकता-छकता है।
कहा जनक ने—"जिसे सहज ही
सीता ने था उठा लिया,
उसे तोड़ने वाले को था
मैंने कन्यादान किया।
किन्तु डिगा तक सका न कोई
यह कैसी लज्जा की बात?
वीर-विहीन हो गयी वसुधा
आज हो गया मुझको ज्ञात।
रहे कुमारी ही वैदेही,
लौट जायँ सब पृथ्वीपाल;
जान लिया मैंने, जगती में
नहीं कहीं माई का लाल!"

लक्ष्मण सह न सके यह कहना
फड़के भुज ज्यों भीम भुजंग,
चढ़ीं भृकुटियाँ प्रकटित करके
कि यों चाप चढ़ होगा भंग।
"क्या कहते हैं ये मिथिलेश्वर,
आर्य, इसे सुनते हैं आप?
मैं सुन सकता नहीं तनिक भी,
क्या है यह चूर्णित-सा चाप।
स्वयं कलभ-सा इक्षु-दण्ड सम,
इसको जान चुका हूँ मैं,
किन्तु जानकी को पहले ही
आर्या मान चुका हूँ मैं।
उठिए, सभी सरस श्यामल घन
इन्द्रधनुष से अंकित हो,
नीरव उत्तर पाकर नृप का
अस्थिर हृदय अशंकित हो।"
सचमुच तत्क्षण हुआ राम में,
उसी रूप-रस का परिपाक,
किन्तु चढ़ाया जहाँ उन्होंने
टूट गया वह प्रबल पिनाक।
मोद - पयोदधि में विदेह का
डूबा भय - विस्मय - सन्देह,
अतुल यशःश्री-सी सीता ने
डाली जय-माला सस्नेह।
विघ्नों के ही बीच सफलता
रहती है शुभ कर्मों में,
पहुँचे परशुराम मुनि सहसा,
जो प्रवीण युग धर्मों में।
"मैं वह परशुराम हूँ, जिसने,
किया क्षत्रियों का संहार।"
बोले झट सौमित्रि—"राम ने
लिया नहीं था तब अवतार।
द्विज दयनीय! शान्त हो, सोचो,
रहने दो यह निष्फल रोष,

तुम अपने उस प्रिय पिनाक का
प्रभु के मत्थे मढ़ो न दोष।''
सुना न कुछ भी परशुराम ने,
उनका ऐसा क्रोध बढ़ा;
बोले वे प्रभु से—''ले, तू यह
मेरा वैष्णव चाप चढ़ा।''
हँसकर उसे ले लिया प्रभु ने,
निज धन्वा ही था वह तो,
''मुनिवर, इसका गुण अमोघ है,
ज्ञात तुम्हें भी है यह तो!''
पड़ता है महानुभावों का
पल भर में ही परम प्रभाव,
भार्गव का वह भाव कहाँ था,
हुआ और ही उनका हाव।
प्रभु के संग हार भी अपनी
जीत उन्होंने तब मानी,
और स्वर्ग से भी विशेष निज
तीर्थाटन की गति जानी।
तब विजयोत्सव-सा विवाह वह
मिले अयोध्या-मिथिला धाम,
इधर चार बहनें थीं सीता,
उधर चार भाई थे राम।
हुई माण्डवी भरत-संगिनी,
लक्ष्मण की ऊर्मिला बनी,
और वहाँ श्रुतिकीर्ति-लाभ कर
धन्य हुए शत्रुघ्न धनी।
जन्म सफल समझा दशरथ ने,
मरण उन्हें मंगलमय था,
किन्तु शाप-वश पुत्र-विरह का,
मन ही मन दारुण भय था।
भरत गये ननिहाल, उन्होंने
यही विरह मंगल माना,
सौंप राज्य का भार राम को,
चाहा सुख से बन जाना।

पर भवितव्य! केकयी को थे
दिये उन्होंने वचन सहर्ष,
माँगा उसने—"भरत भूप हों,
रहें राम वन चौदह वर्ष!"
दिये नृपति ने प्राण अन्त में
पर निज वचन नहीं टाला,
सुख से बढ़कर मान दुःख को
तात-सत्य प्रभु ने पाला।
सह न सके सौमित्रि शूर पर
मझली माँ की यह दुर्नीति,
गरज उठे—लक्ष्मण के रहते
हो न सकेगी यह अनरीति।
आर्य, बैठिए सिंहासन पर
देखूँ बाधक कौन यहाँ?
"छोड़ सहज अधिकार आप ही
जाते हैं ये आप कहाँ?"
"माँ के लिए छोड़ सकता हूँ
मैं ये प्राण, रहे अधिकार।"
"किन्तु आर्य वह कैसी माँ, जो
करे डाकिनी का व्यवहार?"
"लक्ष्मण, शान्त, शान्त हो भाई,
प्रेम नहीं विनिमय-व्यापार!
वे भी तुमसे कह सकती हैं—
'पुत्र नहीं तुम अरि अनुदार।'
भाई, अहोभाग्य यह मेरा,
करो न तुम कुछ भी अनुताप।"
"हाय आर्य! उद्योग छोड़कर
हुए भाग्यवादी क्या आप?"
"वह अदृष्ट परिपाक मात्र है
अपने क्रिया-कलापों का।"
"तो क्या आर्य मानते हैं हा!
फल यह पिछले पापों का?"
"नहीं नहीं, पापों का कैसे
यह है पुण्यों का परिणाम,

वार रहा है जिसके ऊपर
राम सहर्ष धरा-धन-धाम।"
"लक्ष्मण तर्क नहीं कर सकता,
पर यह अनुचित लगता है।"
प्रभु हँस बोले—"तुमको मेरा
पक्षपात ही ठगता है।"
रहें क्षत्रियाणी, फिर भी थी
कौसल्या सरला जननी—
"बनें राजमाता कैकेयी,
न मुझ प्रजा की हों हननी।
मेरी आत्म-विभूति चली यह,
तू अनुभूति, रही क्यों आज?"
पर अनुभूति-संग आशा थी—
लौट मिलेंगे फिर रघुराज।
पूज्य पिता के सहज सत्य पर
वार सुधाम-धरा-धन को,
चले राम, सीता भी उनके
पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे,
कहा राम ने कि "तुम कहाँ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—
"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ।"
सीता बोलीं कि "ये पिता की
आज्ञा से सब छोड़ चले,
पर देवर, तुम त्यागी बनकर
क्यों घर से मुँह मोड़ चले?"
उत्तर मिला कि "आर्ये बरबस
बना न दो मुझको त्यागी,
आर्य-चरण-सेवा में समझो
मुझको भी अपना भागी!"
"क्या कर्तव्य यही है भाई?"
लक्ष्मण ने सिर झुका लिया—
"आर्य आपके प्रति इस जन ने
कब कब क्या कर्त्तव्य किया?"

"प्यार किया है तुमने केवल!"
यह कह सीता मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखें
सफल सीप-सी भर आईं।
कहा ऊर्मिला से सीता ने—
"बहन, विरह सह लेगी तू?
मैं न रह सकी जिस ज्वाला में
क्या उसमें रह लेगी तू?"
"जीजी, अन्य कौन गति मेरी
रह-सह सकूँ, यही वर दो,
चरणों पर माथा रखती हूँ,
इस पर तुम निज कर धर दो।
दे न सका संसार हमें कुछ,
हमीं उसे कुछ दे जावें,
यहाँ विकल रहने से अच्छा
वहाँ स्वस्थ वे रह पावें!"
गद्गद होकर वैदेही ने
उसे भेटकर यही कहा—
"हाय ऊर्मिले! मेरे सुख में
यही एक चिर दुःख रहा।"
भरी सुमित्रा माता ने कुल-
शील-हानि कैकेयी की,
मानो प्रकटी प्रथम उन्हीं में
अनुग्लानि कैकेयी की!
पुत्र-विरह के साथ उन्हें नव
पुत्र-वधू की व्यथा मिली,
किन्तु लोक को एक अनोखी
कुल कल्याणी कथा मिली।
"जहाँ राम राजा हम सबके
वहीं रहेंगे हम सब भी।
बार बार समझाया प्रभु ने
पीछे चली प्रजा तब भी।
वंचित करके ही लोगों को
जाना पड़ा उन्हें वन को,

समझाते हैं आप अन्त में,
अवश मनुज अपने मन को।
वृद्ध पिता को क्या आशा थी!
हुए प्राण तक उनको त्याज्य,
और भरत के तो मानो थे
स्वयं राम ही सच्चे राज्य।
फिर भी रोक सका क्या प्रभु को
घर - बाहर का हाहाकार?
उन्हें खींच लाया था अपनी
पुण्य भूमि का भीषण भार।
गये राम पितृ-मरण पूर्व ही
मिलीं मार्ग में जह्नुसुता,
आड़ी पड़कर लगीं रोकने,
वे वात्सल्य - तरंग - युता।
वीर परन्तु विपद के भय से
पीछे पद रखते हैं क्या?
धीर धुरन्धर कभी मोह के
मादक फल चखते हैं क्या?
नाविक गुह ने धो लेने को
जैसे ही प्रभु-चरण छुआ,
विमल हुआ वह तुलसीदल-सा
कल गंगाजल अमृत हुआ!
मुनियों का आतिथ्य लाभ कर
देख विविध वन-दृश्य नये,
तीर्थराज में बस तीनों जन
चित्रकूट में पहुँच गये।

भ्रातृ तथा पितृ-हीन भवन में
आकर भरत न रह पाये,
अग्रज के अनुवर्ती बनकर
चित्रकूट दौड़े आये।

उनका दल-बल देख दूर से
लक्ष्मण को सन्देह हुआ,
बन भी उनका लक्ष्य बना क्या,
उन्हें यथेष्ट न गेह हुआ?
किन्तु भरत ने आकर सहसा
जब प्रभु के पद पकड़ लिये,
और अंक में भर लक्ष्मण के
अंग प्रेम से जकड़ लिये;
हुए गर्व से स्फीतहृदय वे
बोल उठे—"ऐसा ही हो;
पुरुषों में पितृपक्ष प्रबल है
मातृपक्ष कैसा ही हो!"
कहा भरत ने कातर होकर—
"किस मुँह से यह बात कहूँ,
आर्य पिता के वचन न पालें
पर मैं क्योंकर रहूँ-सहूँ?
मुझे मारने को अपयश से
जननी ने है जन्म दिया,
ऐसा ही करना था विधि को
तो क्यों प्रभु का अनुज किया?"
प्रभु बोले—"यह इष्ट मुझे था
मेरे भरत अधीर न हो,
बाधाओं के आगे तनकर
विजयी बनकर वीर रहो।"[*]
"सुना, भक्त के लिए स्वयं निज
नियम नहीं रखते भगवान,
मैं कैसे निज भक्ति दिखाऊँ?"
"अपने प्रभु की आज्ञा मान।"
हँसकर उत्तर दिया राम ने
और अंक में उन्हें भरा,
"तुम अनन्य नागर हो मेरे
मैं वन में ही आज हरा।
सुखी जनों के दुःख शेष हैं,
दुःखित ही सुख-भागी हैं,

अपना एक धर्म रख धार्मिक
प्राणों तक के त्यागी हैं।
यदि अपकीर्ति मृत्यु-सम है, तो
अकर्त्तव्य उससे भी घोर;
भूल मुझे भी अपने को भी,
देखो तात प्रजा की ओर।
साधु भरत का अग्रज हूँ मैं,
यही राम का परिचय हो,
इससे अधिक लोक-जीवन में
भरत, तुम्हारी क्या जय हो।''
''मिलें पादुकाएँ तब मुझको
जिनके बल से जी जाऊँ,
चौदह कल्पों की मैं अपनी
अवधि किसी विध भर पाऊँ।''
''भाई रे! तूने भाई के
लिए नहीं कुछ भी छोड़ा!''
कहते कहते सजल हुए प्रभु
देखा सबने वह जोड़ा।
लक्ष्मण ने तब कहा—''भुवन में
तुम्हीं भरत भैया हो धन्य,
ईर्ष्या होती मुझे कहीं जो
इतना गौरव पाता अन्य।''
सबसे मिले जुले फिर राघव
समयोचित बातें कहकर,
देखा सबने, निकट और भी
वे आ गये दूर रहकर।
प्रभु ने अस्थिर पौरजनों को
प्रिय वचनों से स्थैर्य दिया,
स्वयं पिता के लिए शोक कर
माताओं को धैर्य दिया।
वहीं प्रतिष्ठित किया भरत ने
जो अभिषेक सलिल था संग,
चित्रकूट के पुण्य तोय में
सब तीर्थों की उठी तरंग।

मिले ऊर्मिला से जब लक्ष्मण
कहा उन्होंने बस इतना–
"प्रिये, नहीं कह सकता हूँ मैं,
है सन्तोष मुझे जितना।
वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।"
प्रिय के मुख मण्डल पर थी जो
उच्च ऊर्मिला दृष्टि अड़ी,
वह नीची होकर लक्ष्मण के
पैरों पर तत्काल पड़ी।
"हा स्वामी, कहना था क्या क्या,
कह न सकी कर्मों का दोष,
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो
मुझे उसी में है सन्तोष।"
करके विदा भरत को प्रभु भी
चित्रकूट से विदा हुए,
वैदेही ने मातृ रूपिणी
अनसूया के चरण छुए।
दण्डक वन में जाकर प्रभु ने
लिया धर्म रक्षा का भार,
जहाँ शान्त ऋषि-मुनियों पर थे
राक्षस करते अत्याचार।
बाधक हुआ विराध मार्ग में
झपटा देवी पर पाषण्ड,
जीता हुआ गाड़ देना ही
था उसका मुँह माँगा दण्ड।
गोदावरी-तीर पर प्रभु ने
पंचवटी में वास किया,
उच्च आर्य संस्कृति ने अपना
वहाँ अबाध विकास किया।
राक्षसता उनको निहारकर
थी लज्जा से लोहित-सी,

शूर्पणखा रावण की भगिनी
आयी वहाँ विमोहित-सी।
छल न सकी वह आततायिनी
हुआ सभी रस-रूप विवर्ण,
सीता को खाने आयी, पर
गयी कटाकर नासा-कर्ण।
इसके आगे प्रभु-कुटीर पर
घिरी युद्ध की घोर घटा,
निशाचरों का गर्जन-तर्जन
शस्त्रों की वह तडिच्छटा।
रामचन्द्र ने इन्द्रधनुष-सा,
चाप चढ़ाकर छोड़े बाण,
रहा राक्षसों के शोणित की
वर्षा का फिर क्या परिणाम।
निज संस्कृति-समान सीता का
रक्षण लक्ष्मण करते थे,
और प्रहरणों से प्रभुवर के
रण में रिपुगण मरते थे।
बहु संख्यक भी वैरि-जनों में
उन गतियों से खेले वे,
दीख पड़े सबको अनेक-से
होकर आप अकेले वे।
दूषण को सह सकते कैसे
स्वयं सगुण - धन्वा - धारी,
खर था खर, पर उनके शर थे
प्रखर पराक्रम - विस्तारी।
व्रण-भूषण पाकर विजयश्री
उन विनीत में व्यक्त हुई,
निकल गये सारे कण्टक-से
व्यथा आप ही त्यक्त हुई।
जय जयकार किया मुनियों ने
दस्यु-राज यों ध्वस्त हुआ,
आर्य-सभ्यता हुई अधिष्ठित
आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ।

हरी हरी वन-धरा रुधिर से
लाल हुई हलकी होकर,
शूर्पणखा लंका में पहुँची
रावण से बोली रोकर—
"देखो, दो तापस मनुजों ने
यह क्या गति की है मेरी,
उनके साथ एक रमणी है
रति भी हो जिसकी चेरी।
भरत-खण्ड के दण्डक वन में
वे दो धन्वी रहते हैं,
स्वयं पुनीत नहीं पावन वन
हमें पतित जन कहते हैं।"
शूर्पणखा की बातें सुनकर
क्षुब्ध हुआ रावण मानी;
वैर-शुद्धि के मिष उस खल ने
सीता हरने की ठानी।
तब मारीच निशाचर से वह
पहले कपट मन्त्र करके,
उसे साथ ले दण्डक वन में
आया साधु-वेश धर के।
हेम-हरिण बन गया वहाँ पर
आकर मायावी मारीच,
श्रीसीता के सम्मुख जाकर
लगा लुभाने उनको नीच।
मर्म समझ हँसकर प्रभु बोले—
"सब सुचर्म पर मरते हैं,
प्रिये, मार हम इसे तुम्हारी
इच्छा पूरी करते हैं।
भाई सावधान!"—यह कहकर
और धनुष पर रखकर बाण,
उस कुरंग के पीछे प्रभु ने
क्रीड़ा-पूर्वक किया प्रयाण।
अरुण-रूप उस तरुण हरिण की
देख किरण-गति, ग्रीवा-भंग,

सकरुण नरहरि राम रंग से
गये दूर तक उसके संग।
समझ अन्त में उसका छल जो
छोड़ा इधर उन्होंने बाण,
'हा लक्ष्मण! हा सीते!' कहकर
छोड़े उधर छली ने प्राण।
सुनकर उसकी कातरोक्ति ही
चंचल हुईं चौंक सीता,
क्या जानें प्रभु पर क्या बीती!
वे हो उठीं महा भीता।
लक्ष्मण से बोलीं—"शुभ लक्षण,
यह पुकार कैसी है हाय?
जाओ, झटपट जाकर देखो
आर्यपुत्र जैसी है हाय!"
लक्ष्मण ने समझाया उनको—
"भाभी, भय न करो मन में,
कर सकता है कौन आर्य का
अहित तनिक भी त्रिभुवन में।
तुम कहती हो—'पर यह मेरा
दक्षिण नेत्र फड़कता है,
आशंका आतंक भाव से
आतुर हृदय धड़कता है।'
तदपि मुझे उनके प्रभाव का
है इतना विस्तृत विश्वास,
हिलता नहीं केश तक मेरा,
क्या प्रकम्प है, क्या निश्वास।"
"किन्तु तुम्हारे ऐसे निर्मम
प्राण कहाँ से मैं लाऊँ?
और कहाँ तुम-सा जड़-निर्दय
यह पाषाण हृदय पाऊँ?"
कहा क्रुद्ध होकर देवी ने—
"घर बैठो तुम, मैं जाऊँ,
जो यों मुझे पुकार रहा है,
किसी काम उसके आऊँ।

क्या क्षत्रिया नहीं मैं बोलो,
पर तुम कैसे क्षत्रिय हो,
इतने निष्क्रिय होकर भी जो
बनते यों स्वजनप्रिय हो!''
''हा आर्ये! प्रिय की अप्रियता
करने को कहती हो तुम,
यदि न करूँ मैं, तो गृहिणी की
भाँति नहीं रहती हो तुम।
मैं कैसा क्षत्रिय हूँ, इसको
तुम क्या समझोगी देवी?
रहा दास ही और रहूँगा
सदा तुम्हारा पद-सेवी?
उठा पिता के भी विरुद्ध मैं,
किन्तु आर्य-भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ,
अबला हो, आर्या हो तुम।
नहीं अन्ध ही, किन्तु बधिर भी
अबला वधुओं का अनुराग,
जो हो, जाता हूँ मैं पर तुम
करना नहीं कुटी का त्याग।
रहना इस रेखा के भीतर
क्या जानें अब क्या होगा,
मैं अपराधी नहीं, कर्म-फल
कब न कहाँ किसने भोगा?''
कसे निषग पीठ पर, प्रस्तुत
और हाथ में धनुष लिये,
गये शीघ्र रामानुज वन में
आर्त्तनाद को लक्ष्य किये।
शून्याश्रम से इधर दशानन,
मानो श्येन कपोती को,
हर ले चला विदेहसुता को,
भय से स्तम्भित होती को।
चिल्ला तक न सकीं घबराकर
वे अचेत हो जाने से,

भाँय भाँय कर उठा किन्तु वन
निज लक्ष्मी खो जाने से।
वृद्ध जटायु वीर ने खल के
सिर पर उड़ आघात किया,
उसका पक्ष किन्तु पापी ने
काट केतु-सा गिरा दिया।
गया जटायु इधर सुरपुर को
उधर दशानन लंका को,
क्या विलम्ब लगता है, आते
आपद को, आशंका को।
वध करके मारीच शत्रु का
बैठे मौन मनोरथ में,
लौट रहे थे राम, सामने
लक्ष्मण उन्हें मिले पथ में।
बोले आतुर हो प्रभु उनसे—
"भाई, तुम कैसे आये?"
नत होकर लक्ष्मण ने उनको
बतलाया जैसे आये।
"—'हा लक्ष्मण, हा, सीते'—कोई
इसी ओर चिल्लाया था,
और आर्य के कण्ठस्वर की
अनुकृति उसमें लाया था।
उस पुकार को सुनकर आर्या
पड़ीं भूरि भय के भ्रम में,
मुझको इधर बिना भेजे वे
स्थिर न रह सकीं आश्रम में।"
"अहो स्त्रियों का हृदय!" राम ने
कहा कि वह तो माया थी,
मृग रूपी राक्षस के छल की
दुरभिसन्धि की छाया थी।
यही सोचता आता था मैं,
तब तक तुम यों दृष्टि पड़े,
लक्ष्मण, भले नहीं हैं लक्षण,
कहीं न संकट-वृष्टि पड़े!"

आकर खुला शून्य-पिंजर-सा
दोनों ने आश्रम देखा,
देवी के बदले बस उनका
विभ्रम देखा, भ्रम देखा।
"प्रिये, प्रिये, उत्तर दो, मैं ही,
करता नहीं पुकार अभंग,
शून्य कुंज गिरि-गुहा-गर्त्त भी
तुम्हें पुकार रहे हैं संग!"
उनके कुसुमाभरण मार्ग में
थे जिस ओर पड़े उच्छिन्न,
उन्हें बीनते हुए विलपते
चले खोज करते वे खिन्न।
"जिनके अलंकार पाये हैं,
आर्य उन्हें भी पावेंगे,
सोचो, साधु भरत के भी क्या
साधन निष्फल जावेंगे?
पच सकती है रश्मिराशि क्या
महाग्रास के तम से भी?
आर्य, उगलवा लूँगा अपनी
आर्या को मैं यम से भी।
मेंट सकेगा कौन विश्व के
पातिव्रत की लीक कहो,
यह अम्बर उस अग्नि शिखा को
ढँक न सकेगा, दुखी न हो।"
"काल-फणी की मणि पर जिसने
फैलाया है अपना हाथ,
उसी अभागे का दुख मुझको"
—बोले लक्ष्मण से रघुनाथ।
कर जटायु-संस्कार बीच में
दोनों ने निज पथ पकड़ा,
आगे किसी कबन्धासुर ने
अजगर ज्यों उनको जकड़ा।
मारा बाहु काट वैरी को
बन्धु-सदृश फिर दाह किया,

सदा भाव के भूखे प्रभु ने
शबरी का आतिथ्य लिया।
यों ही चलकर पम्पासर का
पत्र - पुष्प अर्पण देखा,
निज कृश-करुण-मूर्ति का मानो
प्रभु ने वह दर्पण देखा।
आगे ऋष्यमूक पर्वत पर
रहता था वानर सुग्रीव,
बालि नाम कामी अग्रज-कृत
हृत-कलत्र अभितप्त अतीव।
मारुति के प्रयत्न से उसने
दया-दृष्टि प्रभु की पाई,
सहज सहानुभूतिवश उस पर
प्रीति उन्होंने दिखलाई।
"लिये जा रहा था रावण-वक
जब शफरी-सी सीता को,
देखा हमने स्वयं तड़पते
उन पद्मिनी पुनीता को।
हिम-सम अश्रु और मोती का
हार उन्होंने हमें निहार,
उझल दिया मानों झोंके से
देकर निज परिचय दो बार।
अश्रु-बिन्दु तो पिरो ले गयीं
किरणें स्वर्गाभरण विचार,
उनका स्मारक छिन्न हार यह
शेष रहा प्रभु का उपहार।"
कह सुकण्ठ को बन्धु उन्होंने
किया कृतार्थ अंक भर भेट,
बर्बर पशु कह एक बाण से
किया बालि का फिर आखेट।
इसके पहले ही विभुबल का
उसको था मिल चुका प्रमाण,
फोड़ गया था सात ताल तरु
वहाँ एक ही उनका बाण।

वर्षा काल बिताया प्रभु ने
उसी शैल पर शंकर-रूप,
हुआ सती सीता के मुख-सा
शरच्चन्द्र का उदय अनूप।
भूला पाकर किष्किन्धा का
राज्य और दारा सुग्रीव,
स्वयं ब्रह्म ही मायामय है
कितना-सा है जन का जीव?
भूल मित्र का दुःख शत्रु-सा
सुख भोगे, वह कैसा मित्र?
पहुँचे पुर में प्रकुपित होकर
धन्वी लक्ष्मण चारुचरित्र।
तारा को आगे करके तब
नत वानरपति शरण गया,
देख दीन अबला को आगे,
. आवेगी किसको न दया?
गये सहस्र सहस्र कीश तब
करने को देवी की खोज,
मारुति को मुँदरी दे प्रभु ने
फेरा उनपर स्वकर सरोज।
दुस्तर क्या है उसे विश्व में,
प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान,
जलधि पार कर गये पवनसुत
उसे एक गोष्पद-सा मान।
देख एक दो विघ्न बीच में
हुआ उन्हें उलटा विश्वास,
बाधाओं के भीतर ही तो
कार्य-सिद्धि करती है वास।
निरख शत्रु की स्वर्ण-पुरी वह
उन्हें दिशा-सी भूली थी,
नील जलधि में लंका थी वा
नभ में सन्ध्या फूली थी।
भौतिक विभूतियों की निधि-सी
छवि की छत्रच्छाया-सी,

यन्त्रों, मन्त्रों, तन्त्रों की थी
वह त्रिकूटिनी माया-सी!
उस भव-वैभव की विरक्ति-सी
वैदेही व्याकुल मन में,
भिन्न देश की छिन्न लता-सी,
रहती थीं अशोक वन में।
क्षण क्षण में भय खाती थीं वे,
कण कण आँसू पीती थीं,
आशा की मारी देवी उस
दस्यु-देश में जीती थीं!
थी उस समय रात, चर छिपकर
अश्रु पोंछ था देख रहा,
आकर काल-रूप रावण ने
उन मुमूर्षु के निकट कहा—
"कहा मान अब भी हे मानिनि,
बन इस लंका की रानी,
कहाँ तुच्छ वह राम, कहाँ मैं
विश्व-जयी रावण मानी।"
"जीत न सका एक अबला का
मन तू विश्व-जयी कैसा,
जिन्हें तुच्छ कहता है, उनसे
भागा क्यों तस्कर जैसा?
मैं वह सीता हूँ सुन रावण,
जिसका खुला स्वयंवर था,
वर लाया क्यों मुझे न पामर,
यदि यथार्थ ही तू नर था?
वर न सका कापुरुष जिसे तू,
उसे व्यर्थ ही हर लाया,
अरे अभागे, इस ज्वाला को
क्यों तू अपने घर लाया?
भाषण करने में भी तुझसे
लग न जाय हा! मुझको पाप,
शुद्ध करूँगी मैं अपने को
अग्नि-ताप में अपने आप।"

विमुख हुईं मौनव्रत लेकर
उस खल के प्रति पतिव्रता,
एक मास की अवधि और दे
गया पतित, वे रहीं हता।
तब धीरे से हनूमान ने
जाकर उन्हें प्रणाम किया,
प्रभु की नाम मुद्रिका देकर
परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया।
"करें न मेरे पीछे स्वामी
विषम कष्ट साहस के काम,
यही दुःखिनी सीता का सुख,
सुखी रहें उसके प्रिय राम।
मेरे धन वे घनश्याम ही,
जानेगा यह अरि भी अन्ध,
इसी जन्म के लिए नहीं है
राम-जानकी का सम्बन्ध।
देवर से कहना—मैंने जो
मानी नहीं तुम्हारी बात,
उसी दोष का दण्ड मिला यह,
क्षमा करो मुझको हे तात!"
कपि ने कहा—"अम्ब, कहिए तो
अभी आपको ले जाऊँ?"
बोलीं वे—"क्या चोरी चोरी
मैं अपने प्रभु को पाऊँ?"
माँग अनुज्ञा महावीर ने
उस उपवन के फल खाये,
और उजाड़ा उसे उन्होंने,
मारे जो रक्षक आये।
आया तब बहु सैनिक लेकर
एक पुत्र रावण का अक्ष,
विटपों से भट मार शत्रु का
तोड़ दिया घूसों से वक्ष।
नागपाश में विदित इन्द्रजित
बाँध ले गया उन्हें अहा;

"जीता हुआ जला दो इसको!"
रावण ने सक्रोध कहा।
लंका में भी साधु विभीषण
था रावण का ही भाई,
लेता रहा पक्ष प्रभु का, पर
सुनता है कब अन्यायी?
तब लपेट तैलाक्त पटच्चर
आग लगाई रिपुओं ने,
पर निज हाटकपुरी उसी से
जलती पाई रिपुओं ने।
जली पाप की लंका जिससे
वह थी एक सती की हूक,
कपि ने तो झटपट समुद्र में
कूद बुझा ली अपनी लूक।
देवी ने चूड़ामणि दी थी,
उसने प्रभु को दी लाकर,
तुष्ट हुए वे सुध पाकर यों
मानों उनको ही पाकर!
तब लंका पर हुई चढ़ाई,
सजी ऋक्ष - वानर - सेना,
मिल मानो दो सलिल राशियाँ
उमड़ीं फैलाकर फेना।
भंग-भित्तियाँ उठा उठाकर
सिन्धु रोकने चला प्रवाह,
बाँधा गया किन्तु वह उलटा,
सेतु रूप ही है उत्साह।
नील नभोमण्डल-सा जलनिधि,
पुल था छायापथ-सा ठीक,
खींच दी गयी एक अमिट-सी
पानी पर भी प्रभु की लीक!
उधर विभीषण ने रावण को
पुनः प्रेमवश समझाया,
पर उस साधु पुरुष ने उलटा
देशद्रोही पद पाया।

"तात, देश की रक्षा का ही
करता हूँ मैं उचित उपाय,
पर वह मेरा देश नहीं, जो
करे दूसरों पर अन्याय।
किसी एक सीमा में बँधकर
रह सकते हैं क्या ये प्राण?
एक देश क्या, अखिल विश्व का
तात! चाहता हूँ मैं त्राण।
वार धर्म पर राज्य जिन्होंने
वन का दारुण दुख भोगा,
वे यदि मेरे वैरी होंगे,
तो फिर बन्धु कौन होगा?
शत्रु नहीं शासक वे सबके,
आप न इस मद में भूलें,
गुरुतम गज भी सह सकता है
क्या लघु अंकुश की हूलें?
पर-नारी, फिर सती और वह
त्याग-मूर्ति सीता-सी सृष्टि,
जिसे मानता हूँ मैं माता,
आप उसी पर करें कुदृष्टि!
उड़ जावेगा दग्ध देश का
सती-श्वास से ही बल-वित्त,
राम और लक्ष्मण तो होंगे
कहने भर के लिए निमित्त।"
उपचारक पर रूक्ष रुग्ण-सा
रावण उलटा क्षुब्ध हुआ,
"निकल यहाँ से, शत्रु-शरण जा,
जिसके गुण पर लुब्ध हुआ।"
"जैसी आज्ञा"—उठा विभीषण
उसने यह कह किया प्रयाण—
"जँचा इसी में तात, मुझे भी
निज पुलस्त्य-कुल का कल्याण।"
वैरी का भाई था, फिर भी
प्रभु ने बन्धु-समान लिया,

उसको शरणागत विलोककर
हित से समुचित मान दिया।
कहा मन्त्रियों ने, कुछ तब वे
बोले—"दुर्बल हैं हम क्या?
छले धर्म ही हमें हमारा,
तो है भला यही कम क्या?"
प्रभु ने दूत भेज रावण को
दिया और भी अवसर एक,
हित में अहित, अहित में ही हित
किन्तु मानता है अविवेक।
सर्वनाशिनी बर्बरता भी
पाती है विग्रह में नाम,
पड़ा योग्य ही खल रक्षों को,
ऋक्ष-वानरों से अब काम।
आयुध तो अतिरिक्त वहाँ थे,
अस्त्र आप थे अपने अंग,
दंत, मुष्टियाँ, नख, कर, पद सब
चलने लगे संग ही संग।
मार मार हुंकार, साथ ही
निज निज प्रभु का जय जयकार,
बहते विटपि, डूबते प्रस्तर,
बुझते शोणित में अंगार।
निज आहार जिन्हें कहते थे
राक्षस अपने मद में भूल,
हुए अजीर्ण वही अब उनके
मारक गुल्म, विदारक शूल!
रण तो राम और रावण का
पण परन्तु था लक्ष्मण का,
शौर्य-वीर्य दोनों के ऊपर
साहस उन्हीं सुलक्षण का।
लड़ना छोड़ छोड़कर बहुधा
देखा सबने उनका युद्ध,
निकले-घुसे घनों में रवि ज्यों,
रह न सके क्षण भर भी रुद्ध।

शेल-शूल-असि-परशु-गदा-घन
तोमर - भिंदपाल - शर - चक्र,
शोणित बहा रही थीं रण में
विविध सार-धाराएँ वक्र।
'आ रे आ, जा रे जा' कह कह
भिड़ते थे जन जन के साथ,
घन घन, झन झन सन सन निःस्वन
होता था हन हन के साथ!
नीचे स्यार पुकार रहे थे,
ऊपर मँडराते थे गिद्ध,
सोने की लंका मिट्टी में
मिलती थी लोहे से विद्ध।
भेद नहीं पाते थे रविकर
रज ने शून्य दिया था पाट,
पर अमोघ प्रभु के शर खर तर
जाते थे अरि-कुल को काट।
अपने निज अगणित वीरों पर
गर्वित था वह राक्षसराज,
एक एक करके भी मरकर
उनका हुआ नगण्य समाज।
दाँत पीसकर, ओंठ काटकर
करता था वह क्रुद्ध प्रहार,
पर हँस हँस कर ही प्रभु सबका
करते थे पल में प्रतिकार।
कुपित इन्द्रजित ने क्रम-क्रम से
सबको देख काल की भेंट,
छोड़ी लक्ष्मण पर लंका की
मानो सारी शक्ति समेट।
विधि ने उसे अमोघ किया था,
पर न हटे रामानुज धीर,
हनूमान ने दौड़ उठाया
हा! उनका निश्चेष्ट शरीर।
गरजे राक्षस गण गर्वित हो,
गरजा मेघनाद बलवान,

उन्हें देख—"हा लक्ष्मण!" कहकर
सजल हुए प्रभु जलद-समान।
जगी उसी क्षण विद्युज्वाला,
गरज उठे वे होकर क्रुद्ध,
"आज काल के भी विरुद्ध है
युद्ध-युद्ध बस मेरा युद्ध।
रोऊँगा पीछे, होऊँगा
उऋण प्रथम रिपु के ऋण से,
प्रलयानल-से बढ़े महाप्रभु,
जलने लगे शत्रु तृण-से।
एक असह्य प्रकाश-पिण्ड था,
छिपी तेज में आकृति आप,
बना चाप ही रवि मण्डल-सा
उगल उगल शर-किरण-कलाप।
कोप-कटाक्ष छोड़ता था ज्यों
भृकुटि चढ़ाकर काल कराल,
क्षण भर में ही छिन्न-भिन्न-सा
हुआ शत्रु-सेना का जाल।
क्षुब्ध नक्र जैसे पानी में,
पर्वत में जैसे विस्फोट,
अरि-समूह में विभु वैसे ही
करते थे चोटों पर चोट।
कर-पद रुण्ड-मुण्ड ही रण में
उड़ते, गिरते-पड़ते थे,
कल कल नहीं, किन्तु भल भलकर
रक्तस्रोत उमड़ते थे।
रिपुओं की पुकार भी मानो
निष्फल जाती बारम्बार,
गूँज उसे भी दबा रही थी
उनके धन्वा की टंकार।
निज निर्घोषों से भी आगे
जाते थे उनके आघात,
मानो उस राक्षस युगान्त में
प्रलय-पयोदों के पविपात।

सर्वनाश-सा देख सामने
रावण को भी कोप हुआ,
पर पल भर में प्रभु के आगे
सारा छल-बल लोप हुआ।
"बच रावण निज वत्स-मरण तक,
न बन राम बाणों का लक्ष,
मेरे वत्स-शोक का साक्षी
बने यहाँ तेरा ही वक्ष।
कहाँ इन्द्रजित? किन्तु न होऊँ
मैं लक्ष्मण का अपराधी,
जिसने आज यहाँ पर उसकी
वध - साधन - समाधि साधी।
राक्षस, तेरे तुच्छ बाण क्या?
मेरे इस उर में है शेल,
उसे झेलने के पहले तू
मेरा एक विशिख ही झेल।"
अश्व, सारथी और शत्रुभुज
एक बाण ने वेध दिया,
मूर्च्छित छोड़ उन्होंने उसको
अगणित अरि-पशुमेध किया।
आँधी में उड़ते पत्तों-से
दलित हुए सब सेनानी,
पर उस मेघनाद के बदले
आया कुम्भकर्ण · मानी।
"भाई का बदला भाई ही।"
गरज उठे वे घन-गम्भीर;
गज पर पंचानन-सम उसपर
टूट पड़े, उसका दल चीर।
"अनुमोदक तो नहीं किन्तु निज
अग्रज का अनुगत हूँ मैं,
निद्रा और कलह दो में ही
राघव, सन्तत रत हूँ मैं।
वज्रदन्त-धूम्राक्ष नहीं मैं,
नहीं अकम्पन और प्रहस्त,

राम, सूर्य-सम होकर भी तुम
समझो मुझको अपना अस्त!"
"निद्रा और कलह का कौणप,
तू बखान कर रहा सगर्व,
जाग, सुलाऊँ तुझे सदा को,
मेटूँ कलह-कामना सर्व।"
उस उत्पाती घन ने अपने
उपल-वज्र बहु बरसाये,
किन्तु प्रभंजन बल से प्रभु के
उड़ी धज्जियाँ, शर छाये।
गिरा राम-दल पर ही गिरि-सा
मरते मरते भी वह घोर,
छोड़ धनुःशर बोले प्रभु भी
कर युग कर रावण की ओर–
"आ भाई! सब वैर भूलकर
हम दोनों समदुःखी मित्र,
आ जा, क्षण भर भेट परस्पर
कर लें अपने नेत्र पवित्र!"
हाय! किन्तु इसके पहले ही
मूर्च्छित हुआ निशाचर-राज,
प्रभु भी यह कह गिरे–"राम से
रावण ही सहृदय है आज।"
सन्ध्या की उस धूसरता में
उमड़ा करुणा का उद्रेक,
छलक छलककर झलके ऊपर
नभ के भी आँसू दो एक।
निज जन हाथों पर सँभालकर
उन्हें शिविर में ले आये,
देख अनुज की दशा दयामय
दुगुने आँसू भर लाये।
"सर्व कामना मुझे भेटकर
वत्स, कीर्तिकामी न बनो,
रहे सदा तुम तो अनुगामी
आज अग्रगामी न बनो!"

समझाया वैद्यों ने उनको—
"आर्य अधीर न हों इस भाँति,
अब भी आशा, वही करें बस
सफल हो सके वह जिस भाँति।"
"तुच्छ रक्त क्या, इस शरीर में
डालो कोई मेरे प्राण,
गत सुनकर भी मुझे जानकी
पावेगी दुःखों से त्राण।"
बोल उठे सब—"प्रस्तुत हैं ये
प्राण, इन्हें लक्ष्मण पावें,
डूब जायँ हम सौ सौ तारे,
चन्द्र हमारे बच जावें।"
"संजीवनी मात्र ही स्वामी,
आ जावे यदि रातों रात,
तो भी बच सकते हैं लक्ष्मण,
बन सकती है बिगड़ी बात।
पंजर भग्न हुआ, पर पंछी
अब भी अटक रहा है आर्य!"
किया अन्त में हनूमान ने
प्रभु के बल से ही वह कार्य।
अरुणोदय कर सुप्त सिंह-से
जागे लक्ष्मण कह 'जय राम!'
वन्य महिष-से मेघनाद का
वध ही था उनका विश्राम।
हुआ राम-रावण का-सा ही
राम और रावण का युद्ध,
उसे देखकर स्वयं काल की
हुई निमिष भर गति अवरुद्ध।
काटे हरि ने अरि के आयुध
उन्हीं आयुधों के द्वारा,
पर पापी रावण तो उनके
परम पुण्य से ही हारा।
शुद्ध आग-सी वैदेही ने
उसे सवंश जला डाला,

चली एक माया न यातु की
रहा कौन रोने वाला?
मिला विभीषण को लंका के
राज्य-संग आर्यत्व उदार,
मिटा भूमि का भूरि भार यों
गूँजा नभ में जय जयकार।
दक्षिण दिशा हुई निष्कण्टक
लेकर मलयानिल निःश्वास,
प्रभु ने वही उपायन माना
मिला उन्हें जो सहज सुवास।
चढ़कर प्रिय पुष्पक विमान में
विपद्बन्धु जन - वृन्द - समेत,
लौटे व्योम मार्ग से तीनों
कर्षित से हर्षित साकेत।
मिले भरत से प्रभु यह कहकर—
"साधु साधु - निष्ठा तेरी।"
"किन्तु आर्य की ही आज्ञा है
साधु - विभूति सदा मेरी!"
माताओं ने फिर जन्मा-सा
अपने पुत्रों को पाया,
मिली राम के साथ लोक में
सबको मूर्तिमयी माया।
अन्त भले का भला, बीच में
बिगड़ा सो सब ठीक हुआ,
राम राज्य जो हुआ यहाँ सो
ऐसा हुआ, प्रतीक हुआ।
निर्मम होकर भी निज युग की
मर्यादा प्रभु ने रक्खी,
जीवन का मधु दिया जनों को,
कटुता आप यहाँ चक्खी।
रक्षक मात्र रहे वे राजा,
राज्य प्रजा ने ही भोगा,
हुआ यहाँ तब जो जन-रंजन
वह कब और कहाँ होगा?

युद्ध

('जय भारत' से उद्धृत)

श्रीगणेशाय नमः

युद्ध

मंगलाचरण

देख रहा रावण, तू जन्म लेके बार बार–
कितने विनाश से भरी है हाय! तेरी हार!
एक बार प्रेम करके तो देख राम से,
रच रच हेम-पुरी होने दे न छार-खार।

युद्ध

युद्ध कहीं पाल पाता अपने नियम ही!
तुल्य प्रतिद्वन्द्वियों को छोड़ कर औरों से—
यों ही नहीं लड़ते थे योद्धा उस काल के।
बहुधा पदातियों से केवल पदाति ही,
अश्व-गजारोहियों से अश्व-गजारूढ़ ही,
रथियों से केवल रथी ही थे झगड़ते।
हारे-थके शत्रु को वे अवसर देते थे,
वर्महीन पर भी प्रहार करते न थे।
कोई वाक्य युद्ध करे तो वे वही करते,
मारते नहीं थे किसी हार मानते को भी।
शस्त्र-भंग होने पर कहते विपक्षी से—
"ऐसे क्या लड़ोगे, रहो, ले लो कुछ मुझसे।"
यदि वह कहता—"अभी तो भुजदण्ड हैं।"
तो वे शस्त्र छोड़ करते थे मल्लयुद्ध ही।
संगर भी उनके लिए था एक रंग-सा!
भेदिये ही प्राणों पर खेलते थे उनके।
युद्ध थमते ही मिलते थे बन्धु-सम वे।
चारणों की और परिचारकों की बात क्या,
शस्त्र-भार-वाहक भी उनके अबध्य थे।
वादक तो मादक थे रक्ष्य दोनों पक्षों के।

किन्तु अकस्मात जब काल निज रूप में
आता है समक्ष, तब किंकर्तव्यमूढ़ हो,
अपने नहीं तो अपनों के लिए, धीर भी
नियम-विरुद्ध कर बैठते हैं कुछ भी।

ऐसा इस युद्ध में भी देखा गया बहुधा!
तो भी नियमों का भंग निन्दनीय होता है।
ऐसी लोक-निन्दा क्या यहाँ भी अपवाद थी?
पाई भगवान ने ही उसमें बड़ाई थी।
'आयुध न लूँगा मैं' उन्होंने यह था कहा,
और भक्त भीष्म ने कहा था—'देख लूँगा मैं।'
बाध्य वे हुए थे बात रखने को भक्त की।
ऐसा रण-रंग गंगानन्दन ने था किया,
पाण्डवों का सारा बल अस्तव्यस्त हो गया।
द्वन्द्व जहाँ हो रहा था, संकुल तुमुल था।
भर गयी सारी रणभूमि रुण्ड-मुण्डों से,
रक्त के प्रवाह छूटे, पानी की पुकार थी।
हुंकारें जहाँ थीं, वहीं आहें थीं, कराहें थीं।
लाल लाल भूमि सब ओर विकराल थी,
दीखे रक्त-कर्दम में हाथी भी अशक्त-से!
कट कट शीश गिर राहु-से उदित थे,
केतु-से कटे भी बाहु भय उपजाते थे।
कर्तित थीं कन्धराएँ, नर्तित कबन्ध थे!
टूटे रथ आँतें-सी बिखेर कर अंगों की,
तड़प रहे थे जन्तु शीघ्र मर जाने को!
हड़प रहे थे स्यार गीध शव नोच के,
सो गये थे शत्रु-मित्र भूमि पर साथ ही।
सबको किशोरों-सा खिलाया पितामह ने।
आशा जय की तो कहाँ, प्राणों की रही किसे?
लेके तब चक्र चले कृष्ण उन्हें मारने।
उनके प्रताप तथा तेज के प्रभाव से,
आस पास छाए हुए धूलि-कण क्षण में
तप्त चिनगारियों-से उद्भासित हो उठे!
बोले पितामह से वे—''पाण्डवों के वध की
इच्छा न हो तुमको, परन्तु मेरा कार्य तो
पूरा नहीं होगा, यदि हार हुई उनकी।
और, मेरी हार बिना कैसे तुम जीतोगे?
मानता हूँ, आज मुझे तुमने हरा दिया।
साधु साधु! लो, मैं हुआ बाध्य शस्त्र लेने को।

और जो कहो सो करूँ, किन्तु सावधान हो!''
चाप रख ऊँचा भाल भीष्म ने झुका दिया—
''मारो प्रभो, मारो, यह कोप नहीं, करुणा।
आज मेरे जन्म-मृत्यु दोनों की समाप्ति है।''
धर प्रभु-पाणि इसी बीच कहा पार्थ ने—
''करते प्रहार पितामह पर अब भी
मेरा कर काँपता था, मुझको क्षमा करो,
करना पड़ेगा नहीं कष्ट अब तुमको।''
धर्मराज ने भी किया अनुनय उनसे—
''युद्ध में पितामह के रहते हुए हरे!
जीतने की आशा नहीं की जा सकती कभी।
यदि तुम चाहो तो अकेले इस चक्र से
मार सकते हो सब शत्रुओं को काल ज्यों।
तो भी तात, तुमने कहा है—'इस युद्ध में
आयुध न लूँगा मैं,' निभाना इसे चाहिए,
चाहे मन मार हमें खानी पड़े हार ही।
करते पितामह प्रहार नहीं नारी पै
और वे शिखण्डी को समझते हैं नारी ही,
चाहे कितना ही पुरुषार्थी वह क्यों न हो।
वचन तुम्हारे भंग होने से यही भला,
सफल करा दो तुम उसकी प्रतिज्ञा ही।
अर्जुन प्रधान पृष्ठ-पोषक हों उसके।''

अन्त में यही हुआ, प्रसन्न न थे मन में
अर्जुन, परन्तु अन्य कौन-सा उपाय था?
त्राण-हेतु घूँट कड़ा पीना पड़ा उनको।
कौरव न रोक सके बढ़ते शिखण्डी को,
पार्थ के विशिख उसे बीच में लिये रहे।
उसके विरोध-हीन बाणों के प्रहार से
बिंध कर सारा तन शान्त पितामह का,
गिरता हुआ भी रहा ऊपर ही भूमि से।
बिद्ध वैरि-बाण-पंक्ति शय्या बनी उनकी।
मानो निज रश्मि-जाल संवरण करके
ओढ़के बिछाके वही सान्ध्य रवि था पड़ा!

रुक गया युद्ध, महायोद्धा युगपक्ष के
होकर उदास उन्हें घेर आ खड़े हुए।
देह था शरों पर परन्तु सिर लटका।
सस्मित उन्होंने कहा—"कोई उपधान दो।"
लाये गये शीघ्र वे उन्हीं के रिक्त रथ से
खिन्न हो उन्होंने कहा—"दूर करो इनको!"
पार्थ को पुकार बोले—"वत्स, उपधान दो,"
"जो आज्ञा" तुरन्त तीन बाण छोड़ वृद्ध के
मस्तक के नीचे खड़े कर दिये पार्थ ने।
ऊँची उठी ग्रीवा, कहा तुष्ट पितामह ने—
"योग्य उपधान यही मेरी इस शय्या के,
जीते रहो वत्स, तुम!" "तात, तुम्हें मार के
जीना अभिशाप ही है,"—पार्थ चुप हो गये।

जयजयकार किया पूज्य पितामह का
दोनों ही दलों ने और साथ ही सुरों ने भी।
शत्रु-मित्र दोनों का मतैक्य जहाँ होता है,
फूट पड़ती हैं वहीं भव्यता में दिव्यता!
"होंगे जब सूर्य उत्तरायण, मरूँगा मैं,
तब तक जीते जो रहेंगे, वे मिलेंगे ही,
श्रान्ति मेटें शिविरों में योधजन अधुना।"
सप्रमाण आँसुओं की अंजलि प्रथम ही
दे देकर उनको प्रयाण किया लोगों ने।
बोले वे सुयोधन को निकट बुला के यों—
"बेटा, अब भी तू पाण्डवों से सन्धि कर ले;
और दस दिन भी चलेगा अब युद्ध क्या?"
बोला कुरुराज अति दुःख और लज्जा से—
"धिक! हम सबके समक्ष ही शिखण्डी ने
शल्य-सा शरीर कर छोड़ा यह आपका।"
हँस पड़े वृद्ध—"क्या थे विशिख शिखण्डी के?
वर्म भेद पार्थ-शर मर्म जो न छेदते।
कटता है कर्कटक अपने ही बेटों से!"
"किन्तु मेल हो सका न जिनसे प्रथम ही,
वे तो अब हत्यारे हमारे पितामह के।

अब उनसे क्या सन्धि? अन्त तक जूझूँगा,
आज यदि कर्ण होता–" "जानता हूँ मैं उसे,
किन्तु वत्स, वैर बढ़ता है इसी रीति से।
होता वह शान्त मेरे साथ ही तो अच्छा था,
किन्तु अब तू भी उसे रोक नहीं सकता।
अपना नियन्ता आप होकर भी लोक में
हन्त! निज हन्ता बनता है नर आप ही।"

अन्त में आ कर्ण ने प्रणाम किया उनको–
"आपका सदैव दोषी कर्ण क्षमा-प्रार्थी है।"
"शिष्ट हम सबको क्षमा ही इष्ट अन्त में।
उत्स तू लगा था मुझे इस रण-रस का!
और की तो बात ही क्या, आप तेरा जन्म भी
तेरे प्रतिकूल गया, तो भी गुण-कर्म से
तुझको महान मानने को विश्व बाध्य है।
धन्य वह जननी, अपूर्व रत्न-खननी,
धन्य पुरुषार्थ तेरा, मानो स्वयं दैव भी
दमन न कर पाया तेरे दृढ़ दर्प का!
किसने लिया है प्रतिशोध भी यों भव से?
किन्तु क्षमा होती कहीं दानि, तेरे दण्ड में,
तो इस प्रचण्ड वैर का भी यत्न तू ही था।
पूरक है तेरा यहाँ एक युधिष्ठिर ही।"
वृद्ध मुसकाये फिर बोले आह भर के–
"राम और भरत सदा ही नहीं मिलते!
जान लिया मैंने, अब प्रेम नहीं होने का
जूझना भले तू, किन्तु द्वेष दूर करके।"
"भरसक ऐसा ही करूँगा"–कहा कर्ण ने।

द्रोण के विषय में भी अर्जुन में वैसी ही
जागी दया-दुर्बलता और उन्हें उसका
दण्ड मिला मानो अभिमन्यु-वध-रूप में।
भीष्म के समान ही धनंजय-तनय ने
करके विपक्ष-दल दलित स्वबल से,
मारे थे अनेक अरि योद्धा ललकार के,

दुर्योधन–पुत्र और कर्ण के कनिष्ठ–से।
मन्त्रणानुसार तब सन्शप्तक शूरों ने
एक नया अयन बनाया दूर अपना;
देकर चुनौती वहीं ले गये वे पार्थ को।
और इस ओर चक्रव्यूह रच द्रोण ने,
उसमें अकेले ही सुभद्रा के सपूत को
घेरा, यथा पंजर में केशरी-किशोर को!
वह घुस पैठना ही जानता था उसमें,
अर्जुन ही जानते थे घुसना-निकलना।
अन्य कोई घुस भी सका न साथ उसके,
द्वार पर दुर्द्धरजयद्रथ नियुक्त था,
जिसको मिला था वर मानो इसी जय का।
तो भी कौन जूझ सका वीर अभिमन्यु से?
हँस हँस उसने रुलाया रणधीरों को!
रथियों को विरथ बनाकर उड़ा दिया,
शल्य को अचेत कर उसके अनुज को
मार के, तनुज को भी छोड़ा नहीं उसने।
आप ही अकेले एक एक कर युद्ध में
किसको हराया नहीं, द्रोण-कृप-कर्ण से
बोला वह–"जो हो, तुम गुरुजन अन्ततः,
मारूँ क्या तुम्हें मैं, उपहार में लो हार ही!"
बोला कुरुराज-पुत्र लक्ष्मण से वह यों–
"भाई तुम मेरे, तुम्हें दूँगा वीरगति ही!"
जो जो कहा उसने सो करके दिखा दिया।

मिल तब छह छह महारथियों ने घातें कीं,
मारने चले वे उसे घेर सब ओर से।
"यह षड्यन्त्र मूर्तिमन्त्र!"–कहा उसने।
मारके बृहद्बल को वायु के-से वेग से
बोला वह–"मैंने तुम्हें पंच ही बना दिया,
चाहो तो प्रपंच करो!" एक बृहद्बल के
मरते ही दो दो रथी और नये आ जुटे,
छह थे जहाँ सात हुए। सामने के ही नहीं,
दायें और बायें तथा पीछे के प्रहारों से

मारे अश्व, तोड़ा रथ, काटा चाप, खड्ग भी
बैरियों ने; तो भी उपहास कर उसने
ठोके भुजदण्ड दोनों—"आओ, जिसे जाना हो!"
जाना था परन्तु किसे? दुर्योधन बोला यों—
"हिंस्र पशुओं से सम युद्ध नर क्यों करे,
शुद्ध सार-शस्त्र जब कर में हो उनके!"
मौन अभिमन्यु हुआ अन्त में यों कहके—
"कायर बना के तुम्हें, मर के भी जीता मैं।"

ठोकर दे पाप-पथ-पंक-भरे पैर की
शव पर, वीरता दिखाई जयद्रथ ने,
आप देवव्रत ने सराहा जिसे जीते में,—
मान कर अपने समान ही समर में,
सबसे बड़े से लड़ा छोटा जब सबसे,
मारना भी मरना भी सीखता-सा उनसे!

पाण्डव क्या शोक सह पाते यह सहसा,
आता कोप कौरवों के ऊपर न जो उन्हें।
पार्थ ने प्रतिज्ञा की—"न मारूँ जयद्रथ को
मैं सूर्यास्त पूर्व कल, तो जल मरूँ स्वयं।"
सूख गयी मानो दया जलते हृदय की,
बढ़ते गये वे प्रलयाग्नि के समान ही।
किन्तु नहीं रुकता है समय कभी कहीं,
ढल चले अस्ताचल ओर दिवाकर भी।
अर्जुन के अर्थ हुई चिन्ता युधिष्ठिर की।
सात्यकि से कहने लगे वे—"बड़ी बेर से
अर्जुन का कोई समाचार नहीं आया है।
बढ़ गये निश्चय ही लक्ष्य तक दूर वे,
किन्तु जान पड़ता है, शत्रुओं के घेरे में
शंखनाद का भी अवकाश नहीं उनको!
शूर, तुम जाकर सहायक हो उनके।"
उत्तर में सात्यकि यों बोला—"आर्य, आपकी
आज्ञा शिरोधार्य मुझे, किन्तु छोड़ आपको
जाना प्रतिकूल क्या न होगा स्वयं उनके?

धरकर आपको सुयोधन को देने का
वचन दिया है उसे उग्र द्रोणाचार्य ने,
कृष्णार्जुन छोड़ गये मुझको इसीलिए।''
हँस पड़े आर्त्ति में भी धर्मराज सहसा—
''सीता के समीप जैसे लक्ष्मण को छोड़ के
माया-मृग मारने गये थे राम वन में!—''
सात्यकि भी रोक नहीं पाया हँसी अपनी—
''रावण भी द्विज ही था द्रोण ऐसा पहले!''
''किन्तु मुझे चिन्ता है उन्हीं की, अपनी नहीं।
हो भले ही मेरी धृति, निष्कृति हो मेरों की।
जाओ तुम वीर, तुम्हें देता हूँ वचन मैं,
धर न सकेंगे गुरुदेव मुझे कैसे भी।
भाग बचना भी एक यत्न आत्मरक्षा का।
भागा नहीं यों मैं कभी गुरुओं से डरके।''
सात्यकि को जाना पड़ा, एक घड़ी पीछे ही
भीम को भी भेजे बिना वे रह सके नहीं।
पार्थ और सात्यकि तो कतरा के गुरु से
व्यूह में घुसे थे किन्तु भीम न थे आपे में
जल उठे देखते ही उनको समक्ष वे—
''द्विज-उज जो हो तुम, गुरु हो अवश्य ही,
किन्तु वध-योग्य वह जो भी आततायी हो।''
'फेंक दे उखाड़ ऊँचा झाड़ झंझावात ज्यों'
रथ के समेत उन्हें एक ओर फेंक के
सामने से ही वे घुसे शत्रु दल दलते।
आधी धार्त्त राष्ट्र-चमू उस दिन युद्ध में
मर कर भी न बचा पाई जयद्रथ को।
पूरी हुई पार्थ की प्रतिज्ञा दिन रहते,
कठिन तपस्या फली पाशुपत पाने की;
कृष्ण की कृपा से कृत्कृत्य हुए वे कृती।

किन्तु सान्त्वना की खोज तब भी बनी रही।
द्रौपदी-सुभद्रा और उत्तरा की यातना
तीन ओर, चौथी ओर अपना विषाद था;
शान्ति किसी ओर भी दिखाई न दी उनको।

देखते थे मानो एक स्वप्न वे शिविर में,
दे रहे हैं मानों हरि धैर्य उन सबको—
"कौन कहता है अभिमन्यु मरा? वस्तुतः
वह तो अमर हुआ—कीर्ति करके यहाँ।
गर्व-योग्य ऐसी गति मिलती है किसको?
पाया पूर्व देह से भी दिव्य रूप उसने
और महत्पद की कहूँ क्या बात तुमसे,
खेलता है आज वह इन्दिरा की गोद में।"
"भैया, एक बार कैसे देखूँ उसे ऐसे मैं?
प्रस्तुत अभी हूँ यह देह छोड़ कर भी।"
यों कह सुभद्रा पड़ी पैरों पर उनके।
"निम्न गति होती है बहन, आत्मघात से,
ऐसे वह उच्चगति-शील कैसे दीखेगा?
उत्तरा की कोख में है भव्य रूप उसका
अधुना उसी का हमें मंगल बनाना है।"

शोकानल का है कुछ यत्न अश्रु-जल ही,
किन्तु अवकाश न था पाण्डवों को यह भी,
गरज रहे थे अरि सिर पर उनके।
रक्खा विकराल दैत्य-रूप गुरुदेव ने,
दीख पड़ा काल-सा समक्ष इस पक्ष को।
द्रुपद-विराट ऐसे उद्भट भी उनसे
कटकर खेत रहे, पूले यथा घास के,
छू ले आप यम भी तो चाप रहते उन्हें!
तो भी धीर धृष्टद्युम्न उनसे नहीं दबा,
उनके वधार्थ ही लिया था जन्म उसने।
वे ही नहीं, भिड़ गये स्यंदन भी दोनों के।
द्रोण भी अजेय ही थे शस्त्र रहते हुए,
वर-सा उन्हें भी यह प्राप्त था विधाता का।
देख निज युद्ध वे दहल उठे आप भी!
तनु नहीं किन्तु मन मानो उन मान्य का
आकुल-सा हो उठा कृतित्व में भी अपने!
ब्राह्मण की करुणा हिलोड़ उठी उनको—
"धारण न करता कठोर क्षात्र धर्म मैं

तो हा! यह घोर कर्म करना क्यों पड़ता?
साधारण शस्त्रधारियों की इन अस्त्रों से
हत्या जो नहीं तो और क्या है यह इतनी,
करनी पड़ी जो मुझे? कारण क्या इसका?
कन्द-मूल-फल भी क्या मुझको न मिलते?
शिव शिव! शव ही दिये हैं मुझे हिंसा ने!
मेरे लिए दोनों पक्ष एक ही समान थे,
न्याय से तो पाण्डव ही प्रथम वरेण्य हैं,
मेरे स्नेह-भाजन हैं वे निज गुणों से भी।
छोड़ा निज धर्म मैंने, छोड़ूँ पर धर्म भी
कैसे—हाय! कैसे! वह मेरे बन्धु भीष्म भी
रुक रहे मानो मुझे आगे कर लेने को!
कौन उनका-सा यहाँ मेरा अन्य साथी है?
मारने से मरना ही अच्छा क्या नहीं मुझे?''

इसके बिना क्या पाण्डवों का भी कुशल था?
अस्त्र छोड़ने को उन्हें कर सके बाध्य जो,
ऐसी एक झूठी बात कौन कहे उनसे?—
यह विष कौन पिये शोणित-समुद्र का?
''संरक्षक सबका मैं,'' सोचा युधिष्ठिर ने—
''दुर्गति हो मेरी भले, सबकी सुगति हो।''

मार अश्वत्थामा गज वैरी इन्द्रवर्मा का
गर्ज उठे भीम—''अश्वत्थामा हत हो गया!''
वज्राहत वृक्ष की-सी द्रोण की दशा हुई।
बोले किसी भाँति वे—''युधिष्ठिर कहें तो है।''
सिहर युधिष्ठिर ने साख भरी इसकी—
''हाँ आचार्य देव, अश्वत्थामा हत हो गया,
वह नर-कुंजर गया है मृत्यु-मुख में!''
किन्तु छल पूर्ण यह सत्य भी अमृत था।
दोनों नर-कुंजर स्वजन शंख-रव में
डूब गये। साथ ही युधिष्ठिर का रथ भी,
ऊँचा-सा धरा से उठ चलता था जो सदा,
धँस गया नीचे चार अंगुल प्रमाण में!

शस्त्र फेंक गुरु तो समाधिस्थित-से हुए।

टूट पड़ा श्वापद-सा! धृष्टद्युम्न सहसा
लेने को कठोर प्रतिशोध पिता-पुत्र का।
पक्क केश उनके पकड़ बायें हाथ से
दायें से उसी ने सिर काट डाला उनका।
हाथ उठा कहते ही रह गये पार्थ यों—
"मारो मत, मारो मत, उनको पकड़ लो!"
हाहाकार कर उठे शत्रु-मित्र दोनों ही।
सात्यकि तो क्रोध कर दौड़ा उसे मारने,
बीच में आ अपनों ने शान्त किया दोनों को।

निन्दा की युधिष्ठिर की आप धनंजय ने—
"हाय आर्य, यह क्या किया आज आपने?
आपके निकट भी क्या राज्य बड़ा सत्य से?"
मौन थे युधिष्ठिर, भृकुटि चढ़ी भीम की—
"सावधान अर्जुन! क्या कहते हो—किससे?
सत्य-रक्षा से भी आत्म-रक्षा बड़ी होती है,
एक छोड़ सौ सौ सत्य-धर्म पलें जिससे।
अग्रज के 'आत्म' में हमीं-तुम हैं, वे नहीं,
कहते इन्हें हो राज्यकामी तुम? धिक है।
आप गुरु भी तो निज धर्म छोड़ बैठे थे,
उद्धत अधर्मियों के अर्थ-दास बन के।
स्वत्व उस अर्थ में हमारा भी नहीं था क्या?
पाप के पराजय में पाप भी है पुण्य ही।"
"नहीं नहीं, पाप कभी पुण्य नहीं होता है।"
बोले धर्मराज—"भीम, भाई, तुम शान्त हो।
सिद्ध नहीं होता शुद्ध साधन से साध्य जो,
उसकी विशुद्धता भी शंकनीय होती है।
तात, मेरा पक्षपात योग्य नहीं इतना;
पाप जो हुआ है, उसे मानना ही चाहिए,
अन्यथा असम्भव है प्रायश्चित्त उसका।
ऐसी स्थितियाँ भी हैं असत्य जहाँ क्षम्य है,
किन्तु मेरा स्खलन खलेगा नहीं किसको?

मर्त्य की तो बात क्या, अमर्त्य भी अपूर्ण हैं,
उचित परन्तु नहीं ऐसा समाधान भी,
प्रश्रय जो देता चले पाप की प्रवृत्ति को।
नर को तो नारायण तक है पहुँचाना।
मैंने जो किया है, वह जान कर ही किया—
राज्य-हेतु अथवा नरक-हेतु, क्या कहूँ?
दुःखित हूँ, किन्तु मैं निराश नहीं फिर भी।
मेरी साधना के लिए काल जो अनन्त है!
मति-गति अर्जुन, तुम्हारी रहे ऐसी ही
भोगो मिल राज्य तुम, भोगूँ जा नरक मैं।''
''अनुग तुम्हारा वहाँ आगे!'' कहा भीम ने
रोने लगे अर्जुन—''हा! आर्य, निज दुःख से
मैंने तुम्हें मिथ्या बोल मारे, मुझे दण्ड दो;
किन्तु यों न त्यागो हमें।'' पैरों पर वे गिरे।
अंक में ले उनको युधिष्ठिर भी रो पड़े।
बोले हँस कृष्ण—''हुआ, देखो अब सामने!''

भीष्म और द्रोण के अनन्तर था कर्ण ही।
मान कर प्रार्थना सुयोधन की, उसका
शल्य सारथी तो बना, किन्तु कहा उसने—
''यह अभिमानी भला पार्थ से लड़ेगा क्या?—
हार खा चुका है वार वार जो प्रथम ही।
जाति को छिपा के सूत-पुत्र विप्र बनके
धोखा दे चुका है यह गुरु भृगुराम को।
भेद खुलते ही अभिशप्त हुआ उनसे—
'भूले तुझे विद्या ठीक अवसर पर ही!'—''
बोला क्रुद्ध कर्ण—''स्वयं सूत बना, तो भी तू
लज्जित क्यों होता नहीं ओछी बात कहते?
मैंने तो कहा था यही उनसे—'मैं द्विज हूँ'
यह छल है तो पूछ जाके बड़े पार्थ से—
छल है वा सत्य—'अश्वत्थामा हत हो गया।'—''
''ओहो! अब जाना, ज्येष्ठ पार्थ पर तेरी ही
छाया यहाँ आ पड़ी थी!'' ''और क्या कहेगा तू?
जैसे तुझे इष्ट हो, परीक्षा कर देख ले,

रूप की वा वर्ण की, शरीर की वा रक्त की,
आकृति-प्रकृति की वा अस्थि-चर्म-मज्जा की,
मन की वा आत्मा की, बता मैं निम्न किससे?
उच्च कहाँ कौन किस बात में है मुझसे?
यों तो जन जाति का है मूल गोत्र एक ही,
कुल का विकास भिन्न भिन्न रहे सबका।
कर ले भले तू मनस्तुष्टि कुछ कहके,
जानता हूँ तुझको मैं और तेरे देश को!''
''मैं भी जानता हूँ तुझ गोघातक म्लेच्छ को!
मेरा देश कैसा है, मुझी में सब देख ले।
धोखे में कहीं भी बात मैं निभाता जाता हूँ।
और—'' ''साक्षी हूँ मैं।'' कुरुराज बोला बीच में—
''किन्तु तात, आपस में लड़ना क्या ठीक है?
गरज रहे हैं जब शत्रु खड़े सामने।
आप दोनों ही तो अब मेरे अवलम्ब हैं।''
''मैं कभी रुकूँगा नहीं कहने से अपनी,
किन्तु त्रुटि होने नहीं दूँगा निज कर्म में।''
''इतना यथेष्ट मुझे, आप गुरुजन हैं,
कटु भी बनेगा मिष्ट मेरे लिए आपका।''
यह कह कर्ण ओर देखा कुरुपति ने।
कर्ण बोला—''तुमने कहा सो स्वयं मैंने भी।
जूझना है मुझको तो, जो भी परिणाम हो।''
''जीतने की आशा बिना जूझ क्या सकेगा तू?''
यह कह शल्य हँसा। बोला हँस कर्ण भी—
''मैं निष्कामकर्मा भला, हो जो फलकामी हो!''

भय कहते हैं किसे, कर्ण न था जानता,
छक्के-से छुड़ा दिये परन्तु घटोत्कच ने।
मानो भीम-भैरव ही उसके बहाने से
कौरवों की सेना ध्वंस करने को आ गये!
जाता था बवण्डर-सा वह जिस ओर को
उड़ते विपक्षी तृण तुल्य थे तुरन्त ही।
वाहन ही कौन था, जो तेज सहे उसका?
पैदल ही प्रलय मचाया उस योद्धा ने।

भागे सब अश्व-गज सामने से उसके,
शल्य ने कठिनता से रोका रथ अपना।
अर्जुन के केतु पर बैठे कपि-केसरी
देखकर उसकी लड़ाई लहरा उठे!
मेघनाद ही क्या यह मित्र बन आ गया,
लेके नया जन्म, अब किसका कुशल है?
कूद कूद कर्ण के शरों को सरकण्डों-सा
धर धर, तोड़ तोड़, हँस हँस, उसने
फेंक फेंक उनको उसी की ओर यों कहा—
"लेके यही अस्त्र आया लड़ने तू मुझसे?
मारें तुझे काका, मैं अकर्ण कर छोड़ूँगा!"
कर्ण भान भूल गया क्षोभ-अपमान से,
मान रख पाया वह इन्द्र की ही शक्ति से,
अर्जुन के मारने को रक्खे वह था जिसे।
काका को बचाके मरा राक्षस भतीजा यों
और पितृ-ऋण से उऋण वह हो गया।

"पीछे अभिमन्यु के गया हा! घटोत्कच भी,
संकट-सहाय मेरा, प्यारा सहदेव-सा!"
क्षुब्ध हुए धर्मराज—"देख लिया सबका
शौर्य मैंने, देखूँ अब कर्ण को मैं आप ही!"
चल पड़े विस्फोटित वे आग्नेय गिरि-से
सक्षमों का क्षोभ भी भयंकर ही होता है।
आये अकस्मात वहाँ व्यासदेव ऐसे में,
देके शुभाशीष बोले वे उन प्रणत से—
"तात, निज मर्यादा समुद्र नहीं छोड़ता,
तुम भी न हो यों क्षुब्ध, स्वाभाविक रूप से
जूझो भले, जैसे वह उत्थित तरंगों से
खेलता है, सटता है हटता है तट से।
कार्य अभिमन्यु से भी मान्य घटोत्कच का;
तुम चिर धर्ममय, विजय समीप है।"
यह कह द्वैपायन अन्तर्द्धान हो गये।
हो गये समाहित युधिष्ठिर प्रथम ही।

"कर्ण, एक शक्ति थी, उसे भी तुम खो चुके।
यह तो था बेटा, अभी बाप-काका हैं सभी!"
"रहने दो मद्रराज, मैं भी अभी शेष हूँ;
अपने ही बल का भरोसा सदा सच्चा है।"
पौरुष से दृप्त अति दीप्त वह हो उठा।

आँधी-सा घटोत्कच तो आकर चला गया,
कर्ण था अटूट सार-धारा का प्रपात-सा,
सामने जो आया, वही डूबा-बहा उसमें!
आशा भी किसी के बचने की रही किसको?
सीमा छोड़ मानो महासिंधु वहाँ उमड़ा।
बात क्या युधिष्ठिर-नकुल-सहदेव की?
उनको डुबाकर न उसकी तरंगों ने,
फेंक दिया एक ओर दूर दारुखंड-सा।
आप भीम भी क्या इस बार पार पा सके?
ढालें मृत हाथियों के देहों की बना के भी
रक्षा नहीं पा सके वे। किन्तु उन्हें उसने
मारा नहीं, कुन्ती को वचन जैसा था दिया।
छोड़ दिया जीता उपहास मात्र करके—
"खाना जानता है और सोना तू, लड़ेगा क्या?
हट जा, न आना अब और मेरे सामने!"
"कर ले प्रलाप मृत्यु-पूर्व कुछ कर्ण, तू,
प्राप्त पुनर्नवता करूँ मैं इस बीच में।
तेरे नीच स्वामी के सहोदर-समूह को
और तेरे अन्य बहु बन्धु-बान्धवों को भी,
मार मार अश्व-गज वाहनों के साथ ही
मानता हूँ, सम्प्रति हुआ मैं कुछ श्रान्त-सा।
वायु भी शिथिल पड़ जाते हैं कभी कभी,
सूर्य भी विराम नहीं लेते क्या दिनान्त में?
फिर भी न भूल, मैं वही हूँ, जिसने तुझे
छोड़ा था धनंजयार्थ अधमरा करके।"
"हाथ नहीं चलते तो मुँह ही चला ले तू!
देखा तुझे, देखता हूँ तेरे धनंजय को।"
करके स्मरण हनूमान-सा स्वबल का

स्वस्थ क्षण में हो भीम आये फिर रण में;
दीख पड़ा सम्मुख ही दुःशासन उनको।
भभक उठे वे—"अरे पापी, तुझको तो मैं
व्योम में रसातल में खोज कर मारता,
भाग्य से तू भू पर ही मिल गया मुझको!"
सिंह-से उछल कब टूट पड़े क्रुद्ध वे,
दुःशासन ने भी तब जाना, जब वे उसे
स्यंदन से खींच फिर पृथ्वी पर आ गये।
कसके चलाये हाथ डूबते हुए ने भी,
किन्तु वे थे भान भूले, मानते क्या उनको?
छिप-से गये वे निज नग्न रोष-ज्वाला में।
पटक-पछाड़ उसे छाती पर चढ़के
गरज उठें यों—"कहाँ दुर्योधन-कर्ण हैं?
शक्ति हो तो रोकें, रक्त दुष्ट दुःशासन का
भीम पीने जा रहा है सबके समक्ष ही!
चुपड़ उसी से वह केश याज्ञसेनी के
उससे कहेगा—'शुभे, वेणी अब बाँध तू।'—"
शस्त्र छोड़ निज के नखों से ही नृसिंह ने
चीर डाला वैरि-पक्ष और—अहो! और क्या?
देख वह घोर दृश्य भाग चले भट भी!

अर्जुन ही एक मुख्य लक्ष्य रहे कर्ण के,
टिक सके उसके समक्ष वही मेरु-से।
दोनों रथियों का वह युद्ध एक दृश्य था,
उनसे भी दर्शनीय सारथी थे उनके।
घात करते थे रथी, सारथी बचाते थे,
वाहों के बहाने नरनाहों को नचाते थे!
"सावधान!" कहके प्रहार किया कर्ण ने,
पैर मोड़ घोड़े झुके तत्क्षण ही कृष्ण के,
बचे पार्थ-प्राण, सिरस्त्राण बाण ले उड़ा।
किन्तु पार्थ ज्यों ही योग्य प्रत्युत्तर दें उसे,
धँस फँसा एक रथ-चक्र त्यों ही उसका,
दीख पड़ा कर्ण मानो भानु निज यान में।
स्वकर उठाके वह अर्जुन की ओर को,

सारथी को असफल देख आप उतरा
और धँसा चक्र धर खींचने चला उसे।
किन्तु खींच पाया नहीं वह उसे आप भी,
मानो भाग्य ने ही उसे नीचे रोक रक्खा था!
बोल उठे पार्थ—"कर्ण, किस अधिकार से
मुझसे ठहरने को कहता है क्रूर, तू?
भूल गया आज ही क्या बात वह कल की—
'हिंस्र पशुओं से सम युद्ध नर क्यों करें,
शुद्ध सार-शस्त्र जब कर में हो उनके?'
आती है सभी को सुध संकट में धर्म की
किन्तु तूने पहले ही घात किया उसका।"
यह कह दाँत पीस क्रोध से अबोध ज्यों
आकर्षित उग्र शर छोड़ दिया पार्थ ने,
कट कर कर्ण-शिर टूट गिरा तारे-सा।
तारे ही दिखाई दिये दिन में विपक्ष को!
तो भी एक तेज कढ़ कर्ण के ललाट से
ऊर्ध्वगति तारक-सा लीन हुआ रवि में।

कर्ण तक ही थी सब आशा कुरुराज की,
जूझा वह निर्मम-निराश-सा ही अन्त में।
शल्य को बनाया निज सेनापति उसने।
शल्य बोला—"तुमने जो मान किया मेरा है,
उस पर वार दूँगा प्राण भी मैं अपने।
किन्तु मैं सहूँगा नहीं भीष्म और द्रोण ज्यों,
व्यंग से तुम्हारा बार बार वह कहना,—
'प्रीति है तुम्हारी पाण्डवों पर, इसीलिए
जीत नहीं हो पाती हमारी इस युद्ध में।'
जीवित युधिष्ठिर को धर न सके द्रोण भी,
कामना तुम्हारी यह पूर्ण कर दूँगा मैं;
अन्यथा स्वयं ही हुत हूँगा समराग्नि में।
अणु-परमाणु मेरे सारे ही तुम्हारे हैं।"
"कब किससे क्या कहूँ, जानता हूँ तात, मैं।"
मौन हुआ दुर्योधन इतना ही कहके।

शल्य के पराक्रम से एक बार फिर भी
लौटता-सा साहस दिखाई दिया सेना का।
किन्तु एक बार करवाल लिये काल-सा
दौड़ा जब शल्य टूटे स्यंदन से कूद के—
धरने वा मारने युधिष्ठिर को वेग से,
तब घबराये बिना धीर धर्मराज ने,
लेने को स्वभाग मानो मातुल-हृदय का,
उसको विभक्त कर डाला तीक्ष्ण शक्ति से!

काट इसी बीच दो दो पुत्र और कर्ण के
मारा म्लेच्छराज को भुजंग-सा नकुल ने।
और सहदेव ने उलूक-पात करके,
वंचक शकुनि के भी प्राणों को उड़ा दिया;
काम नहीं आयी कुछ धूर्त-विद्या उसकी।

घायल-सा घोड़े पर बैठा घूम घूम के
दुर्योधन सेना को सँभालता था व्यर्थ ही।
भूला जयी पक्ष ध्यान उसका भी हर्ष से
फूल कर। ले जा कर एक ओर उसको
बोले कृपाचार्य—"वीर, अब भी जो चाहो तो
पाण्डवों से सन्धि का प्रयत्न करूँ जाके मैं?
आशा है युधिष्ठिर से चाहे जब जो मुझे,
छोड़ा है उन्होंने सदा औरों पर आपको,
मानेंगे तुम्हें वे भीमसेन के समान ही।"

हाय! भर आईं आज आँखें कुरुराज की,
कौन जाने शोक से वा क्षुब्ध अभिमान से।
बोला अश्रु रोक बली उन्मुख हो उनके—
"आर्य मेरे हित के लिए ही यत्नशील हैं।
मुझसे कहा था यही मान्य पितामह ने,
तब भी था आदि ही-सा किन्तु अब अन्त है!
अन्तर है इनमें, परन्तु मुझमें नहीं।
हत हैं पितामह, निहत गुरुदेव हैं;
और वह कर्ण—मेरा कर्ण—सुख-दुःख का

साथी गया पुत्र और भाइयों के साथ ही—
मेरे अर्थ। मेरा भक्त दुःशासन भी गया,
मारा हा वृकोदर ने कैसा पशु-सा उसे!
सौ थे हम, आज यह एक ही मैं शेष हूँ;
भाई भी भतीजे भी सभी तो गये मेरे हैं।
लक्ष्मण-समान सब मेरे पुत्र हैं कहाँ?—
जब मैं पड़ा हूँ यहाँ जीवित नरक में।
पाण्डवों का एक अभिमन्यु मात्र जिसके
बल से विजित हुआ, डूबा सिन्धुराज है।
मातुल शकुनि-से हितैषी भी नहीं रहे।
सौ सौ मित्र राजा, त्यक्त जीवित मदर्थ जो
आये थे, सभी के सभी मृत्यु-मुख में गये।
किसके लिए मैं अब इच्छा करूँ सन्धि की?
लेकर किसे मैं अब भोगूँ राजभोग भी?
त्यागी आप और गुरु-पुत्र तो तपस्वी हैं।
अन्ध मेरे वृद्ध पिता-माता, हाय! फिर भी
उनके समक्ष भी मैं जाऊँ किस मुँह से?
क्या है आज, सान्त्वना दूँ जिससे मैं उनको?
आशीर्वाद चाहता हूँ एक यही आपसे
अन्त तक आन बान अपनी निभा सकूँ।

मानता हूँ बात धर्मराज के विषय में
आपकी यथार्थ। राजसूय की समाप्ति में
मुझको उन्होंने रोक आप यह था कहा—
'तात, मैंने निश्चय किया है यही मन में,
तुम अपनों के अनुसार ही चलूँगा मैं।'
किन्तु जिन्हें मैंने पाँच गाँव भी नहीं दिये,
सन्धि करने के लिए कैसे कहूँ उनसे?
मैंने जो कराया यह इतना विनाश है,
व्यर्थ कर दूँ क्या इसे? आप ही बताइए,
क्या मुख दिखाऊँगा मरों को मर कर मैं?

विधि की विनोद-लीला हार-जीत जन की!
युद्ध भी जुआ-सा एक खेल प्राण-पण का।

हारे हैं बली भी यहाँ, निर्बल भी जीते हैं,
किन्तु वीर हारे कहाँ जीवन-मरण में?
अब भी गदा है अतिरिक्त मेरे हाथ में,
भीम और जो हो, उसे देता हूँ चुनौती मैं।
किन्तु कुछ वेला माँगती है श्रान्ति मुझसे!"

"धन्य वीर धन्य! यह एक गेय गुण ही
मुझको तुम्हारे सब दोष भुला देता है।
जाओ, श्रान्ति मेटो तुम, शीघ्र ही मिलूँगा मैं।
अष्टादश अक्षौहिणी अष्टादश दिन में
हो गयी समाप्तप्राय, पाण्डवों के थोड़े से
सैनिक बचे हैं, इस ओर तुम राजा हो,
मैं हूँ, कृतवर्मा के समेत अश्वत्थामा है।
लड़ सकते हैं पाण्डवों से हम चार ही।"
"मैं अनुग्रहीत हुआ, तोष यही मुझको,
अन्त तक कोई त्रुटि छोड़ी नहीं हमने।"

जाने लगा ज्यों ही कुरुराज, सुना उसने—
"वीर, कुछ क्षण दो मुझे भी कष्ट करके,
जानता हूँ, इष्ट तुम्हें सम्प्रति विजन ही।"
यह कृतवर्मायुत उग्र अश्वत्थामा था,
मुँह भभरा था, केश बिखरे थे उसके।
असजग दीप्त दृग, पग डगमग थे।
"पागल न हो यह," विचारा कृपाचार्य ने।
बोला वह उनको प्रणाम कर राजा से,
"वीर, विजयी हो तुम, जीवित हूँ मैं अभी।
आज रात जैसे बने, वैरियों से बचना,
आके स्वयं सूचित करूँगा सुप्रभात मैं।
राज़-शिविरों में शत्रु सो लें आज सुख से
किन्तु मुँह धो लें फिर जागने से वे सभी!"
"सेनानी तुम्हीं हो अब शेष हम सबके,
किन्तु गुरु-पुत्र! एक पिण्डदाता छोड़ना।
पास ही मैं ह्रद में रहूँगा, और क्या कहूँ?"
"जीवित के अर्थ पिण्ड-पानी, नहीं जीव के।"

"तात, श्रद्धा-भक्ति का तो भूखा भगवान भी।
जीवन का वैर रहे मृत्यु के भी साथ क्या?"
यों कह विनम्र हो सुयोधन चला गया।
सोचने लगे वे शेष तीनों भावि योजना।

बोले इस ओर कृष्ण भावोन्मत्त भीम से—
"भूलो मत वीर, अभी दुर्योधन शेष है!"
चौंक-से गये सब—"परन्तु वह है कहाँ?"
भीम बोले—"डूब मरा होगा कहीं पानी में,
मुँह क्या दिखायगा किसी को और हमको?"
"ऐसे मरने का नहीं वह चिर साहसी,
निश्चय छिपा है कहीं पास के ही ह्रद में,
कुशल बली है जल-वास की कला में भी।"

आकर चरों ने तभी सूचित किया उन्हें—
"पास ही सरोवर में दुर्योधन पैठा है।"
खोजने चले वे सब शीघ्रता से उसको।
आज्ञा दी युधिष्ठिर ने पहले युयुत्सु को—
"जाओ, तुम वीर, हस्तिनापुर तुरन्त ही
लेकर सुयोधन के परिकर वर्ग को।
संजय को मारा नहीं, छोड़ दिया हमने,
ले लो उसको भी संग, जैसे बने तात को
धीरज बँधाना और माता को सँभालना।
आये तुम मेरे साथ, तब वे समर्थ थे,
पा सकेंगे आज वे तुम्हीं से कुछ सान्त्वना।"
"जो आज्ञा" युयुत्सु कह पाया कहाँ उनसे,
उसका गला था भरा, वह सिर झुका गया।

कोस भर दूर था जलाशय शिविर से।
तीर पर पहुँच निनाद किया भीम ने—
"दुर्योधन है क्या यहाँ? जाँघ ही निकाल दे,
बनने चली थी जो द्रुपदजा की पीठिका!"
जिस नलिका से श्वास-वायु नीचे जाता था,
भीम-गर्जना भी घुस पैठ गयी उसमें—

"मैं तो जानता था, कुछ तत्त्व होगा तुझमें,
किन्तु ऐसा कापुरुष निकला तू अन्त में,
सबको समक्ष कटवा कर समर में,
धिक! छिप बैठा आप मरने के डर से।
माँग प्राण-भिक्षा फिर निर्भय विचर तू।
रो रही हैं तेरी गृह-नारियाँ बिलख के,
रो रहे हैं अन्ध वृद्ध माता-पिता, उनको
सान्त्वना दे, देख खड़े कृष्ण-युधिष्ठिर ये,
सहज उदार क्षमा देंगे, यदि चाहे तू।
अन्यथा सौ कोठों में तुझे क्या भीम छोड़ेगा?"
सह सकता है वीर किसकी प्रचारणा?
ऊँचा गदा गेंद किये उद्‌धृत भू-गोल-सा
निकला कुरूद्वह बराह-सा सलिल से!
किंवा मद-कुम्भ धरे दैवत-द्विरद-सा
दैव-वश हो के स्वयं शकुन विपक्ष का!

"देखो यह आ गया मैं, आओ, जिसे आना हो।
दूँगा प्रतिवाक्य तुम्हें कर्म के कुशब्दों का!
होती है विराम की अपेक्षा चेतना को ही।
जीने के समान मरना भी जानता हूँ मैं,
जीते रहें तुमसे अलज्ज अपमान में।
चाहता था राज्य जिन्हें लेके, वे चले गये।
लेकर उन्हीं की वैरिशुद्धि आज तुमसे
मैं भी चला जाऊँगा पुनीत तपोवन को।
भुक्तोज्झिता वसुधा रहेगी, उसे कोई ले।
ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊँगा।
पौरुष तो मेरा जन्म-जात अधिकार है;
कुशल तुम्हीं हो क्लीव-जीवन बिताने में!"
"साधु सत्यवादी, साधु! पौरुष के पुतले!
संयम-नियम को भी क्लैव्य कहता है तू।
पौरुष न होता यदि ऐसा बड़ा तेरा तो
कर्ण कैसे सेवक से स्वामी बन बैठता?
अब भी उसी का अनुगामी क्यों न होगा तू;
जूझा हमसे था जिस मत्सरी के बल से।

कुछ कह, मरता सो क्या न करता यहाँ?"

घोर गदा-युद्ध हुआ भीम दुर्योधन का।
छाया भर छोड़ मानो रुण्डों पर मुण्डों की
दोनों गदा दण्डों पर लेकर उन्हें लड़े!
आ-सा गया भूमण्डल पैतरों में घिरके!
घोर रव ही न उठा बजती गदाओं का,
दर्शकों की दृष्टि छूती छूटी चिनगारियाँ!

भीम ने जो आती हुई देखी कुछ क्लान्ति-सी,
करके स्मरण पुनः द्यूत-सभा-काण्ड का,
कूद सिंहनाद कर द्विगुणित वेग से,
वज्र-सा प्रहार किया ऊरु पर उसके,
गिर पड़ा योद्धा—"धिक पापी!" कहता हुआ।
"पापी मैं नहीं, तू" यह कहकर भीम ने
मारी एक लात और सिर पर उसके।
"हैं हैं भीम!" बोल उठे कृष्ण-युधिष्ठिर भी,
अर्जुनादि का भी सिर नीचा हुआ लज्जा से।

लौट बलराम इसी बीच वहाँ पहुँचे,
आँखें यह देख दूनी लाल हुईं उनकी।
लांगल उठाके चले मारने वे भीम को—
"मैंने गदा-युद्ध यही तुझको सिखाया था?
होता उत्तरांग ही नहीं क्या लक्ष्य उसका?
नियम-विरुद्ध तूने मेरे अन्य शिष्य को
मारा, रह, मैं तुझे भी जीता नहीं छोड़ूँगा।"
आकर तुरन्त मधुसूदन ने बीच में
रोक लिया अग्रज को और कहा उनसे—
"भीम की प्रतिज्ञा थी, इन्होंने वही पूरी की;
था संयोग ही जो गदा हाथ में थी इनके।"
"नहीं-नहीं!" भीम बोले—"मैंने कहा स्पष्ट था—
तोड़ूँगा गदा से जाँघ मैं इस जघन्य की।
शुद्ध योद्धाओं के साथ युद्ध के नियम हैं,
कापुरुष क्रूर यह, सच्चे बली छल का

लेते नहीं आश्रय, कुलस्त्री की कदर्थना
करते नहीं वे, इस दुष्कृत ने जैसी की
दुःशासन युक्त, रक्त मैंने पिया जिसका।
केवल विकर्ण-वध चाहता नहीं था मैं,
विवश उसी ने किया उसके लिए मुझे।
मैं कर चुका हूँ पूर्ण अपनी प्रतिज्ञाएँ,
और जय हो चुकी है मेरे धर्मराज की,
मेरे बलदेव अब मारें भले मुझको।
अब प्रतिकार कहाँ, शेष यहाँ प्यार ही।"

"कौन मारे उसको, बचावें कृष्ण जिसको?"
बोले बलभद्र फिर हरि से—"हरे-हरे!
धर्म का भी पक्षपात क्या तुम्हें उचित है?"
हरि हँस बोले—"तात, ठीक यही बात है,
धर्म की ही ओर मेरी मति-गति है सदा!"
"चुप रहो दुष्ट!" हँस बैठे बलराम भी!
"जो कुछ हुआ है, सब दारुण-करुण है।
मानता हूँ, दुर्योधन भूल करता गया,
क्रूरता दिखाई सदा शूरता ने इसकी,
तृप्त नहीं होते दृप्त अपने ही सुख से,
दूसरे के दुःख से ही उसकी विशेषता।
किन्तु दूसरा था कौन, भाई सब थे यहाँ,
कौन पर-पाप अपनों के बीच आ गया?—
सबको लड़ाके आज सबसे परे हुआ।
दोष रहें, गुण ही हैं ध्येय-गेय गत के,
किन्तु मेरी पीड़ा नहीं दुर्योधन तक ही;
हाय! सारा उपवन छिन्न-भिन्न हो गया!

माधव, मुझे कुछ समझ नहीं पड़ता,
मन में तुम्हारे कब क्या है, कहूँ कैसे मैं?
मैं तो हली-हाली, तुम ज्ञानी और योगी हो।
कैसी यह साधना की तुमने समाधि में?
हाय चक्री, क्या हुई तुम्हारी वह मुरली?
क्या हुआ तुम्हारा व्रज! कालिन्दी कहाँ रही?

कैसे दिन थे वे कनू, कैसा यह काल है?
गायें ही भली न थीं क्या स्यंदन के घोड़ों से?
घट न तुम्हारा रस-गोरस से जो भरा,
द्वारका का सिन्धु भी उसे क्या भर पा रहा?
कुरुओं की ऐसी गति वृष्णियों की भी न हो,
डूब गया कृष्ण, महा भारत रुधिर में!

युद्ध के भी लाभ होंगे, सर्वनाश यह तो,
सिहर उठा मैं यहाँ सुनकर ही जिसे।
कैसे वह देखा गया तुमसे सहा गया?
वीर-रस-भाव रखता हो युद्ध आदि में,
रौद्र-भाव मध्य में, भयानक है अन्त में;
और परिशिष्ट में तो है वीभत्स ही सदा!
शत्रुओं का पीछे, घात पहले ही अपना
करते हैं लोग भय-रोष किंवा लोभ से,
चोट कर अपने चरित्र पर आप ही;
अनुचित उचित प्रतीकार नहीं देखता।
तुच्छ मशकों-से सूक्ष्म कीट-कृमि-दंश भी
भेद डालते हैं जिन्हें ऐसे नर देहों को
शक्ति, शूल, परशु, कृपाण, कुन्त, बाणों से
छिन्न भिन्न करके जनाता नर गर्व है!
कब से यही क्रम अखण्ड चला आ रहा
और नर जीवित है अब भी, मरा नहीं!
निश्चय मनुज ही दनुज रक्तबीज है।
मानुष की सत्ता हा! अमानुषिकता में है!

कृष्ण, विष व्यापा यहाँ मेरे मोद-मधु में।
अपनी-सी आकृति-प्रकृतियाँ थीं जिनकी,
अपने से देह-मनः-प्राण रखते थे जो,
अपनी-सी जिनमें थी आशा-अभिलाषाएँ,
अपना-सा जीवन अभीष्ट जिन्हें था यहाँ,
आप ही कराल शस्त्र मारकर उनको
अपनी ही मूर्तियाँ-सी भंग की मनुष्यों ने,
हाय! अपने से हार मात्र मनवाने को

आप जिसे मानने में लज्जा उन्हें आती थी!

किंवा अपने-से ही मनुष्य क्यों कहूँ, स्वयं
अपने ही भाई-बन्धुओं को, बड़े-बूढ़ों को
मामा-भानजों को, गुरु-शिष्यों को, सखाओं को,
साले-बहनोइयों को, काकाओं-भतीजों को,
अपने ही हाथों मार डाला यहाँ लोगों ने!
और अपनी ही बड़ी छोटी कुलदेवियाँ
काकियाँ - बुआएँ स्नेहमूर्ति मामी - मौसियाँ,
भानजी - भतीजियाँ, बहिन - बहू - बेटियाँ,
सलहज-सालियाँ, सहज सखी भाभियाँ
विधवा बना दीं आत्मघातकों ने सहसा!
बैठ जिन कन्धों पर शैशव में खेले थे,
काट डाला यौवन में आप उन्हें क्रूरों ने!
कन्धों पर जिनको चढ़ाये फिरे प्यार से,
करके हताहत गिराया उन्हें धूलि में!
धिक यह घोर कर्म! शर्म कहाँ इसमें?
एक साथ बढ़े-पढ़े, खेले-हँसे-बिलखे,
शोणित के प्यासे हुए आपस में ऐसे वे,
होते नहीं जैसे हिंस्र पशु भी अरण्य के।
धिक नर नागरों के अर्थ की अनर्थता!
दीख पड़ते हैं मुझे दोनों पक्ष हत्यारे!
शून्य भी भला न था क्या शेष हाहाकार से?"

बोल उठे बीच में युधिष्ठिर—"यथार्थ है,
किन्तु भद्र, मेरा पक्ष सर्वथा विवश था।
दोष नहीं मेरा, यदि है तो क्षात्र धर्म का!
हम अपराधी निज धर्म पालने के हैं।
वह है विगुण तो हमारा अपराध क्या?
तात, पर-धर्म तो भयावह कहा गया।
अन्यथा मैं भूप नहीं भिक्षुक भुवन का।
मानो वा न मानो तुम, मेरा मन आदि से
सबको बचाने के लिए ही यत्नशील था,
यद्यपि मैं माना गया भीरु स्वजनों से भी।"

"जानता हूँ आर्य तुम्हें, हरि से विनोद में
एक बार मैंने ही कहा था—'युधिष्ठिर तो
साधु हैं स्वभाव से ही, क्यों उस निरीह को
राज्य के प्रपंच में फँसा रहे हो तुम यों?
एक कमंडलु ही यथेष्ट उसके लिए!'
हँसके इन्होंने कहा—'भैया, एक मात्रा ही
इधर लगा रहा हूँ लेके मैं उधर से,
और कमंडलु को कुमंडल बनाता हूँ!'
किन्तु मैं प्रकट करूँ दुःख कैसे अपना?"
"राम, अब भी मैं यही कहता हूँ मन से
कामना नहीं है मुझे राज्य की, वा स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही
ज्वाला ही जुड़ा सकूँ मैं अपनों के दुःख की
भोगूँ अपनों का सुख, मेरा पर कौन है?
सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों,
सब शुभ पावें, न हो दुःखी कहीं कोई भी।"

यों कह युधिष्ठिर अधीर भावावेश से,
बैठ गये धूलि में, सुयोधन के पार्श्व में?
अंक में समेट उसे बोले आर्द्र वाणी से—
"भाई, यदि अब भी तू भूल नहीं मानता,
तो मैं मानता हूँ उसे तू क्षमा ही कर दे।
युद्ध परिसीमा है परत्व के विकास की,
तू ही नहीं हाय! आज मैं भी हूँ लुटा-कुटा।
और कह तुझसे कहूँ क्या हतभाग्य मैं?
तेरा ऊरुचरण बनूँगा मैं, न जा तू यों
छोड़ निज धाम-धरा अरुण अनूरु-सा!"
अद्रि-से अटल में भी फूटा आज उत्स-सा—
"आर्य, अब जीवन तो मेरे लिए मृत्यु है।
नीचे का विरोध रहे, ऊपर मिलूँगा ही;
मिलना वहीं है, यहाँ केवल बिछुड़ना।—"
मौन हुआ वीर धीर धर्मराज रो उठे,—
"सम्मुख समर में निहत स्वर्ग-भागी तू,
जीवित नरक-भोग मेरे लिए है यहीं।"

बोले भगवान यों गभीर खड़े भ्राता से—
"पाँच गुना पातिव्रत पाला यहाँ जिसने,
मेरी उस एक शीलशालिनी बहिन की
घर्षणा का कर्षणा का यह परिणाम है।
कल भी मरेंगे, जो न लेंगे सीख आज से,
आवर्तन आगे न हो इस इतिहास का।
किन्तु तात, कातर क्यों तुम इस घात से?
जब तक जगती है, अंकुरित होगी ही;
नित्य नये फूल-फल फूलेंगे-फलेंगे ही।
आज भारलाघव हुआ है कुछ उसका,
माता भूमि होगी नहीं हीन पृथ्वीपुत्रों से।
और यह भारत तो भव का भी भव है,
इसका विभव एक मुझमें ही अल्प क्या?
युद्ध की अशोभ्नता जन यदि जान लें,
तो न होगा व्यर्थ यह इतना अनर्थ भी।
तात, इसे जाने और माने बिना गति क्या?
कौन हो निराश इस मेरी पुण्यभूमि से?
आगे आयँगे सो आप आगे की सँभालेंगे,
छोड़ें आज इंगित जो, वे भी कृतकृत्य हैं।
भावी तो समृद्ध है सदा ही वर्तमान से,
आज के प्रलय में भी जय किस अन्य की?
कल की विजय भी मैं आज ही मनाता हूँ!"

अंजलि और अर्घ्य

श्रीराम

निवेदन

उस दिन कुछ ज्वर होने के कारण, दिया जले ही मैं जा लेटा था। सहसा रेडियो का शब्द सुनकर उठ गया और जो कुछ सुना उससे 'अरे राम!' कहते कहते स्तब्ध हो गया।

रात को कितनी बार उन दो शब्दों का उच्चारण मैंने किया, मुझे स्मरण नहीं। परन्तु उनके अतिरिक्त कुछ कहने के लिए वाणी जैसे जड़ हो गयी थी।

सबेरे भी मैं यही कह सका—

अरे राम कैसे हम झेलें
अपनी लज्जा, उसका शोक?
गया हमारे ही पापों से
अपना राष्ट्रपिता परलोक!

काल गतिशील है। परन्तु मेरी वाणी इस सम्बन्ध में जहाँ की तहाँ थी। उसे कुछ कहने का साहस ही न होता था। इष्ट मित्रों ने प्रेरित भी किया, परन्तु उस ओर जाते ही वह हतचेत-सी हो उठती थी। दिन पर दिन बीतते गये, बीतते गये, मैं कुछ भी न कर सका। बीच में एक आध बार चेष्टा भी की, परन्तु वह दो-चार पंक्तियों के आगे न चल सकी।

तथापि श्रद्धांजलि न देने में धर्म-हानि थी। उसी से बचने का यह प्रयत्न है। इतना भी करना सम्भव न होता, यदि वर्तमान व्याधियाँ इसे न कर जा सकने की ग्लानिमयी आधि उत्पन्न न कर देतीं।

लिखने पर भी इसके प्रकाश में सवा डेढ़ वर्ष का विलम्ब हुआ। कारण क्या बताऊँ।

2007 वैक्रमाब्द

श्रीगणेशाय नमः

अंजलि और अर्घ्य

अरे राम! कैसे हम झेलें
अपनी लज्जा उसका शोक?
गया हमारे ही पापों से
अपना राष्ट्रपिता परलोक।
हे भगवान, उदित होते हैं
क्या अब भी तेरे रवि-सोम?
आँखें रहते देख रहे हैं
हम क्यों केवल तम का तोम।
स्वयं मनुज ने मनुज जाति का
किया उजागर कैसा नाम,
लिया अपूर्व काम जिस जन से
दिया उसे ऐसा विश्राम!
उसका क्या, हम कोटि कोटि का
घात किया है घातक ने,
अथवा प्रकट रूप रक्खा यह
छिपे हमारे पातक ने।
म्लेच्छ भंग कर गया मूर्ति युग–
पुरुषोत्तम की मर्म मयी,
जानी जाती नहीं रूप से
जाति प्रकृति-गुण-कर्म मयी।
अट्टहास कर बधिक, बुझाकर
हम असंख्यकों का दिग-दीप;

रहने योग्य करेगा इसको
श्रम करके अपना ही गात्र।
स्वतन्त्रता आ गयी, अभी उस
लक्ष्मी को तो आना है,
और साथ ही सरस्वती को
हमें मना कर लाना है।
हम स्वाधीन हो गये, सहसा
भूल कहीं फिर भटक न जायँ,
न जा, हमारे त्राण-कवच, तू,
हम काँटों में अटक न जायँ!
पराधीनता के दृढ़ बन्धन
तेरे बल से टूटे हैं,
पर हा! उसके अभिशापों से
हम क्या अब भी छूटे हैं?
तेरी छाया उठी और वे
आशा के गढ़ गिरे यहाँ,
बापू, अभी हमारे दिन हा!
फिर कर भी क्या फिरे यहाँ!
काटे जो पर-बन्धन तूने,
हम निज में ही नहीं रहे,
छोड़ नियम-संयम भी सहसा
लोग कहीं के कहीं बहे।
धीर भगीरथ-सा लाया तू
स्वतन्त्रता की शुभ धारा,
कैसे हाथ पखारे हमने,
कैसा पुरखों को तारा!
आज योग्यता का बन्धन भी
मानें क्यों हम हुए स्वतन्त्र,
पद के अर्थ मिला है हमको
जन-सेवा का माया-मन्त्र!
तेरी अटल अहिंसा ने पर–
शासन का आखेट किया,
उसे, यही कहना पड़ता है,
क्या कुत्तों को भेट किया!

बने साह भी चोर अचानक,
फिर चोरों की कौन कहे?
घाल रहीं कितने घर घूँसें,
यही भला, मुख मौन रहे।
स्वयं भ्रष्ट होने को ही क्या
हमने था वह कष्ट किया,
स्पष्ट म्लेच्छमुख की मुद्रा पर
मन का मोती नष्ट किया।
अलग अलग झंडे फहराकर
बढ़ से चले नये नेता,
और देश के विक्रेता भी
बने हमारे हित-चेता!
भक्त, कहीं रख सकते कुछ भी
हम तेरा सद्भाव सशक्त,
तो विभक्त होकर क्यों बहते,
आप बहाकर अपना रक्त।
यहाँ यादवी गति का ही यह
जब हमने अनुसरण किया,
तात, इसी कारण क्या तूने
निज लीला-संवरण किया?

लौट लौट, यह लुटा जा रहा
तेरे अर्जन का निधि तो,
तूने हमें स्वराज्य दिया है,
बता भोगने की विधि तो।
तेरे अपने जन भी जब तक
रखते थे तुझसे मत-भेद,
पर बह गया रक्त भी तेरा,
कोई बहा न पाया स्वेद।
जन्मों के श्रम से जीवन का
बना उपक्रम था यह एक,

उसकी उस सजीव आकृति का
सम्भव है क्या अब अभिषेक?
स्वयं सिद्ध तुझको स्वराज्य था,
सभी सुलभ था, धन, पद, मान,
हुआ हमारे अर्थ निःस्व तू,
तुले कहाँ यह त्याग महान?
तूने निज सर्वस्व आप ही
दीन जानकर हमें दिया,
और अन्त में हमने तेरा
प्राण-रत्न भी लूट लिया!
वणिग्जाति के गुण ने तुझमें
निज यथार्थ गौरव देखा,
रक्खा है, तूने भर पाई
पाई पाई का लेखा।
दिया बाप ने आभिजात्य निज,
माँ ने तुझको निष्ठा दी,
सृष्टि और स्रष्टा दोनों को
तूने नयी प्रतिष्ठा दी!
देख न शिक्षक का इंगित, सह
बाह्य परीक्षा की बाधा,
बाल्यकाल में ही दृढ़ता से
सत्य-धर्म तूने साधा।
रोक सका क्या तुझे दण्ड-भय
कह देने से संगति-दोष?
सुन रो पड़े पिता पुलकित हो
कहाँ बह गया उनका रोष!
तेरी पुण्यशीलता अपनी
सप्रमाणता ले आयी,
हम सबकी 'बा' जैसी तूने
पतिव्रता पत्नी पायी,
नव यौवन की भोग-लालसा,
पर वह भी थी घर घेरी,
आयी जो उपपत्नी होकर,
गयी बहन बनकर तेरी!

अल्प वयस में ही अम्बा को
दिये वचन तूने पाले,
बने वासनाओं के वन में
वे भी तेरे रखवाले।
तू विदेश में भी एकाकी
पशुता के प्रतिकूल लड़ा,
अड़ा जहाँ भी मनुष्यत्व के
अधिकारों के अर्थ अड़ा।
पाकर तुझसे क्षमा प्रहारक
पिघला भले पठान प्रचण्ड,
किन्तु दुष्टता पर न उठे क्यों
जब तक है शासन का दण्ड?
उदित हमारे भाग्य गगन में
तू नवीन नक्षत्र हुआ,
मंगलमय तेरा प्रभाव-फल
अत्र, तत्र, सर्वत्र हुआ।
पहले तो लोगों ने तुझको
निरा स्वप्न-दर्शी जाना,
किन्तु शीघ्र ही विस्मित होकर
निज मर्मस्पर्शी जाना।
देकर नील-कलंक हमें जो
करते थे विहार-विभ्राट,
तेरी आहट पर ही मानो
भगे उलटकर अपना टाट!
सुन तेरा मृदु-कठिन मन्त्र उठ
जनता मानो पार गयी,
और मुक्ति के अर्थ बद्ध हो
हँस हँस कारागार गयी।
अबलाएँ भी तेरे बल से
बाहर आ आकर जूझीं,
कुछ न समझ कर भी वे अपनी
सन्त-भक्ति समझी बूझीं।
खारा मुख कर बोले बहु जन
तूने लवणासुर मारा,

पर तटस्थ कट गये, बही जब
क्षार-सिन्धु की खर-धारा!
तेरी दृढ़ पिंडलियाँ आगे
देख समझते अनुचारी—
भार वहन कर सकती हैं वे
विद्यमान से भी भारी।
अंगद का पद डिगा न पाई,
डोली रावण की लंका,
तेरी दृढ़ गति रोक सकी क्या
शोषक शासन की शंका?
कूट कपट के विकट कटक में
रक्खी तूने सच्ची टेक,
साम-दाम की दण्ड-भेद की,
चली न तेरे आगे एक।
क्रुद्ध युद्ध-पद्धति पर यह क्या
नयी अचीती धार पड़ी,
तन तक ही जिसका प्रहार था,
उस पर मन की मार पड़ी!
समझ नीति ही तेरी सृति को
हुए स्वतन्त्र सहज गति युक्त,
किन्तु धर्म-धृति थी वह तेरी,
जन हों जिससे जीवन्मुक्त!
था स्वराज्य साधन ही तेरा
मुख्य साध्य सत्-चित्-आनन्द,
उनको मुक्ति कहाँ, जिनका है
ऐहिक जीवन ही मृत मन्द।
माना हमने बाहर बाहर,
तुझे न भीतर से जाना,
बोली बहुत नाम की जय तो,
पर न रूप-गुण पहचाना।
विनयशील सम्पन्न कहाँ तू,
अहम्भाव भर सकता था?
उच्चस्थिति में भी इतरों से
समझौता कर सकता था।

उद्धत रहे राम के सम्मुख
कोई रावण कहीं भले,
मिलने से भी डरे विरोधी–
मोहन हमको मोह न ले!
'गाँधी आया!' चौंक विपक्षी
जब तक सोते से जा़गे,
निज भय के भ्रम के ही मारे
वे भहराकर उठ भागे!
सत्याग्रह रखकर भी तूने
कब मिथ्या हठ दिखलाया?
कुटिल नीति को भी सीधा कर
सरल रीति-गुण सिखलाया।
स्वार्थ-संथियों को भी तूने
त्याग-पन्थ की दीक्षा दी,
व्यवहारों से सिद्धान्तों की
अद्‌भुत अग्नि-परीक्षा दी!
जिसे न्याय जाना जब तूने
माना निर्भय निस्संकोच,
बने स्वजन भी परजन जैसे
दुःख हुआ पर तुझे न सोच।
अपनों की भूलों का तूने
अपने ऊपर भार लिया,
अणु-सा अपना भ्रम हिमगिरि-सा
मान उसे स्वीकार किया।
मन की मन में कसक रही है
हिन्दी की यह अभिलाषा,
तुझसे पीठ न ठुकवा पाई
जब वह बनी राष्ट्रभाषा।
तेरी इच्छा के विरुद्ध जो
अपनी सी कर लेते हैं,
औरों को किस मुँह से तेरी
वही दुहाई देते हैं?
जन-तन्त्री होकर बहु-मत को
समुचित मान दिया तूने,

भिन्न मान्यता में भी उसको
योग प्रदान किया तूने।
सम्मुख आये हुए दुःख भी
तूने सुख से भोग किये,
तन के साथ मुख्य मन के ही
निर्भय नये प्रयोग किये।
देख स्वयं फल-सिद्धि गर्व से
फूल उठे कैसे निस्संग?
तू अनुशासन का प्रतीक था,
नम्र भाव का ऊँचा अंग।
घोर विषमता ने जगती में
जब जन जन को विद्ध किया,
सौम्य, समत्व योग तब तूने
शुद्धात्मा से सिद्ध किया।
कठिन परिस्थिति में भी हँसती
तेरी सहज तरलता थी,
स्थितप्रज्ञ, तेरी प्रतिमा से
विजड़ित तड़ित्तरलता थी।
भावुक समझे थे जो तुझको,
वे भी भक्त हुए तेरे,
विज्ञ विपक्षी भी विश्वासी
हो अनुरक्त हुए तेरे।
यदि सच्चे श्रद्धालु बुद्धि-वश
हुए कहीं तुझसे न्यारे,
तो उदार, पहले से ही वे
बने रहे तेरे प्यारे।
कहाँ मान-सम्भ्रम का मन में
माना तूने मिथ्या गर्व?
तू जिस ओर गया, आ पहुँचा
मूर्तिमन्त-सा पावन पर्व!

तेरे पथ में अभी जनों ने
न थी यथा विधि गति पायी,
चलने की चर्चा सुनकर ही
मुक्ति आप दौड़ी आयी।
सन्त, शोषकों से भी तूने
परिपोषक व्यवहार किया,
गोरों का उनकी उस काली
करनी से उद्धार किया।
सत्य उठा जाता था, तू ही
आग्रह कर लौटा लाया,
उसे विचारों-आचारों में
मन से तूने अपनाया।
दुर्वासा जैसे ऋषि हारे,
जीता तूने दुर्जय क्रोध,
विनय न छोड़ा, किया भले ही
असहयोग सा विकट विरोध।
ऋषि दधीचि का अस्थि-चाप था
बना वृत्र के यम का दूत,
रमे जहाँ तेरी भभूत भी
वहाँ कहाँ किस भय का भूत!
गिर सकता था कभी कहीं भी
तप से दुर्बल तेरा देह,
पर तुझ में था अटल आत्मबल,
घुटी आँधियाँ, सूखे मेह!
साध्य तुल्य साधन भी तूने
अपनाये शुभ, शोभन, शुद्ध,
शठ के प्रति भी साधु रहा तू,
जूझा उसके शाठ्य विरुद्ध!
जो अमित्र होकर आये थे,
बिदा हुए वे बनकर मित्र,
धन्य अजातशत्रुता तेरी,
हो तो ऐसा पुरुष चरित्र!
कठिन साधना की टाँकी से
जो अपने को आप गढ़े,

लाख ठोकरों से वह तुझ-सा
ठाकुर होकर ˎकहीं बढ़े!
चढ़कर कितनी कठिन सीढ़ियाँ
निज पद पर आसीन हुआ,
बढ़कर धन्य तपस्वी नर, तू
नारायण में लीन हुआ!
हुआ देवकी का मोहन-सा
तू भारत जननी का जात,
उसके बन्धन कटे और हा!
व्याध-बधिक ने किया कुघात!
आज बिछुड़कर ही यह जाना,
था तू हा! कितना प्यारा,
चिरजीवी हो हमें मारकर
बापू, तेरा हत्यारा!
'सियाराममय सब' थे तुझको,
कहने सुनने को थोड़े?
अपने घातक को भी तूने
जाते जाते कर जोड़े!

प्रस्तुत था जो वन जाने को
स्वतन्त्रता का शुभ सिन्दूर,
पड़ा हमारे सिर कलंक-सा
तेरा वह शोणित हे शूर!
क्या अभाव है वहाँ एक का,
जहाँ करोड़ों का समुदाय,
फिर भी योगक्षेम हमारा
अब क्या शेष बचा है हाय!
जब तेरे पथ पर जगती का
करने को थे हम आह्वान,
तभी गला रुँध गया हमारा,
निकल नहीं पाया निःस्वान!

जिसकी राजसभा में राजे
देश देश के विज्ञ विशिष्ट,
मर्यादामय एक राम का
विश्व-राज्य था तुझको इष्ट।
मुक्त हास जो हमें भुलाता,
कैसे भूलें हम तेरा?
सचमुच ही क्या अब अदृश्य में
डाल दिया तूने डेरा?
कौन संशयात्मा ऐसा, जो
आज नहीं भरता निश्वास?
विपक्षियों को भी था तेरी
सत्य-अहिंसा का विश्वास।
मरते पशु की भी पीड़ा तू,
घड़ी दो घड़ी सह न सका,
और दया-वश अदय कर्म भी
किये बिना तू रह न सका!
तेरे महा व्रतों से बहुधा
व्याकुल हो हम खीझ उठे,
किन्तु मौन मुसकान देखकर
रोते रोते रीझ उठे!
अब के धर पाया था हमने
तुझ-सा पावन ओ अवधूत,
पूत हो गये जिसके तप से
कब के वे अस्पृश्य अछूत।
छुआ न हमने जिस गुदड़ी को
देखा तूने उसका लाल,
कब की पीड़ित वह हरिजनता
तुझको पाकर हुई निहाल।
दैत्यकाय यन्त्रों के आगे
चला ठाठ से तेरा चक्र,
पत्ते पीटा किये खेल के
हँसकर हाय हँसी हम वक्र!
किसने अपने उज्वल गुण से
बिखरी-सी जनता बाँधी,

नाची नियति नटी गा गाकर—
'मेरा सूत्रधार गाँधी!'
कुटिल काल की क्रूर दृष्टियाँ
यदि न यहाँ घूरी होतीं,
घर घर की आवश्यकताएँ
घर ही घर पूरी होतीं।

हम तो यह भी जान न पाये,
तेरा क्या क्या दान रहा,
उसके गर्व और गौरव का
ज्ञान-ध्यान-सम्मान रहा।
औरों की क्या, हम अपनी ही
आँखों में थे आप गिरे,
आया तू उत्थान हमारा,
फिर भारत के भाग्य फिरे।
हाँके जाते थे हम पशु-सम
और कौड़ियों से आँके,
झाँके फटे हृदय ये तूने,
दिये स्नेहपूर्वक टाँके!
बाँधे थे सौ शस्त्र लुटेरे
और निहत्थे थे हम लोग,
तू 'नैनं छिन्दन्ति' मन्त्र-सा
जगा, भगा सारा भय रोग।
'करो नहीं तो मरो, डरो मत,
रक्षित है फल हरि के हाथ,'
होती कहाँ निराशा तुझको,
अपनी करनी अपने साथ।
'यदि उदार हो, कटु पीकर भी
सबको मधु पीने दो तुम,'
माँग न थी, आज्ञा थी तेरी—
'जियो और जीने दो तुम!'

चुरा लिया हा! आज हमारा
प्यारा वह पारस किसने,
लोहे को सोना करने का
चमत्कार पाया जिसने।
क्षिप्त तूल-लव तवस्नेह से
दीप्त हुए धीरे धीरे,
तेरे आत्मा की ऊष्मा से
बने कोयले भी हीरे!
शंकरत्व पाकर कंकर भी
तेरे हाथों चमक उठे,
अचरज क्या, आकर स्वदीप्ति में
छिपे रत्न यदि दमक उठे।

गाँधी, तू तो गया, हाय! क्या
गया साथ ही तेरा गन्ध?
अथवा क्या अनुभूति-शक्ति ही
खो बैठे अपनी हम अन्ध?
तू जो हममें आया, यह तो
था कोई आकस्मिक योग,
हमें जान पड़ता है, अब भी
तेरे योग्य न थे हम लोग।
कुछ न सूझते अँधियारे में
उजियाला-सा आया तू,
और पुरातन भाव हमारे
फिर नूतन कर लाया तू।
कहें तुझे क्यों कर अपना ही,
तू तो भूमण्डल भर का,
सीमित कैसे हो सकता है
जन्म कहीं ऐसे नर का।
बना करोड़ों की नौका का
एक कुशल कांडारी तू,

रहा साथ ही सारे भव का
सुख-समृद्धि-भांडारी तू।
अर्पित अपने पुण्यों का फल
निखिल-निमित्त किया तूने,
पाप किया हमने, पर उसका
प्रायश्चित्त किया तूने!
हिली मिली गंगा-यमुना-सी
तुझमें आकर श्रद्धा-बुद्धि,
खिली प्रयागरूपिणी जिसमें
पुण्य तपोवन की-सी शुद्धि।
आया था हममें तू जय-सा
किन्तु अभय-सा चला गया;
दैव, हमारे वर्तमान से
क्या भविष्य भी छला गया?
छेड़े बिना किसी का तन भी
तू मन के भी पार गया,
प्रतिपक्षी ने भी तब जाना,
जब वह तुझसे हार गया!
जो तेरे निर्मल मन में था,
वही बुद्धि में वाणी में,
बुद्धि और वाणी में था जो,
वही क्रिया कल्याणी में।
आत्मा ही आत्मा था तू तो,
कहने को तेरे तनु था;
निज भविष्य-विकसित मनुष्य का
वर्त्तमान तू ही मनु था!
कृष्ण, बुद्ध किंवा ईसा का
मिलता कहाँ दरश हमको,
तात, यहाँ तुझमें तीनों का
मिला पुनीत परस हमको!
तू चिर मौनव्रती हुआ, पर
जीवन अब भी बोल रहा,
तेरा चरण-चिह्न हम सबका
परित्राण-पथ खोल रहा।

अपने लिए जगत जीता है,
तू जगती के लिए जिया,
और मरण भी सक्षम, तूने
नवजीवन-सा ग्रहण किया।
देश देश में, अधिक नहीं, यदि
एक एक तुझ-सा जन हो,
तो निश्चय अपनी अवनी पर
न्यौछावर नन्दनवन हो।
भौतिक सुख-समृद्धि के भीतर
सब कुछ भर पावे जड़वाद,
पर तेरा चेतन अपने से
करता कैसे आप प्रमाद?
पुरुष आज निज़ पशु-बल से है
पल में प्रलय मचा सकता,
पर तेरा पथ छोड़ उसे भी
कोई नहीं बचा सकता।
विजितों से भी अधिक आज के
विजयी हुए गये बीते,
वे तेरा सन्देश न सुनकर
देखें कब तक हैं जीते।
जगती गड़बड़ हुई, उसे फिर
अपने को गढ़ना होगा,
तुझसे ही उसके प्रकार का
पुण्य पाठ पढ़ना होगा।
कर में विस्फोटक है सबके
मुख में संसृति की सुख-शान्ति,
आज नहीं तो कल भूतल की
मेटेगा तू ही यह भ्रान्ति।
संशय से शंकित हम सबने
पाया तुझसे शुभ सन्देश—
'सत्य-अहिंसा को अपनाओ,
निर्भय हो जाओ सब देश!'
अपने कर्मों का फल हमको—
सबको ही—पाना होगा,

बापू, किन्तु यहाँ फिर तुझको
एक बार आना होगा।
अरे अजातशत्रु, तेरे जन
जब तक नरक सहें ऐसे,
किसी स्वर्ग में भी कह, तेरे
प्राण रह सकेंगे कैसे?
लौटा दो हे राम, उसे फिर
एक बार हम सबके बीच,
उसे छोड़कर क्या तुमसे भी
क्षमा पा सकेंगे हम नीच!
बापू, आज सभी आशाएँ
दृष्टि शून्य कर जाती हैं,
अंजलि और अर्घ्य देने को
आँखें भर भर आती हैं।

पृथिवीपुत्र

श्रोता मुझे प्राप्त जो, शिखी-ज्यों मेघमन्द्र को,
मेरा यह पृथ्वीपुत्र भेंट मोतीचन्द्र को।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में तीन संवादों का संग्रह है, जो क्रम से पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक हैं।

'दिवोदास' लिखने का संकेत श्रीसम्पूर्णानन्द जी के 'गणेश' से मिला था यद्यपि दिवोदास के द्वारा देवताओं के बहिष्कार का कारण 'काशी खण्ड' में भी नहीं मिला। प्राचीन काल में यहाँ के एक राजर्षि ने देवों के विरुद्ध अपने पौरुष की पताका फहराई थी। इतना ही नहीं, उसने अपने राज्य से उनका निष्कासन भी कर दिया था। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि हमारे देवप्राणपुराणकर ने उसका जयजयकार किया था। संस्कृत साहित्य में सम्भवतः अपने ढंग की यह एक ही घटना है, इसका संकेत पाने के लिए लेखक श्रीसम्पूर्णानन्दजी का आभारी है।

'जयिनी' में मनीषी कार्ल मार्क्स के दाम्पत्य भाव की एक झलक है, जिसने स्वयं ही लेखक को अपनी ओर आकर्षित किया था। अधुना, जिस रूप में मार्क्स के सिद्धान्तों को यहाँ व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की जा रही है, वह लेखक को कैसा ही क्यों न लगे, उसे मार्क्स दम्पति के प्रति अपनी इस श्रद्धांजलि दे सकने पर सन्तोष है।

'पृथिवीपुत्र' लिखने की स्फूर्ति घर के बच्चों की एक कटी-फटी पाठ्य पुस्तक से हुई थी। उसमें लिखा था, पृथ्वी सूर्य का एक टुकड़ा है जो किसी समय उससे टूट कर करोड़ों वर्षों तक जलते रहने के पश्चात ठण्डा हुआ था और तब उस पर जीवों की उत्पत्ति हुई थी। पुस्तक का नाम स्मरण नहीं है। यों ही वह एक दिन हाथ आ गयी थी। शून्य मन से खोलने पर यह बात पढ़ने को मिली थी और उसने चौंका-सा दिया था।

'दिवोदास' 'प्रतीक' के पहले अंक में छपा था। 'जयिनी' उसके भी कई वर्ष पूर्व 'सुधा' में छपी थी। 'पृथिवीपुत्र' इसी वर्ष 'नया-समाज' में प्रकाशित हुआ है।

लेखक

चिरगाँव
2007 वि.

श्रीगणेशाय नमः

दिवोदास

[गंगा-तीर पर रिपुंजय का छोटा-सा आश्रम]

रिपुंजय
(समाधि से उठकर)

नहीं मन्त्र द्रष्टा मैं, फिर भी करते हैं सब शोध,
हुआ मुझे अपनी समाधि में असन्दिग्ध यह बोध—
निज मर्यादा-पुरुषोत्तम ही मानव का आदर्श,
नहीं और कोई कर पाता मेरा हृदयस्पर्श।
पर जब तक मैं तपोमग्न था हुआ यहाँ क्या क्लेश?
रूखा रूखा, सूखा सूखा, भूखा भूखा देश!
चारों ओर धूल उड़ती है, सब कुछ अस्त-व्यस्त,
एक अकाल-कुसुम-सा मेरा आश्रम ही विन्यस्त।
सम्भवतः तप के प्रभाव से यह बच रहा, परन्तु
लौट गये होंगे ललचाकर कितने ही जन-जन्तु।
जियो पक्षियो, रहा तुम्हारा घर अक्षत ही आज,
किन्तु तपोबल पर भी मुझको लगे न कैसे लाज?
मानव ने मर्यादा छोड़ी होकर विवश-विपन्न,
किन्तु नहीं पाया हा! उसने मुट्ठी भर भी अन्न।
पशुता भी धारण की उसने, तदपि कहाँ था त्राण?
दैव दैव रटकर कातर ने तजे अन्त में प्राण!
इधर मुझे स्वर्गाधिकार भी सुलभ आज निज हेतु

फहराया है मैंने अपना पुरुष-कीर्ति का केतु।
पर अपनों के लिए क्या किया, यह है एक विचार,
क्या पाया मेरी धरती ने धर कर मेरा भार?

(ब्रह्मा का आविर्भाव)

ब्रह्मा

हुआ तुम्हारे तप के बल से पुरुष-पुण्य परिपुष्ट
वत्स, चाहते हो क्या, बोलो, मैं हूँ तुमसे तुष्ट।

रिपुंजय

(प्रणाम करके)

मनुष्यत्व को छोड़ और क्या चाहूँ मैं मनुजात?
तप में नहीं, आत्मचिन्तन में रत अवश्य दिन रात।
स्वार्थ—

ब्रह्मा

धन्य यह स्वार्थ तुम्हारा और स्वयं तुम धन्य,
मेरी कृति में मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ अन्य।
किन्तु रिपुंजय, सुनूँ तुम्हारे रिपु की कोई बात।

रिपुंजय

वह भी मुझमें ही अदृश्य है और कहूँ क्या तात!

ब्रह्मा

खोज धरा उसको भी तुमने हुआ मुझे यह ज्ञात,
दिव भी जिसका दास, वही तुम दिवोदास विख्यात।
सफल करो निज मनुष्यत्व अब, साधो अपना लक्ष्य,
लो, अकाल-पीड़ित समक्ष ही काशिराज्य यह रक्ष्य।

दिवोदास

शिरोधार्य आदेश आपका, किन्तु—

ब्रह्मा

किन्तु क्या, वीर?

अन्त तरंगाघातों का कब तर्क-सिन्धु के तीर?
लाख विचार व्यर्थ होंगे यदि न हो एक आचार,
मन से नहीं, किन्तु तन से ही जाना होगा पार।

दिवोदास

मेरा मार्ग निवृत्ति-मार्ग था—

ब्रह्मा

आश्रम-धर्म-विरुद्ध?
नहीं, तुम्हारे ब्रह्मचर्य का पालन था यह शुद्ध।
रहे अभी संन्यास, प्रथम हो संग्रह गृह के संग;
मर्यादा का मान करोगे करके उसका भंग?
दिया तुम्हारे कृती पिता ने तुम-सा व्रती सपूत,
उनका ऋण-परिशोध करोगे तुम अपुत्र अवधूत!
अपनी-सी प्रिय परम्परा को अपने हाथों मेट,
दे जाओगे तुम जगती को कहो, कौन-सी भेट?
कहाँ रहेगी वह मनुष्यता, जिसका तुमको गर्व?
काम्य काम भी सृष्टि-धर्म है, करो उसे मत खर्व।

दिवोदास

इसका क्या निश्चय, जैसे का हो वैसा ही जन्य?

ब्रह्मा

यह विधि है, विपरीत दशा में कारण होंगे अन्य।
तुम्हें द्विधा क्या है?

दिवोदास

प्रस्तुत मैं, किन्तु नियम है एक—
मानें इसे भले ही कोई मेरा अति अविवेक!
चला जाय मेरी धरती से सारा सुर-समुदाय!

ब्रह्मा

वत्स, वत्स, विस्मित मैं सुनकर, क्या कहते हो हाय!

दिवोदास

कहता हूँ मैं वही आपसे जो भीतर का भाव,
क्षमा कीजिए मुझे, उचित यदि न जँचे यह प्रस्ताव।

ब्रह्मा

सुरगण धरती से हट जावे और असुर-समुदाय?

दिवोदास

स्वयं हटा दूँगा मैं उसको करके योग्य उपाय।

ब्रह्मा

तो स्वीकार करूँ पहले मैं यह निष्कासन-शाप?

दिवोदास

नहीं, नहीं, यह नहीं, हमारे पूज्य पितामह आप।

ब्रह्मा

वरुण-वायुवैश्वानर भी क्या जावें भूतल त्याग?

दिवोदास

देव मात्र घर बैठे भोगें निज मख-भाग-पराग।
किन्तु पंच तत्त्वों का हमको है जितना अधिकार,
करे न कोई कभी कहीं भी उसमें विघ्न-विकार।

ब्रह्मा

पर देवों पर हुई तुम्हें क्यों ऐसी विषम विरक्ति?

दिवोदास

नहीं, नहीं, उन पर है मेरी समुचित श्रद्धा-भक्ति।
पर सबकी अपनी सीमा है—

ब्रह्मा

सुर तो सुकृति-सहाय!

दिवोदास

सिद्ध इसी से तो मनुष्य हैं अकृति, अगति, अनुपाय!
नहीं मानता इसे किसी विध मेरा नर-पुरुषार्थ,
सब मेरे ही अर्थ अन्त में जितने प्राप्य पदार्थ।
करें सदा सानन्द स्वर्ग में सुर निर्विघ्न विहार,
हम पृथिवी के पुत्र, हमीं पर निज भू माँ का भार।
कर दी है देवावलम्ब ने नर की निजता नष्ट,
अमृतपुत्र होकर भी हम हैं पौरुष-पद से भ्रष्ट।
किन्तु आत्मविश्वासी हूँ मैं पाकर दुर्लभ देह,
सहे सुरों का भी शासन क्यों मेरा अपना गेह?
फिर भी नहीं किया जा सकता विग्रह देव-विरुद्ध,
अपदेवों से हम अवश्य ही कर सकते हैं युद्ध।

ब्रह्मा

अपनी पूज्य-भावना कैसे छोड़ सकेंगे लोग?
फैलेगा तब क्या न जनों में जन-पूजा का रोग?

दिवोदास

भय क्या यदि निज माध्यम से ही समझें नर निज सत्त्व?
जो अनुकरणतीत आज है बनकर देव-महत्त्व।
तर्क जानता नहीं तात, मैं रखता हूँ विश्वास,
उसे छोड़कर सम्भव है क्या कोई नया प्रयास?

ब्रह्मा

यह अपूर्व आयास तुम्हारा, ध्रुव नवीन उत्साह,
अच्छी बात, प्रयोग करो तुम, पूरी अपनी चाह।

दिवोदास

अनुगृहीत मैं, एकाकी भी रक्खूँगा निज रंग

ब्रह्मा

तुम एकाकी क्यों, वह देखो नित्य नया चिर संग!
(अन्तर्धान)

(मन्त्रिपुत्रो रंगिणी के साथ वासुकि-नाग-राजपुत्री
अनंगमोहिनी का प्रवेश)

रंगिणी

सात्विकता-वश संग न लेकर कोई साज-समाज,
आयी हो शिव-दर्शनार्थ तुम व्रत पूरा कर आज।
सम्मत हुई महारानी भी, यह विस्मय की बात।

अनंगमोहिनी

माँ को स्वप्न हुआ था, पर तू करे न कुछ उत्पात।

रंगिणी

नहीं नहीं, खोजूँगी मैं तो कोई संगी मात्र;

अनंगमोहिनी

किसका संगी?

रंगिणी

अभी क्या कहूँ, पाऊँ पहले पात्र।
पर उत्पाती हैं तो सुर ही, देखो तुम सब ओर,
पूजा पाकर भी हो बैठे वे पाषाण-कठोर!
सखि, यथार्थ ही चिता-भूमि-सी काशी आज उजाड़,
खड़क हाड़ा-से रहे पवन में, झड़ सूखे सब झाड़!
भला बनाया भूतनाथ ने अपना यह घर-बार,
पर शिव कहाँ, यहाँ तो केवल शव-साधन का तार!
है अपवाद-सदृश छोटा-सा आश्रम यह एकान्त।

अनंगमोहिनी

चल, हम आश्रय लें जब तक हो रजःप्रभंजन शान्त।

रंगिणी

चल, प्रकृति की होली है यह, रंग के पहले धूल;
नयन कसक लें, किन्तु चषक दें मधुमय मन के फूल!

अनंगमोहिनी

अहा! कौन ये तरुण तपस्वी!

(मुग्ध होती है)

रंगिणी

शिवपुरजयी अनंग!
मूर्तिमन्त-से प्रकट यहाँ ये प्रिय वसन्त के संग।
किन्तु अनंगमोहिनी तुम हो, क्यों यह नव संकोच?
तुम्हें देख सम्भ्रान्त स्वयं ये खोये-से कुछ सोच।

दिवोदास

स्वागत शुभे तुम्हारा, आहा! निरवधि विधि की सृष्टि,
पर अपनी सीमा में आकर रुक रहती है दृष्टि।
देश-काल का, वेश-वयस का, जन्मों का व्यवधान,
कोई नहीं मिटा सकता है अपनों की पहचान।
फिर भी परिचय पूछ निभाते हैं हम लोकाचार,
सबसे प्रथम बैठ कर समुचित है श्रम का परिहार।

रंगिणी

अनुगृहीत हम हुईं, आपका परिचय आश्रम आप,
फिर भी नहीं अप्सराएँ हम, कन्याएँ निष्पाप!
ठीक है न सखि!

अनंगमोहिनी

दुर दुर्बुद्धे,

रंगिणी

दुर सकती हूँ दूर।
तब भी तुम न अकेली होगी, संग मिला भरपूर।
कैसे यहाँ झूठ कहती मैं? रहने दो भ्रू-भंग,
प्रकट और ही कुछ करते हैं आर्द्र तुम्हारे अंग!

(दिवोदास से)

क्षमा कीजिए, सुकृति हमारी राज—

दिवोदास

रुकीं क्या सोच,
स्वयं सिद्ध ये राजकुमारी, तो क्या भय-संकोच?

रंगिणी

शील जन्य संकोच, किन्तु भय! भय उलटे हम नाग!

दिवोदास

किन्तु नागकन्ये, मुझको तो होता है अनुराग!

रंगिणी

इसीलिए तो आप हमारे प्रिय हैं गुणिगण-राज!
पर मेरा बोलना सखी को अप्रिय-सा है आज।
आवश्यक भी नहीं मुझे कुछ कहना-सुनना और,
नर का परिचय नर, नारी का नारी ही सब ठौर।
सफल आपका तप, इनका भी पूर्ण आज व्रतवर्य,
आईं थी शिव दर्शनार्थ ये पर काशी—आश्चर्य!

दिवोदास

भद्रे इस धरती पर कोई देव नहीं अब शेष,

अनंगमोहिनी

(स्वगत)

पर निज देव-समक्ष स्वयं मैं देख रही अनिमेष!

रंगिणी

यही दीखता है मुझको भी, क्या कहते हैं आप?

दिवोदास

छोड़ गये हैं यह अकाल का वही यहाँ अभिशाप।

रंगिणी

किन्तु गये क्यों?

दिवोदास

क्योंकि इसी में था अपना निस्तार!

अनंगमोहिनी

(घबराकर)

हा! यह क्या?

रंगिणी

विस्मय!

दिवोदास

विस्मय क्या? स्वाभाविक व्यापार।

रंगिणी

पर देवों को लेकर ही हैं अपने सारे तन्त्र।

दिवोदास

सिद्ध एक पुरुषार्थ हमारी भुक्ति-मुक्ति का मन्त्र।

रंगिणी

इसे निरीश्वर वाद कहूँ क्या?

दिवोदास

यह कहना है भूल,
मेरा प्रभु भी पुरुषोत्तम है, वही विश्व का मूल।

अनंगमोहिनी

(स्वगत)

झटक न दे मेरी आकुलता अब लज्जा का हाथ;

(प्रकट)

क्षमा कीजिए, सब सुर भी क्या नहीं उसी के साथ?

दिवोदास

रहें, किन्तु हम भी वैसे ही, उसके सभी समान,
बन बैठे हैं हममें-उसमें आज वही व्यवधान।

अनंगमोहिनी

इतना गौरव कैसे झेले छोटा मेरा वित्त?

दिवोदास

जागो तुम निज शक्ति-रूप में मेरे कार्य-निमित्त।

रंगिणी

तो क्या शंकरदेव-शून्य है सचमुच काशी धाम?

दिवोदास

देव नहीं, वे महादेव हैं, उनको कोटि प्रणाम।
किन्तु जन्म भर की यात्रा है उनका वह कैलास,
काशिवास तो हमें मिला है ऊजड़ और उदास।
तब हम उनके भक्त, बना दें ऐसा प्रिय यह देश,
रहे बिना जब रह न सकें वे, माँगें स्वयं प्रवेश!

रंगिणी

देव दूसरा घर खोजें अब, हुए यहाँ पट बन्द!

दिवोदास

द्रष्टा बनकर ही ऊपर से देखें वे स्वच्छन्द।

अनंगमोहिनी

(बढ़कर पैरों पड़ती हुई)

यह मत कहिए, यह मत कहिए, हे मेरे मधु-मिष्ट!
मैं नव वधू, न हो हा! मेरे वर का कहीं अनिष्ट!

दिवोदास

(उसे उठाकर)

प्रिये, प्रिये, चिन्ता न करो तुम, रहो पार्श्व में नित्य,
आओ, मिलकर करें राष्ट्र के लिए कठिन भी कृत्य।

अनंगमोहिनी

मैं अनुचरी।

रंगिणी

आप देवों से अधिक मुझे हैं मान्य,
किन्तु सोचिए, देव-दया के बिना कहाँ धन-धान्य?

दिवोदास

हम दयनीय नहीं, भागी हैं देवों के ही साथ,
हृदय नहीं, वा बुद्धि नहीं, वा नहीं हमारे हाथ?
कल तक नाम जपा है हमने, आज करेंगे काम,
यथा समय सब समझोगी तुम, लो थोड़ा विश्राम।

अनंगमोहिनी

एक बात मैं और पूछ लूँ, यदि न करूँ अपराध?

दिवोदास

अर्द्धांगिनि, तुमको है मुझ पर सब अधिकार अबाध।

अनंगमोहिनी

कभी भू-भ्रमण की इच्छा यदि कर स्वयं सुर-सिद्ध,
तब भी उनके लिए उचित क्या यहाँ प्रवेश-निषिद्ध?

दिवोदास

नहीं, किन्तु रखना होगा तब उनको भी नर-रूप।

अनंगमोहिनी

आर्यपुत्र विजयी हों।

(नेपथ्य में)

विजयी हों हम सब के भूप।

(काशी के मन्त्री, पुरोहित और पुरजन)

आगन्तुक

रक्षा करिए, रक्षा करिए, देश आज उच्छिन्न,
हे राजर्षि, अन्य कोई गति नहीं आपसे भिन्न।

दिवोदास

स्वागत स्वजन, हुआ क्या यह सब?

मन्त्री

अति दारुण दुष्काल।

दिवोदास

यत्न?

मन्त्री

यत्न क्या जब देवों की हुई कुदृष्टि कराल?

दिवोदास

कारण?

मन्त्री

कारण और कहूँ क्या, स्वयं हमारे पाप।

दिवोदास

नहीं पापियों की स्वीकृति यह।

मन्त्री

पुण्यात्मा हैं आप।

दिवोदास

मैं क्या करूँ?

मन्त्री

आप राजा हों तो न रुकेगी वृष्टि।

दिवोदास

पर बहती गंगा पर भी क्या गयी तुम्हारी दृष्टि?

मन्त्री

आशुतोष शंकर भी मानो गये हमें अब छोड़,
त्यागा नहीं त्रिपथगा ने ही अपना हृदय हिलोड़।
पीड़ित पुर-शिशु को, चिन्ता से कृश हैं जिनके अंग,
ये समेट-सी रहीं अंक में भरकर आह-तरंग!
करती हैं हे देव, यही तो यहाँ तृषा की शान्ति।

दिवोदास

यही क्षुधा भी शान्त करेंगी और हरेंगी श्रान्ति,
ऊपर शून्य तको क्यों, नीचे भरे सिन्धु गम्भीर,
करो सींचने के उपाय ही, अक्षय है निज नीर।
सुजला अब भी भूमि हमारी, चलो, करें उद्योग,
सुफला इसे बना लें मिलकर समभोगी हम लोग।
श्लाघनीय वह आवश्यकता, जिसमें आविष्कार,
नहीं चतुष्पद, गये द्विपद ही बाधाओं के पार।
नहीं चाहिए हमें किसी भी देवासुर का भाग,
किन्तु आत्म-संग्रह पहले है, पीछे कोई त्याग।
करके निज कर्त्तव्य स्वयं हम मानेंगे सन्तोष,
फल अपने हैं, किन्तु अफल में नहीं हमारा दोष।
रहे सदा सबके समक्ष यह मेरा लक्षक-लेख,
हम न भव्यता भी खो बैठें दूर दिव्य कुछ देख।
रचा हमीं ने बाहर-भीतर यह इतना संसार,
कितना चित्र-विचित्र हमारा एक पृथुल परिवार।
नर होकर हम क्यों निराश हों, निज कर नहीं अशक्त,
राजवंश भी रहे प्रजा के साथ सदा समभक्त।

सब लोग

मान्य हमारे महाराज के उड़ें पुण्य-जय-केतु,
इष्ट नहीं कुछ अधिक प्रजा से जिन्हें स्वयं निज हेतु।

गीत

हम मनुष्य होकर क्या चाहें?
देवों से भी अधिक क्यों न यह अपना भाग्य सराहें?

निज सुयोग पर गर्व जनावें,
इस जीवन को पर्व बनावें।

वसुधा पर विचरें, अम्बर में उड़ें, अब्धि अवगाहें!
हम मनुष्य होकर क्या चाहें?

किसके स्थूल-सूक्ष्म ये सारे?
ईश्वर भी है हेतु हमारे!

विस्तृत तन-मन का विकास है, फिर क्यों ठण्डी आहें?
हम मनुष्य होकर क्या चाहें?

रहे हृदय की शुद्धि हमारी,
सखी-संगिनी बुद्धि हमारी;

भीति छोड़ कर प्रीति-रीति रख, आओ, नीति निबाहें।
हम मनुष्य होकर क्या चाहें?

जयिनी

(जेनी की वाटिका)

मार्क्स

राम! राम! कितनी भयंकर विषमता!
लौकिक ही होती कहीं आध्यात्मिक समता।
आयी यह जेनी अहा! जयिनी हृदय की;
प्रणय, करेगा पूर्ति क्या तू परिणय की?

जेनी

सुप्रभात मार्क्स! जेनी जयिनी नहीं कहाँ?
ध्यान करते ही सुना–आये तुम हो यहाँ!
किन्तु कुछ चिन्तित-से दीखते हो तुम क्यों?
भाराक्रान्त तुहिन-कणों से भी कुसुम ज्यों।
ऊपर सुनील नभ, नीचे है हरी धरा,
मन्द गन्ध मारुत से मध्य भाग है भरा।
चारों ओर उज्ज्वल प्रकाश, पुष्प-हास है;
फिर भी तुम्हारा मन आज क्यों उदास है?
प्यारे, इस हर्ष में विषाद क्या उचित है?
मेरा मन भी लो, हुआ क्लेश-कलुषित है!
दुःख ही उदार है क्या? संकुचित सुख है?
बन्धु कहो, दीन क्यों तुम्हारा मंजु मुख है?
पाकर गभीर तुम्हें डूबी जा रही हूँ मैं;
हँस के उबारो मुझे, ऊबी जा रही हूँ मैं।

मार्क्स

जेनी, हा! मनाऊँ किस बात पर हर्ष मैं?
देखता हूँ चारों ओर घोर अपकर्ष मैं।

जेनी

घोर अपकर्ष? मार्क्स, कहते हो यह क्या?
अपना मिलन बन आया है विरह क्या?

मार्क्स

हा प्रिये! मैं लज्जित हूँ, तुम यह रो उठीं?
देख के भविष्य मेरा मानो धैर्य खो उठीं।

जेनी

यह क्या? भविष्य का क्या तुमको कसाला है?
मार्क्स, जो अदृश्य, वह उज्ज्वल भी काला है।
छोड़ दो भविष्य भगवान ही के हाथ में;
देखो वर्तमान तुम आज मेरे साथ में।

मार्क्स

किन्तु कैसे दृष्टि फेरूँ उससे, जो लक्ष है?
दीख रहा आप ही जो आकर समक्ष है?

जेनी

मार्क्स, वह कौन है? क्या जेनी से विभिन्न है?

मार्क्स

जेनी, हाय जेनी! हुआ जी तुम्हारा खिन्न है।
बात कहता था प्रिये, मैं कर्त्तव्य कर्म की,
बाधा-व्यथा-वेदना ही जिसमें है मर्म की!
भय क्या? मरण भी भला है निज धर्म में।

जेनी

बन्धु, कौन बाधा है तुम्हारे उस कर्म में?

मार्क्स

कारागार! निष्कासन!—काँप उठीं तुम ये?

जेनी

मैं ही नहीं, काँप उठे सारे लता-द्रुम ये!
विप्लव करोगे तुम? बोलो, किस सत्ता से?

मार्क्स

(हँसकर)

जेनी, यदि मैं कहूँ, तुम्हारी ही महत्ता से?

जेनी

(आश्वस्त होकर)

तो भय नहीं है मुझे, चिन्तित क्यों व्यर्थ हूँ;
विद्रोही, तुम्हें मैं दण्ड देने को समर्थ हूँ।
रात के तिमिर और दिन के प्रकाश में
बाँध लूँगी चाहे जब यों ही भुज-पाश में!

(गले में हाथ डाल देती है)

बन्दी कर रखूँगी तुम्हें मैं निज दृष्टि में!

मार्क्स

कौन दया चाहे यह दण्ड छोड़ सृष्टि में?
किन्तु क्षमा-प्रार्थना ही योग्य है आधीन को;
देवि, दया-दान करो तुम इस दीन को।

जेनी

(चौंककर)

दीन तुम? तो क्या तुम जेनी के धनी नहीं?

मार्क्स

कांते, क्रीत दास हूँ तुम्हारा मैं, रहूँ कहीं।

जेनी

क्रीत क्या हुए हो तुम मार्क्स, मेरे धन से?

मार्क्स

मानधने, पूछो यह अपने ही मन से।

जेनी

बात फिर कैसी यह तुच्छ धन की भला?

मार्क्स

दैन्य की ही ओर मेरा जीवन चला-चला।

जेनी

दैन्य की क्षमा लो किसी कंचनी कराला से,
चर्चा तुल्य-शील ही को ठीक कुल-बाला से।

मार्क्स

राज-कुल-बाला तुम, किन्तु मानी दीन मैं,
काँटों-भरे पथ का पथी हूँ गृह-हीन मैं।

जेनी

कैसी बात? प्यारे, तुम कहते हो क्या अहो!
समझी नहीं मैं कुछ, कैसे समझूँ कहो?
चारों ओर से हैं मुझे गान ही बुला रहे,
और केन्द्र उनके तुम्हीं हो, जो रुला रहे।

मार्क्स

रो रहा है मेरा मन, कैसे हँसूँ-गाऊँ मैं?
देने के लिए हैं अश्रु, मुक्ता कहाँ पाऊँ मैं?

जेनी

दोगे जो मुझे तुम उदार, वही लूँगी मैं,
अश्रु न दो हाय! तुम, मुक्ता वार दूँगी मैं।

मार्क्स

प्रेयसि, तुम्हारा लक्ष्य क्या है इस लोक में?

जेनी

बन सकती मैं कहीं सान्त्वना ही शोक में!

मार्क्स

देखो, तब दया नहीं, न्याय-दृष्टि डाल कर,
नहीं कहीं ठौर जिन्हें वसुधा विशाल पर।
देख नहीं सकते जो आप अपने को भी,
भोग नहीं सकते सुखों के सपने को भी,
जीवन-प्रदीप सदा जिनके बुझे-बुझे!

जेनी

मार्क्स, उन दीनों पर आती है दया मुझे।

मार्क्स

आती अपने पर मुझे तो घृणा आप ही;
पाते पराधीन वे हमारा महापाप ही।
और, हम भोगते हैं जो उनका भाग है;
बलि उनकी है, और हा, हमारा याग है!
पशु वे हमारे, हम उनके वधिक हैं;
शून्य हाथवाले वही संख्या में अधिक हैं!

जेनी

करते हैं हम तो परन्तु दया-दान ही।

मार्क्स

मानता हूँ उनका उसे मैं अपमान ही!
भिक्षा-तुल्य मिलता उन्हें है जो कभी, कहीं,
उससे अधिक प्राप्य उनका सभी कहीं।
किन्तु ऐसे भी हैं—और अधिक वही यहाँ—
दान ही सही, जो कुछ देते हैं, उन्हें कहाँ?
पूर्व के विशिष्ट किसी विज्ञ का कथन है—

करता उपार्जन धनी जो लोक धन है,
बाँट नहीं देता उसे लोक में ही त्याग से,
दण्डनीय ही है वह शासन-विभाग से।

जेनी

दण्डनीय कैसे वह? कृपण बना रहे।

मार्क्स

दस्यु वह, पर धन को जो अपना कहे।

जेनी

परधन?

मार्क्स

जेनी, सुनो, आदि में ही भूल है;
धन-रूपी फल का परिश्रम ही मूल है।
किन्तु श्रमियों को फल मिलता है कितना?
पूँजीपतियों का नहीं जूठन भी जितना!

जेनी

किन्तु पूँजी?

मार्क्स

पूँजी नहीं, लूट ही उसे कहो,
दूसरों को ठगकर जोड़ी जो गयी अहो!
दासता की नींव यही व्यक्तिगत नीवी है;
खाता दूसरा ही है, कमाता श्रमजीवी है।
उत्पादन जिसका, विभाजन भी उसका,
किन्तु अन्न छोड़कर भागी वही भुस का!

जेनी

मार्क्स, मार्क्स, बुद्धि जिसकी है, बल उसका!

मार्क्स

भद्रे, किन्तु अर्थ यहाँ होगा छल उसका?

हाय! यह बुद्धि का क्या भीषण प्रयोग है,
देता एक को जो लूट सौ का सुख-भोग है।
पूँजीपति अथवा महाजन ही बन के,
होकर धराधिकारी शासक भुवन के,
एक-एक सौ-सौ को सुसभ्य बने मूसते,
मांस-रक्त खा-पीकर हड्डियाँ हैं चूसते!
दिन-भर संग दौड़ अहृदय यन्त्रों के,
एक टुकड़ा ही हाथ आता परतन्त्रों के।
बच्चे इस ओर जब भूखे ऊँघ जाते हैं,
कुत्ते उस ओर के मलाई सूँघ जाते हैं।
ब्राह्मणों ने माना एक पाप महायन्त्रों को,
सुनो इसे, और देखो दीन यन्त्रों-तन्त्रों को!
दास-प्रथा नित्य नया जन्म यहाँ ले रही,
और सब ओर घोर शाप हमें दे रही।

जेनी

मानो जो अदृष्ट तुम, तो सन्तोष पाओ तुम;
और जो न मानो मार्क्स, तो यह बताओ तुम—
राजगृह में है जन्म लेता एक जन क्यों?
दूसरे का रंक की कुटी में है जनन क्यों?

मार्क्स

रहने दो बातें ये अदृष्ट की, परोक्ष की,
सामने खड़ी हैं यहाँ साधनाएँ मोक्ष की।
छोड़ दो अदृष्ट को अदृष्ट ही पनपने,
देखने को क्या कम है सामने ही अपने?
आश्रयी तो आश्रय उबारने को देते हैं,
हार बैठने को हम दैवाधार लेते हैं।
हाथ-पैर और मनोबुद्धि रहते हुए;
बैठ नहीं सकता मैं 'दैव!' कहते हुए।
जो है आत्मविश्वासी वही तो अस्तिवादी है,
चाहे परमात्मा के विषय में प्रमादी है।
कृत्रिम है वह भी जो भेद राजा-रंक का,
टीका समदर्शिता के ऊपर कलंक का।

जन्मना सभी हैं एक, सबमें है समता,
फैलाई हमीं ने छल-बल से विषमता।
कहता नहीं मैं, लोक धनियों से हीन हो,
चाहता यही हूँ, कहीं कोई भी न दीन हो।
आत्मसमदर्शिता, जो आध्यात्मिक ही रही,
देखूँ उसे भौतिक भी, इष्ट मुझे है यही।
जो सिद्धान्त, जो आदर्श बुद्धिगत पाऊँ मैं,
जैसे बने कैसे व्यवहार में न लाऊँ मैं?
ऋषि-मुनियों का वह त्याग स्वयं लूँगा मैं,
अर्थ को अनर्थ किन्तु रहने न दूँगा मैं।
व्यक्तिगत मेरा परमार्थ मेरे हाथ है।
किन्तु इस सृष्टि में समष्टि मेरे साथ है।
अच्छा, क्यों अभागों पर आती है तुम्हें दया?

जेनी

अब तो दया में भी अशक्ति दोष आ गया!
मार्क्स, कैसे अपनी महत्ता भी कहूँ इसे—
विप्लव से मेटने चले हो तुम यो जिसे?
जानों इसे प्रेरणा ही प्रभु की, प्रकृति की।

मार्क्स

तुमने विषाद में भी बात कही धृति की।
प्यारी, वह प्रेरणा मुझे भी हुई जान लो;
मुझको हँसो तो हँसो, मेरी बात मान लो।
सौ अनाथ बालकों का लालन हो जिससे,
सौ निरीह नारियों का पालन हो जिससे,
एक पापी पैतृक परम्परा के नाम पर
मारता है वह धन, वारता है काम पर।
पैतृक गुणों का नहीं गन्ध जिस जन में,
पूर्ण अधिकार उसका भी पितृ-धन में।
जोतते हैं, बोते हैं, किसान रक्त सींच के,
रिक्त कर तो भी घर आते आह खींच के।
उत्तमर्ण हैं जो अधमर्ण सदा रहते,
कौन-सा अभाव है, जिसे वे नहीं सहते?

वश चलता तो भले मानुस क्या छोड़ते,
वायु-कर भी वे साँस लेने पर जोड़ते!
भूमि पर भाग हम सबका समान है,
किन्तु कितनों को यहाँ बैठने का स्थान है?
हा! इस विषमता से क्या अनर्थ होते हैं—
स्थान बिना भ्राता-भगिनी भी संग सोते हैं!
देखो स्वार्थियों के इस उग्र अविचार को,
सतियाँ सतीत्व बेच पालें परिवार को!

जेनी

बस, बस, मार्क्स, हा! मैं सुन सकती नहीं,
विस्मय! तुम्हारी यह वाणी थकती नहीं।
जान पड़ता है, मैं खड़ी हूँ उन्हीं दोनों पर,
धन-जन-अन्न-आशा-आश्रय-विहीनों पर!
पिसते हैं मानों इन पैरों से अभागे वे,
मृत्यु-मूर्ति-सी ही मुझे देखते हैं आगे वे!
यह हरियाली खिंच आयी उन्हीं सूखों की!
मेरी परितृप्ति क्या है, रोटी उन्हीं भूखों की!
मेरी वेश-भूषा लुटी लाज उन्हीं नंगों की!
रक्त से उन्हीं के बढ़ी लाली इन अंकों की!
मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ राजकुल-नन्दिनी;
दण्ड दें मुझे वे, मैं उन्हीं की न्याय-वन्दिनी!
प्रतिभू उन्हीं के तुम, आज्ञा दो मुझे अहो!
प्रस्तुत हूँ सहने को—करने को, जो कहो।

मार्क्स

होकर मैं पूरा और पक्का इसी धुन का,
प्रतिभू अवश्य हुआ चाहता हूँ उनका—
उग्र अनुभूति, किन्तु वाणी नहीं जिनमें,
प्राण तो हैं, किन्तु कोई प्राणी नहीं जिनमें,
एक हैं जो, किन्तु ऐक्य भाव नहीं जिनमें,
ताप से भरे हैं, किन्तु ताव नहीं जिनमें,
जाता हूँ उठाने उन्हें—बुद्धि का वरण हो।
जागो श्रम जीवी जन, संघ के शरण हो।

आया हूँ नहीं मैं प्रिये, आज्ञा तुम्हें देने को,
आवेदन लाया हूँ अनुज्ञा-मात्र लेने को!
चिन्ता मुझे काँटों की नहीं है निज पथ में;
विचरो परन्तु तुम मेरे मनोरथ में!
प्रेयसि, प्रकृति-संग खेलो तुम फूलों से,
किन्तु मैं पुरुष, मुझे जूझना है शूलों से।
लेकर तुम्हारी शुभ कामना बढ़ूँगा मैं,
फूली-फली देख तुम्हें शूली भी चढ़ूँगा मैं।

जेनी

मार्क्स, तो क्या आये तुम आज मुझे त्यागने?
एक अबला के तुच्छ भार से भी भागने?
साथ लेने योग्य भी नहीं मैं महत्कर्म में?
अर्द्धांगिनी नर की है नारी ब्रह्मधर्म में।

मार्क्स

क्योंकर सहोगी दुःख, तुम सुख से पली?

जेनी

खिलती नहीं क्या कांत, कंटकों में भी कली?—
उसका विटपि यदि देता उसे रस है।
और सहना ही तो हमारा बड़ा बस है।

मार्क्स

फिर भी नरों के लिए क्या यही उचित है?

जेनी

मार्क्स, नर-नारी का विभिन्न कहाँ हित है?

मार्क्स

प्यारी, आ पड़ेगा सो सभी कुछ सहूँगा मैं,
किन्तु आर्त देख तुम्हें क्योंकर रहूँगा मैं?

जेनी

कायर! इसी से मुझे छोड़कर जाते हो?

भिन्न अपने से सुख-दुःख मेरा पाते हो?
ऐसी दयनीय लुंज-पुंज पश-बाधा मैं?
किन्तु यह ध्यान रहे, बाँट लूँगी आधा मैं?

मार्क्स

मेरा महात्याग तुम्हीं होगी, मैं करूँ जिसे।

जेनी

अकरुण! त्याग नहीं हत्या कहना इसे!
छोड़ जाना चाहते हो सुख के लिए मुझे?
बन्धु, तुम वैरी न हो ऐसे विष के बुझे।
बोलो, तुम्हें छोड़कर मैं क्या सुख पाऊँगी?
यह मुख देख सब दुःख भूल जाऊँगी।
चाहे सहधर्मिणी के योग्य नहीं हूँगी मैं,
पानी तो परन्तु एक पात्र भर दूँगी मैं।
देखो न हा! धिक सुकुमार मेरे तन को,
प्यारे, मत भूलो इस मान-भरे मन को।
चिन्ता क्या मुझे है किसी सांसारिक शूल की?
मैं तो तितली हूँ उस मानस के फूल की।
(छाती पर सिर रख देती है)

मार्क्स

आओ तब, दिव्य मनवाली, भव्य देहिनी,
सचिव, सखी हो तुम और मेरी गेहिनी।

जेनी

जर्मनी के मार्क्स तुम, आज हो जगत के,
जेनी बिकी तुम पर आश्रय अगत के!

(गान)

चलों, चलें हम प्यारे!
मिलकर आज यहाँ, जीवन में न हों कहीं भी न्यारे।
क्या अभाव, क्या भय अब हमको, बजे प्रेम-जय-भेरी;
चलूँ तुम्हारी छाँह गहे मैं, बाँह गहे तुम मेरी।

पृथिवीपुत्र

अम्ब, नयी यात्रा का मुहूर्त मेरा आ गया।

माताभूमि

बैठ मेरे बच्चे तू, डिठौना तो लगा दूँ मैं,
लेकर प्रदीप्त-स्नेह मैंने जो बनाया है।
अन्य भूत-दृष्टि-बाधा व्यापे नहीं तुझको,
तेरे सिर यों ही एक प्रेत चढ़ा बैठा है।

पृथिवीपुत्र

नाम मिटा डालूँगा स्वयं मैं जरा-मृत्यु का
अपने प्रयोगों से, परन्तु क्या सदैव ही
बच्चा ही रहेगा अम्ब, पुत्र तुझ पृथ्वी का?

माताभूमि

अर्थ इसका तो यही, मैं मातृत्व छोड़ दूँ;
ठीक ही है, अब तो तू व्योमचारी हो गया!

पृथिवीपुत्र

मेरी बात समझे बिना ही रुष्ट हो गयी?
छूटे नहीं तेरे व्यर्थ वे संस्कार आज भी
आदिमयुगीन! हाय, भूत-बाधा अब भी?

माताभूमि

ये संस्कार मेरे भले तेरे युग-भार से,
जब भी न जाऊँ मैं तलातल-वितल में!
और सच कह तू, क्या बच्चा नहीं अब भी
सर्वथा अबोध! मारा-मारी करता हुआ
डोलता है, खेलता है गोलियों से अभी भी!

पृथिवीपुत्र

(हँसकर)

गोलियाँ कहाँ माँ, देख, अब यह गोला है!

माताभूमि

गोली नहीं गेंद सही।

पृथिवीपुत्र

तेरे स्थूल रूप-सा!
आप भी तो गोल है तू!

माताभूमि

किन्तु क्या है इसमें?

पृथिवीपुत्र

आप निज गोलक में क्या-क्या धरे बैठी तू,
ज्ञात नहीं; तो भी सुन, मेरे इस गोले में
मेरा नया आविष्कार।

माताभूमि

आवश्यकता तुझे
इसकी हुई क्यों?

पृथिवीपुत्र

इसे खेल ही समझ तू।
मेरे इस कन्दुक की एक ही उछाल में
विश्व का विजय मुझे प्राप्त हुआ रक्खा है!

माताभूमि

तू क्या बकता है अरे, क्या है कह इसमें?

पृथिवीपुत्र

कालानल! विद्रोही-विपक्षी जहाँ मेरे जो;
सर्वनाश उनका! अधिक और क्या कहूँ,
तेरे उस ज्वालामुखी से भी यह सौ गुना।
किंवा तू करोड़ों वर्ष आप जिस ज्वाला में
जलती रही थी, वही आ समाई इसमें!
सिहर उठी तू यह, क्या

माताभूमि

शान्त पाप, शान्त ताप, शान्त बुद्धि-शाप हो!
मान लिया, सविता-सुता में जलती रही;
धो दिया था मेरा दाह मेरी वाष्प-वृष्टि ने।
मेरी अग्नि-शुद्धि में क्या ऐसी द्वेष-बुद्धि थी,
जैसी इसमें है भरी? मुग्ध, तेरी ईर्ष्या ने
खोजा है कहाँ से यह सर्वनाश सहसा?
बोल, तेरे कौन बन्धु लक्ष्य होंगे इसके?

पृथिवीपुत्र

बन्धु नहीं वैरी! अम्ब, मेरे विश्व-जय के
यज्ञ पशु-मात्र!

माताभूमि

उन्हें वैरी भले कह तू,
मैं तो उनकी भी प्रसू, तात, जैसी तेरी हूँ।

पृथिवीपुत्र

तू तो उनकी भी प्रसू, हिंसक जो मेरे हैं!
जिस दिन जन्म हुआ मेरा, उसी दिन से
मेरे मारने को मुँह खोले खड़े आज भी।
मेरी बुद्धि ने ही मुझे उनसे बचा लिया;
पत्थर ही मार उन्हें मैंने निज रक्षा की।
अग्नि को सहायक बनाया फिर अपना;
लोहे के कृपाण और बाण तो थे पीछे के।
आज मेरे कुत्ते बने व्याघ्र उस काल के;
मेरे एक अंकुश के वश में द्विरद है।
मैंने ही निकाल विष भीषण भुजंगों का
सिद्धरस-योग बना डाला बहु रोगों का।
और—

माताभूमि

मानती हूँ, बड़ा धूर्त्त था तू सब में।
किन्तु वे सरीसृप वा पशु ही हैं, उनमें

ज्ञान का अभाव है, तू वैज्ञानिक जीव है।
मारता है फिर भी मनुष्य तू मनुष्यों को!

पृथिवीपुत्र

अम्ब, वे मनुष्य हैं वा बर्बर हैं, वन्य हैं?

माताभूमि

एक दिन तू भी उनसे भी बड़ा वन्य था,
आकृति तो पलटी है, प्रकृति वही रही
तेरी।

पृथिवीपुत्र

अम्ब, मेरी और उनकी क्या तुलना?
योग्यतम का ही आधिपत्य सदा योग्य है।

माताभूमि

उनमें भी ऐसे योग्य क्या हो नहीं सकते,
तेरा यह आविष्कार अणु-सा उड़ा दे जो?
दूसरों को बार-बार वन्य कहता है तू,
देखे नहीं आरण्यक तूने, यदि देखता,
भूल जाता दम्भ निज नागरिकता का तू।
किन्तु मैंने देखे हैं, इसी से कहती हूँ मैं,
देखते थे सब में वे अपने ही आपको।
लोभ न था उनको किसी के धन-धाम का,
भोग में नहीं, वे त्याग में ही तुष्टि मानंते।
किन्तु दीखती है आज बाहर से अर्थ की,
भीतर से काम की ही मुख्यता मनुज में।
धर्म और मोक्ष दो विनोद उन दोनों के!

पृथिवीपुत्र

तो क्या कहती है फिर पीछे लौटने को तू?

माताभूमि

ऐसा करना न तेरे हाथ है न मेरे ही;
खेत भला किन्तु बिना नींव के निकेत से।

पृथिवीपुत्र

जैसे सही, मान गयी भित्ति से भवन तू,
मेरा इसी भाँति हुआ क्रमिक विकास है।

मााताभूमि

विकसित ईशु से भी दो सहस्र वर्ष तू
आगे!

पृथिवीपुत्र

हाँ, जुडास से सहस्रों गुना सभ्य मैं।

माताभूमि

मैं तो देखती हूँ, लाख-लाख गुना तुझमें
विकसित गृध्र वही, साधनों के साथ है!

पृथिवीपुत्र

अम्ब, कुछ कह तू, परन्तु एक सबका
शासक हूँ मैं ही, तुझे शीघ्र दिखा दूँगा मैं।

माताभूमि

पर मैं करूँगी गर्व कैसे उस जय का?
एक केतु पूँछ फटकार कर नभ में
किसको डराता नहीं अपने उदय से?

पृथिवीपुत्र

युद्ध से ही युद्ध को समाप्त कर दूँगा मैं।

माताभूमि

एक के अनन्तर अपेक्षा एक युद्ध की,
देखती मैं आ रही हूँ, ज्ञात नहीं कब से।
एक सदुद्देश्य कहके ही सब जूझे हैं,
किन्तु एक इति में जुड़ा है अथ दूसरा!
शासक का नाम रख त्रासक ही होगा तू;
भय से जो बाध्य होंगे साध्य होंगे क्या कभी?
अनुगत होंगे घात करने को पीछे से!

तेरे पहले भी हुए कितने विजेता हैं,
किन्तु जनता ने उन्हें नेता कहाँ माना है?

पृथिवीपुत्र

छोड़ूँगा नहीं मैं कहीं कुत्सित-कदर्य को।

माताभूमि

कुत्सित-कदर्य किसे कहता है तू भला?
एक दृष्टिकोण से ही देखा नहीं जाता है।
होता नहीं नष्ट कर देने योग्य मल भी;
उसका भी सार बना लेने में बड़ाई है,
वृद्धि पावे जिससे हमारी शस्य-सम्पदा।
कुत्सित-कदर्य स्वयं तू ही न हो पहले;
इधर उठाता और ढाता है उधर तू।
तो भी कहता है, अब बालक नहीं हूँ मैं!
बालक भला था, आज पागल हुआ है तू।
अथवा मैं पागल भी कैसे कहूँ तुझको,
तेरे सब तन्त्र आज सीधे षड्यन्त्र हैं।
नाम कुछ और, हाय काम कुछ और है!

पृथिवीपुत्र

तो क्या चाहती है तू, बता दे यही मुझको।

माताभूमि

तुमको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं।
मेरे जात जन्तुओं में मुख्य तू ही है;
किन्तु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है।
मिथ्या दर्प छोड़ने का साहस हो तुझ में,
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू,
देश, कुल, जाति किंवा वर्ग-भेद भूल के।
जा तू, विश्व-मानव हो, सेवा कर सबकी।
भीति नहीं, प्रीति यथा रीति तेरी नीति हो।
उठ, बढ़, ऊँचा चढ़ संग लिये सबको;
सबके लिए तू और तेरे लिए सब हैं।
नाश में लगी जो बुद्धि, बिलसे विकास में,
गर्व करूँ मैं भी निज पुत्रवती होने का!

जय भारत

श्रीराम

निवेदन

अर्द्ध शताब्दि होने आयी, जब मैंने 'जयद्रथ-वध' का लिखना प्रारम्भ किया था। उसके पश्चात् भी बहुत दिनों तक महाभारत के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मैंने अनेक रचनाएँ कीं। उन्हें लेकर कौरव-पाण्डवों की मूल कथा लिखने की बात भी मन में आती रही, परन्तु उस प्रयास के पूरे होने में सन्देह रहने से वैसा उत्साह न होता था।

अब से ग्यारह-बारह वर्ष पहले पर-शासन के विद्वेष्टा के रूप में जब मुझे राजबन्दी बनना पड़ा, तब कारागार में ही सहसा वह विचार संकल्प में परिणत हो गया और मैं यह साहस कर बैठा। परन्तु वहीं 'अजित' और 'कुणाल-गीत' लिखने का काम भी हाथ में ले लेने से इस पर पूरा समय न लगा सका। आगे भी अनेक कारणों से क्रम का निर्वाह न कर सका।

एक अतर्कित बाधा और आ गयी। अपनी जिन पूर्व-कृतियों के सहारे यह काम सुविधापूर्वक कर लेने की मुझे आशा थी, वह भी पूरी न हुई। 'जयद्रथ-वध' से तो मैं कुछ भी न ले सका। युद्ध का प्रकरण मैंने और ही प्रकार से लिखा। अन्य रचनाओं में भी मुझे बहुत हेर-फेर करने पड़े। कुछ तो नये सिरे से पूरी की पूरी फिर लिखनी पड़ीं। तथापि इससे अन्त में मुझे सन्तोष ही हुआ और इसे मैंने अपनी लेखनी का क्रम-विकास ही समझा।

जिन्हें अपने लेखों में कभी कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, उनके मानसिक विकास की पहले ही इतिश्री हो चुकी होती है। अन्यथा एक अवस्था तक मनुष्य की बुद्धि पोषण प्राप्त करती ही है, नये-नये अनुभव और विचार आगे आते रहते हैं और अपनी सीमाओं में अनुशीलन भी वृद्धि पाता है। द्रष्टाओं की दूसरी बात है। परन्तु मेरे ऐसे साधारण जन के लिए यह स्वाभाविक ही है। कुछ दिन पूर्व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक पाण्डुलिपि के कुछ पृष्ठों के प्रतिबिम्ब प्रकाशित हुए थे। उनमें अनेक स्थलों पर काट-कूट दिखाई देती थी। यह अलग बात

है कि उनकी काट-कूट में भी चित्रणकला फूट उठती थी।

किसी समय हमारे मन में कोई भाव ऐसे सूक्ष्म रूप में आता है कि उसे हम ठीक-ठीक पकड़ नहीं पाते। आगे स्पष्ट हो जाने की आशा से उसे जैसे तैसे ग्रहण कर लेना पड़ता है। कभी किसी भाव को प्रकट करने के लिए उसी समय उपयुक्त शब्द नहीं उठते। आपबीती ही कहूँ। कुणाल का एक गीत मैं लिख रहा था। उसकी टेक यों बनी–

नीर नीचे से निकलता–देख लो यह रहँट चलता।

लिखने के अनन्तर भी जैसे लिखना पूरा नहीं लगा। सोचना भी नहीं रुका। तब इस प्रकार परिवर्तन हुआ–

तोय तल से ही निकलता।

'नीचे से' के स्थान पर 'तल से' ठीक हुआ जान पड़ा, तथापि चिन्तन शान्त नहीं हुआ! अन्त में–

तत्त्व तल से ही निकलता।

बन जाने पर ही सन्तोष हुआ। अस्तु।

अपने पात्रों का आलेखन मैं कैसा कर सका, इस सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। वह पाठकों के सम्मुख है। उसके विषय में स्वयं पाठक जो कुछ कहेंगे, उसे सुनने के लिए मैं अवश्य प्रस्तुत रहूँगा। इस समय तो उनकी सेवा में यही निवेदन है कि वे कृपा कर मेरा अभिवादन स्वीकार करें–जय भारत!

चिरगाँव —मैथिलीशरण

रथयात्रा, 2009

“जीवन-यशस्-सम्मान-धन-सन्तान सुख सब मर्म के;
मुझको परन्तु शतांश भी लगते नहीं निज धर्म के।”
—युधिष्ठिर
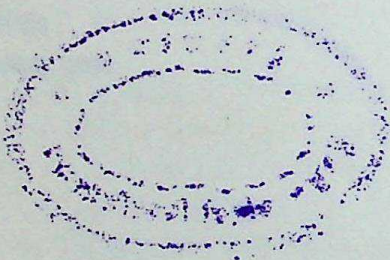
श्रीगणेशाय नमः

जय भारत

मनुज-मानस में तरंगित बहु विचारस्रोत,
एक आश्रय, राम के पुण्याचरण का पोत।

नमो नारायण, नमो नर, —प्रवर पौरुष केतु,
नमो भारति देवि, वन्दे व्यास, जय के हेतु!

नहुष

"नारायण! नारायण! साधु नर-साधना,
इन्द्र-पद ने भी की उसी की शुभाराधना!"
गूँज उठी नारद की वीणा स्वर-ग्राम में,
पहुँचे विचरते वे वैजयन्त धाम में।

आप इन्द्र को भी त्याग करके स्वपद का,
प्रायश्चित्त करना पड़ा था वृत्र-वध का।
पृथ्वीपुत्र ने ही तब भार लिया स्वर्ग का,
त्राता हुआ नहुष नरेन्द्र सुर-वर्ग का।
था सब प्रबन्ध यथापूर्व भी वहाँ नया,
ढीला पड़ा तन्त्र फिर तान-सा दिया गया।
अभ्युत्थान देके नये इन्द्र ने उन्हें लिया,
मुनि से विनम्र व्यवहार उसने किया।
"आज का प्रभात सुप्रभात, आप आये हैं,
दीजिए, जो आज्ञा स्वयं मेरे लिए लाये हैं।"
"दुर्लभ नरेन्द्र, तुम्हें आज क्या पदार्थ है?
दूँगा मैं बधाई अहा कैसा पुरुषार्थ है!"
"सीमा क्या यही है पुरुषार्थ की पुरुष के?"
मुद्रा हुई उत्सुक-सी मुख की नहुष के।
मुनि मुसकाये और बोले—"यह प्रश्न धन्य!
कौन पुरुषार्थ भला इससे अधिक अन्य?
शेष अब कौन-सा सुफल तुम्हें पाने को?"
"फल से क्या, उत्सुक मैं कुछ कर जाने को।"
"वीर, करने को यहाँ स्वर्ग-सुख-भोग ही,

जिसमें न तो है जरा-जीर्णता, न रोग ही।
ऐसा रस पृथ्वी पर–" "मैंने नहीं पाया है,
यद्यपि क्या अन्त अभी उसका भी आया है।
मान्य मुने, अन्त में हमारी गति तो वहीं,
और मुझे गर्व ही है, लज्जा इसमें नहीं।
ऊँचे रहे स्वर्ग, नीचे भूमि को क्या टोटा है?
मस्तक से हृदय कभी क्या कुछ छोटा है?
व्योम रचा जिसने, उसी ने वसुधा रची,
किस कृति-हेतु नहीं उसकी कला बची?
जीव मात्र को ही निज जन्मस्थान प्यारा है।"
"किन्तु भूलते हो, स्वर्गलोक भी तुम्हारा है।
करके कठोर तप, छोर नहीं जिसका,
देना पड़ता है फिर देह-मूल्य इसका।
कहते हैं, स्वर्ग नहीं मिलता बिना मरे,
पाया इसी देह से है तुमने इसे अरे!"
नम्र हुआ नहुष सलज्ज मुसकान में,–
"त्रुटि तो नहीं थी यही मेरे मूल्य-दान में?"
"पूर्णता भी चाहती है ऐसी त्रुटि चुनके।"
"मैं अनुगृहीत हुआ आज यह सुनके।
देव, यहाँ सारे काम-काज देखता हूँ मैं,
निज को अकेला-सा परन्तु लेखता हूँ मैं।
चोट लगती है, यह सोचता हूँ मैं जहाँ,–
छूत तो किसी को नहीं इस तनु से यहाँ?
यद्यपि कुभाव नहीं कोई भी जनाता है,
तो भी स्वाभिमान मुझे विद्रोही बनाता है।"
"आह! मनोदुर्बलता, वीर, यह त्याज्य है,
आप निर्जरों ने तुम्हें सौंपा निज राज्य है।
दानवों से रक्षा कर भोगो इस गेह को,
मानो देव-मन्दिर ही निज नर-देह को।"
"आपकी कृपा से मिटी ग्लानि मेरे मन की,
प्रकट कृतज्ञता हो कैसे इस जन की?"
बोले हँस नारद प्रसन्न कल वर्णों से–
"ज्ञाता है अधिक मेरा मन ही स्वकर्णों से!"

× × ×

दिव्य भाग पाके भव्य याग तथा त्याग से,
रंजक भी राजा अब रंजित था राग से!
ऐसा नर पाके धन्य स्वर्ग का भी भोग था,
नर के लिए भी यह चरम सुयोग था।
सेवन से और और बढ़ते विषय हैं,
अर्थ जितने हैं सब काम में ही लय हैं।
एक बार पीकर प्रमत्त जो हुआ जहाँ,
सुध फिर अपनी-परायी उसको कहाँ?
देव-नृत्य देख, देव-गीत-वाद्य सुनके,
नन्दन विपिन के अनोखे फूल चुनके,
इच्छा रह जाती किस अन्य फल की उसे?
चिन्ता न थी आज किसी अन्य कल की उसे!
प्रस्तुत समक्ष उसे स्वप्न की-सी बातें थीं,
सोकर क्या खोने के लिए वे रम्य रातें थीं?
प्रातःकाल होता था विहार देव-नद में,
किंवा चन्द्रकान्त मणियों के हृद्य ह्रद में।
नेत्र ही भरे थे नरदेव के न मद से,
होती थी प्रकट एक झूम पद पद से।
ऊपर से नीचे तक मत्तता न थी कहाँ,
ऐरावत से भी दर्शनीय वह था वहाँ।
अधमुँदी आँखें अहा! खुल गयीं अन्त में,—
पाकर शची की एक झलक अनन्त में।
पति की प्रतीक्षा में, निरत व्रतस्नेह में,
काट रही थी जो काल सुरगुरु-गेह में।
आया था विहारी नृप राज-हंस-तरि से,
वह निकली ही थी नहाके सुरसरि से।
निकली नयी-सी वह वारि से वसुन्धरा,
वर तो वही है बड़ा जिसने उसे वरा।
एक घटना-सी घटी सुषुमा की सृष्टि में,
अद्भुत यथार्थता थी कल्पना की सृष्टि में।
पूछना पड़ा न उसे परिचय उसका,
कर उठीं अप्सराएँ जय जय उसका।
"ओहो यह इन्द्राणी!"—उसाँस भर बोला वह,
बैठा रह के भी आज आसन से डोला वह।

मन था निवृत्त हुआ अप्सरा-विहार से,
उसने निभाया उसे मात्र शिष्टाचार से।
"यह दिपी, वह छिपी दामनी-सी क्षण में,
जागी इसी बीच नयी कान्ति कण कण में।
मेरा साधना की गति आगे नहीं जा सकी,
सिद्धि की झलक एक दूर से ही पा सकी।
विस्मय है, किन्तु यहाँ भूला रहा कैसा मैं,
इन्द्राणी उसी की इन्द्र है जो, आज जैसा मैं।
वह तो रहेगी वही, इन्द्र जो हो सो सही,
होगी हाँ कुमारी फिर चिर युवती वही।
तो क्यों मुझे देख वह सहसा चली गयी,
आह! मैं छला गया हूँ वा वही छली गयी?
एक यही फूल है जो हो सके पुनः कली,
इतने दिनों तक क्यों मैंने सुधि भी न ली।
इन्द्र होके भी मैं गृहभ्रष्ट-सा यहाँ रहा,
लाख अप्सराएँ रहें, इन्द्राणी कहाँ अहा!
ऊलती तरंगों पर झूलती-सी निकली,
दो दो करी-कुम्भी यहाँ हूलती-सी निकली!
क्या शक्रत्व मेरा, जो मिली न शची भामिनी,
बाहर की मेरी सखी भीतर की स्वामिनी।
आह! कैसी तेजस्विनी आभिजात्य-अमला,
निकली सुनीर से यों क्षीर से ज्यों कमला।
एक और पर्त्त-सा त्वचा का आर्द्र पट था,
फूट-फट रूप दूने वेग से प्रकट था।
तो भी ढके अंग घने दीर्घ कच-भार से,
सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि-धार से।
दिव्य गति लाघव सुरांगनाओं ने धरा,
स्वर्ग में सुगौरव तो वासवी ने ही भरा।
देह धुली उसकी वा गंगाजल ही धुला,
चाँदी घुलती थी जहाँ सोना भी वहाँ घुला।
मुक्ता तुल्य बूँदें टपकी जो बड़े बालों से।
चू रहा था विष वा अमृत वह व्यालों से।
आ रही हैं लहरें अभी तक मुझे यहाँ,
जल-थल-वायु तीनों पानेच्छुक थे वहाँ।

बाह्य ही जहाँ का बना जैसे एक सपना,
देखता मैं कैसे वहाँ अन्तःपुर अपना।
सबसे खिंचा-सा रहा उद्धत प्रथम मैं,
फिर जिस ओर गया हाय! गया रम मैं।
वस्तुतः शची के लिए बात थी विषाद की,
माँगूँगा क्षमा मैं आज अपने प्रमाद की।
ऊँचा यह भाल स्वर्ग-भार धरे जावेगा,
उसके समक्ष झुक गौरव ही पावेगा।''

दूती भेज उसने शची से कहलाया यों—
''वैजयन्त धाम देवराज्ञी ने भुलाया क्यों?
दूना-सा अकेले मुझे शासन का भार है,
आधा कर दे जो उसे ऐसा सहचार है।
सह नहीं सकता विलम्ब और अब मैं,
आज्ञा मिले, आऊँ स्वयं लेने कहाँ, कब मैं?''
उत्तर मिला—''तुम्हें बसाया वैजयन्त में,
चाहते हो मेरा धर्म भी क्या तुम अन्त में?
जैसे धनी-मानी गृही जाय तीर्थ-कृत्य को,
और घर-बार सौंप जाय भले भृत्य को,
सौंपा अपने को यह राज्य वैसे जानो तुम,
थाती इसे मानो, निज धर्म पहचानो तुम।
त्यागो शची-संग रहने की पाप-वासना,
हर ले नरत्व भी न कामदेवोपासना।''
जा सुनाया दूती ने सुरेश्वरी ने जो कहा,
सुन के नहुष आप आपे में नहीं रहा।
''अच्छा! इन्द्रपद का नहीं हूँ अधिकारी मैं?
सेवक - समान देव - शासनानुचारी मैं?
स्वर्ग-राज्य तो क्या, अपवर्ग भी है एक पण्य,
मूल्य गिन दे जो धनी, ले ले वह आप गण्य।
असुर पुलोम-पुत्री इन्द्राणी बने जहाँ,
नर भी क्यों इन्द्र नहीं बन सकता वहाँ?
कौन कहता है, नहीं आज सुर-नेता मैं?
पाकशासनासन का मूल्यदाता, क्रेता मैं।

साग्रह सुरों ने मुझे सौंपी स्वयं शक्रता,
कैसी फिर आज यह वासवी की वक्रता?
प्रस्तुत मैं मान रखने को एक तृण का,
और मैं ऋणी हूँ परमाणु के भी ऋण का।
अपना अनादर परन्तु यदि मैं सहूँ,
तो फिर पुरुष हूँ मैं, किस मुँह से कहूँ?''

झूला हठ-बाल पाके मन्मथ का पालना,
पाने से कठिन किसी पद का सँभालना।
देव-कुल-गुरु को प्रणाम कर दूत ने
सन्देसा सुनाया, जो कहा था पुरहूत ने।
''आपकी कृपा से देव-कार्य विघ्न-हीन है,
जाकर रसातल में दैत्य-दल दीन है।
बाहर की जितनी व्यवस्था, सब ठीक है,
घर की अवस्था किन्तु शून्य है, अलीक है।
फिर भी शची थीं इस बीच आपके यहाँ,
और मायके-सा मोद पा रही थीं वे वहाँ।
आज्ञा मिले, आऊँ उन्हें लेने स्वयं प्रीति से,
आप जो बतावें उसी राजोचित रीति से।''
''सुन लिया मैंने, प्रतिवाक्य पीछे जायगा,
कहना, विलम्ब व्यर्थ होने नहीं पायगा।''
कह गुरुदेव ने यों दूत को विदा किया,
और मन्त्रणार्थ मुख्य देवों को बुला लिया।
बैठे यथास्थान सब सभ्य उन्हें नत हो,
बोले गुरु—''सुगत सुचिन्तित सुमत हो!
ईश्वर का जीव से है मानो यही कहना—
'तू निश्चिन्त होके कभी बैठ नहीं रहना।'
नर अधिकारी आज देवराज-पद का,
किंवा वह लक्ष हुआ हाय! सुर-मद का।
सम्प्रति शची में हठी नहुष निरत है,
सोचो कुछ यत्न यह उससे विरत है।''
माँग जो नहुष की थी, सबने सुनी, गुनी,
किन्तु कहाँ हो सके हैं एक मत दो मुनी?

एक ने उचित मानी, अनुचित अन्य ने,
तो भी दिया मुक्त मत किस मतिमन्य ने?
तर्क स्वयं भटका है खोजने जा तत्व को,
फिर भी न माने कौन उसके महत्व को?
शंका-वधू जेठी, वर हेठा समाधान है!
बोले श्रीद–"मत तो शची का ही प्रधान है।"
"मेरा मत?" मानधना बोली–"पूछते हो आज?"
पूछ लूँ क्या मैं भी, क्यों बनाया उसे देवराज?
कोई न था तुममें जो भार धरे तब लों,
स्वामी कहीं प्रायश्चित्त पूरा करें जब लों?"
"हाय महादेवि!" बोले व्यथित वरुण यों–
"अपने ही ऊपर क्यों आप अकरुण यों?
मारा जिस वज्र ने है वृत्र को अभी अभी,
होता नहीं निष्फल प्रयोग जिसका कभी,
व्यर्थ वह भी है यहाँ, अक्षत है धर्म तो,
काटा नहीं जा सकता वज्र से भी कर्म तो!
कोई जो बड़े से बड़ा फल भी न पायगा,
ऊँचे उठने का फिर कष्ट क्यों उठायगा?
कर्म ही किसी के उसे योग्य फलदायी हैं,
देव पक्षपाती नहीं, समदर्शी, न्यायी हैं।
योग्य अनुगत को बढ़ाते क्यों न आगे हम?
दान-मान देने में कृती को कहाँ भागे हम?
वस्तुस्थिति जो है, वह आपके समक्ष है,
और कुछ भी हो, उसका भी एक पक्ष है।
आपके लिए भी विधि है, यदि उसे वरें,
सोचें परिणाम फिर आप कुछ भी करें।"
"मैं तो मनःपूत को ही मानती हूँ आचरण;
ऐच्छिक विषय मेरा व्यक्ति-वरणावरण।
सत्ता हाँ समाज की है, वह जो करे, करे,
एक अबला का क्या, जिये, जिये; मरे, मरे!
किंवा यह सारी कृपा ऋषि-मुनियों की है,
गरिमा गभीर गूढ़ उन गुनियों की है।
मारने की आततायी ब्रह्मदैत्य यति को,
हत्या ऋषियों ने ही लगाई देवपति को।

धिक्, वह विधि ही निषिद्ध मेरी स्मृति में,
दोष मात्र देखे जो हमारी कृति कृति में!
हमने किया सो आत्म-रक्षा के लिए किया,
ध्यान इस पर भी किसी ने कुछ है दिया?
आहुतियाँ देके इस नहुष अभाग को,
दूध ऋषियों ने ही पिलाया कालनाग को।
अच्छा तो उठाके वही कन्धों पर शिविका,
लावें उस नर को बना के वर दिवि का।"
"अलमिति" बोल उठे वाचस्पति—"हो गया,
यान हो शची के नये वर का यही नया!"

विस्मित-सा मम्मत नहुष हुआ ऐसे भी,
पाना जो उसे था मिले क्यों न वह कैसे भी।
बोले ऋषि—"भुगतेंगे हम यह विष्टि-भार,
सह्य निज राजा की अनीति भी है एक बार।"
मत्त-सा नहुष चला बैठ ऋषि-यान में,
व्याकुल-से देव चले साथ में विमान में।
पिछड़े तो वाहक विशेषता से भार की,
आरोही अधीर हुआ प्रेरणा से मार की!
"बस क्या यही है, बस बैठ विधियाँ गढ़ो,
अश्व-से अड़ो न अरे, कुछ तो बढ़ो, बढ़ो!"
बार बार कन्धे फेरने को ऋषि अटके,
आतुर हो राजा ने सरोष पैर पटके।
क्षिप्त पद हाय! एक ऋषि को जो जा लगा,
सातों ऋषियों में महा रोषानल आ जगा।
"भार वहें, बातें सुनें, लातें भी सहें क्या हम,
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम?
पैर था वा साँप यह, डस गया संग ही,
पामर, पतित हो तू होकर भुजंग ही!"
चौंक पड़ा राजा, मुख-मुद्रा हुई विकला,
"हा! यह हुआ क्या?" यही व्यग्र वाक्य निकला।
शून्य पट-चित्र हुआ घुलता-सा वृष्टि से,
देखा फिर उसने समक्ष शून्य दृष्टि से।

दीख पड़ा उसको न जाने क्या समीप-सा,
हो उठा प्रदीप्त वह बुझता प्रदीप-सा।
''संकट तो संकट, परन्तु यह भय क्या?
दूसरा सृजन नहीं मेरा एक लय क्या?''
सँभला अदम्य मानी खींचकर ढीले अंग,
''कुछ नहीं, स्वप्न था सो हो गया भला ही भंग।
कठिन कठोर सत्य, तो भी शिरोधार्य है,
शान्त हों महर्षि, मुझे शाप अंगीकार्य है।
मानता हूँ भूल हुई, खेद मुझे इसका,
सौंपे वही कार्य उसे, धार्य हो जो जिसका।
स्वर्ग से पतन, किन्तु मेदिनी की गोद में;
और जिस जोन में जो, सो उसी में मोद में।
काल गति-शील मुझे लेके नहीं बैठेगा,
किन्तु उस जीवन में विष घुस पैठेगा।
तो भी खोजने का कुछ कष्ट जो उठायँगे,
विष में भी अमृत छिपा वे कृती पायँगे।
मानता हूँ, भूल गया नारद का कहना—
'दैत्यों से बचाये निज देवधाम रहना।'
आ घुसा असुर हाय! मेरे ही हृदय में,
मानता हूँ, आप लज्जा पाप अविनय में।
मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति आज भी मैं नहीं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।
गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।''

यदु और पुरु

नित नया है देव-दानव-समर घोर-कठोर,
अमरता इस ओर तो संजीवनी उस ओर!
रह सका है कौन कब अपने अहं को भूल,
जाय कोई पुरुष कैसे प्रकृति के प्रतिकूल?

गुरु बृहस्पति-शुक्र रक्खें लाख पक्ष-विभेद
किन्तु उनके सुत-सुता भी मिल न पाये, खेद!
तज गया कच शील रख संजीवनी का लोभ,
देवयानी का प्रणय ही बन गया विक्षोभ।
आप शर्मिष्ठा दनुज-कुल-राज-कन्या-रत्न,
गुरु-सुता को साधने में हो गयी हतयत्न।
दे सकी उसको न तो क्रीड़ा-कला ही मोद,
ले सकी कुछ वह न तो आख्यान-वस्तु-विनोद।
विजन-विकला आलियों को क्यों न लेती साथ,
थिर न था मन, वह भ्रमण में क्यों न देती साथ?
भस्म-लुंठित मलिन चाहे था पटों का राग,
पर नदी-जल भी बुझा पाया न उसकी आग!
नृप-सुता जल से निकल उसका वही पट धार
छोड़ उसके अर्थ निज ज्यों ही जनावे प्यार;
बिगड़ कर उसने कहा—"क्या खा गयी हो भाँग?
कर रहा यह कुपट-परिवर्तन कहाँ का स्वाँग?
हँस कहा इसने—"बहन, दो बन्धु पलटें पाग,
पट पलट तो क्यों न हम भी दृढ़ करें अनुराग?"
"आह! यह साहस तुम्हारा, साम्य मेरे संग?"

हो गयी थीं क्रोध से उसकी भृकुटियाँ भंग।
शान्त फिर भी यह रही रखती हुई रस रम्य–
"साम्य ही तो काम्य है सखि, विष भरा वैषम्य।"
"सीख रहने दो, नहीं है यह तुम्हारा काम,
पीढ़ियों तुमको पढ़ा सकता अभी गुरुधाम।"
"उस पढ़ाई की प्रकट हो यदि तुम्हीं प्रतिमूर्ति,
तो नहीं उसके लिए मुझमें तनिक भी स्फूर्ति।
प्राप्त है गौरव तुम्हें तो है मुझे भी मान।"
"वह न लोटे इन पदों में तो मुझे है आन।
दण्ड अपनी धृष्टता का तुम सहोगी आप।"
"दण्ड पर अधिकार मेरा, दो भले तुम शाप।"
बढ़ गयी यों बात आगे घात में प्रतिघात,
अन्त में उसका हुआ वन-गर्त्त में विनिपात।
छोड़ कर उसको वहीं यह लौट आयी आप,
आर्द्र पट उसके सुखाता रह गया उत्ताप।
"निकल तो पाऊँ यहाँ से तब न लूँ प्रतिशोध,
मन, प्रतीक्षा कर ठहर टुक धैर्य धर निर्बोध!"
आ गये सहसा वहाँ आखेट शील ययाति,
व्याप्त थी सर्वत्र जिनके राजकुल की ख्याति।
देख उसको–"कौन तुम?" कह रह गये वे मौन,
प्रश्न ही उसने किया–"पहले सुनूँ तुम कौन?"
"नहुष-पुत्र ययाति हूँ मैं, अब कहो भय छोड़?"
"नहुष?" रुक कर तनिक वह बोली मसृण तृण तोड़–
"स्वर्ग के शासक हुए जो भूमि पर धृति-धाम?"
"पुण्यभूमि कहो, हमारी भूमि का जो नाम।"
"पुण्यभूमि यथार्थ, जिसके पुरुष ऐसे धन्य,
ठीक है, मेरे लिए तब तुम नहीं हो अन्य।
मैं करूँ ऊँचा सुकृति, नीचा करो तुम हाथ,
खींच लो ऊपर मुझे करके कृतार्थ सनाथ।"
वाक्य पूरा कर अचानक हो गया मुँह लाल,
कर उठा, फिर भी झुका तत्काल उसका भाल।
"पाणि-पीड़न के लिए सुकुमारि, मैं हूँ क्षम्य,
दीखती मुझको नहीं इसके बिना गति गम्य।"
भूप ने हँस कह यही उसका किया उद्धार,

सुन पड़ी तत्क्षण वहाँ—"हा देवयानि!" पुकार।
हो रहे उन्मत्त-से थे दैत्य-गुरुवर आज,
साथ नंगे पैर दानवराज था ससमाज।
"आह बेटी!" कह उन्होंने आ भरा उत्संग,
"हा पिता!" ही कह सकी वह भी शिथिल कर अंग।
"शान्त हो बेटी, कहे क्या और तेरा बाप,
राजपुत्री ने मुझे सब कुछ सुनाया आप।
प्रकट कर अभिलाष अपना तू अशंक अबाध,
मूल्य रखती है क्षमा ही, सुलभ है अपराध।"
"दण्डपाणि समर्थ का अपराध कैसा तात!
और भिक्षुक की क्षमा तो है हँसी की बात।"
भूप वृषपर्वा बढ़ा, उसने कहा कर जोड़—
"गुरु स्वयं भिक्षुक बने हैं राज्य हमको छोड़।
दण्ड से कायर डरे, करके कहीं कुछ दोष,
गुरुसुते, आज्ञा करे कुछ भी तुम्हारा रोष।
हम सभी सेवक तुम्हारे, यह तुम्हें है ज्ञात।"
"किन्तु शर्मिष्ठा हमारी स्वामिनी विख्यात।"
दैत्यपति ने घूम कर देखा सुता की ओर,
सहज ही आगे बढ़ी वह भोर की-सी कोर।
और बोली गुरुसुता से गर्व पूर्वक हार—
"स्वकुल कल्याणार्थ मुझको दास्य भी स्वीकार।"

शान्त इस विध हो गया यह कलह पूर्ण अनिष्ट,
क़िन्तु बहुधा अन्त को भी इष्ट है परिशिष्ट।
जिस सदय राजर्षि ने आकर धरा था हाथ,
देवयानी ने वरा उसको हृदय के साथ।
सहचरी सह अनुचरी बन भूल राजस रंग,
अवश शर्मिष्ठा गयी उस गर्विता के संग।
नीतिमन्त ययाति ने रक्खी उचित रस-रीति,
एक से थी भीति उनको दूसरी से प्रीति।
देवयानी को मिला मातृत्व 'यदु' सुत जन्य,
और शर्मिष्ठा हुई 'पुरु' पुत्र पाकर धन्य।
यह छिपा रखती कहाँ तक आत्म-रूप रसाल,

लाल हो उसने कहा—"पाया कहाँ यह लाल?"
"यह तुम्हारे अनुसरण का फल, कहूँ क्यों झूठ,"
"अनुचरी वा तू सपत्नी?" कह उठी वह रूठ।
हाय! जननी के हृदय पर कब न लोटा साँप?
पद पकड़ उसने कहा निज भावि-भय से काँप—
"मैं तुम्हारी, यह तुम्हारे पुत्र का है दास,
तुम स्वयं जननी, दया चीन्हो, न दो यों त्रास।"
"माँ हुई, समझी न तू माँ के हृदय का क्षोभ,
छोड़ देगा हाय! क्या यह राज्य का भी लोभ?"
"देवि हा! मानव भले ही कर सकें वह घात,
तुम न भूलो किन्तु यह दानव-सुता का जात।"
"किन्तु माँ का भी न लेगा पुत्र क्या प्रतिशोध?"
कह पिता के घर गयी वह मानिनी सक्रोध।
नहुष-नन्दन को दिया गुरु ने जरा का शाप,
पर स्वयं तापित हुए वे देख उसका ताप।
इस कृपा के अर्थ ही माना नृपति ने पुण्य,
वे जरा देकर किसी को ले सकें तारुण्य।
दे सके पर वे किसी पर को न अपना क्लेश,
साथ ही थी भोग की इच्छा अभी अवशेष।
ज्येष्ठ सुत यदु ही हुआ उनकी व्यथा का लक्ष,
किन्तु माँ का ही प्रबल उस पुत्र में था पक्ष।
"जब गया तब पुत्र की ही ओर जनरव-रोष,
पर पिता अपिता बने तो पुत्र का क्या दोष?"
"यदु, पिता के साथ ही मैं भूप भी हूँ आज,
छोड़ बैठा हाय! क्या तू लोक की भी लाज?"
"ओह! क्या ऐसा पिता भी मोह करने योग्य?
और ऐसा भूप तो विद्रोह करने योग्य!"
हट गया यदु, कर गया मानों भरा घन वृष्टि,
तब पड़ी पुरु पर पिता की क्लेश-कातर दृष्टि।
"तात, जीवन है जरा में, मरण भी स्वीकार,
हो सके यदि आपकी इस आर्त्ति का उपचार।"
"वत्स, तुझको ही रहा इस राज्य का अधिकार,
मैं जनक हूँ, त्याज्य सुत भी पा सके सुख-सार।
जान जो पाया नहीं अपने पिता की भीर,

समझ पावेगा कहाँ से वह प्रजा की पीर!"
अन्त में नृप की मिटी वह भोग विषयक भ्रान्ति,
और लेकर निज जरा पाई उन्होंने शान्ति।
भोगने से कब घटे हैं रोग रूपी राग?
और बढ़ती है निरन्तर ईंधनों से आग?

योजनगन्धा

पूज्य ययाति पिता के वर से हुई पुत्र पुरु की कुल-वृद्धि;
और आप यदु ने भी पाई आभिजात्य के साथ समृद्धि।
उपजे भरत भूप पुरु-कुल में, बना उन्हीं से भारतवर्ष,
कर अवतरित आप श्रीहरि को पाया यदु-कुल ने उत्कर्ष।
परे कृष्ण से और कौन है, जिसको कोई जाति जने?
पुरु-कुल में कुरु जन्मे, जिनसे पौरव-कौरव कृती बने।
महाराज शान्तनु से कुरुकुल हुआ और मानी-दानी,
देवव्रत-सा कुलधन जिनका, गंगा-सी जिनकी रानी।
सब राजों ने मिल शान्तनु को चुना राजराजेश्वर रूप,
हुए चक्रवर्ती समुद्र तक वे अशेष भारत के भूप।
सिन्धु पार भी बहु द्वीपान्तर उनके यश से धवल हुए,
प्रतिपक्षी उनके प्रताप से शीघ्र काल के कवल हुए।
जनकर देवव्रत-से सुत को धन्य हुई गंगा भी आप,
हरती है जो शरणागत के सारे पाप-शाप-सन्ताप।
उसके आत्म-मग्न होने पर, होकर शान्तनु आर्त्त अधीर,
उदासीन-से घूमा करते एकाकी यमुना के तीर।
गंगा-तीर समान भाग्य से यमुना-तट भी उन्हें फला,
लेकर दिव्य सुगन्धि एक दिन शीतल-मन्द समीर चला।
चौंक पड़े वे उसे सूँघ कर, हुई ऊँघ-सी उनकी दूर,
फिर भी स्वप्नाविष्ट सदृश वे बढ़े मोद के मद में चूर।
खिलती हुई कली-सी आगे दीख पड़ी योजनगन्धा,
हुआ निमेष मात्र में उनका मोहित मनोमधुप अन्धा।
धीवर-सुता मत्स्यगन्धा थी योजनगन्धा ऋषि-वर से,
रमणी-मणि तो सदा ग्राह्य है ऐसे वैसे भी घर से।
लाई थी धारा-विरुद्ध वह खेकर छोटी-सी तरणी,

थी श्रम से उद्दीप्त और भी तप्तस्वर्णशोभाभरणी।
उभरे अंग साँस बढ़ने से हिलकोरे-से लेते थे,
स्वेद-बिन्दु माथे के मोती भाग्य-सूचना देते थे।
लम्बा बाँस लिये थी कर में निज विजयध्वज-दंड यथा,
चली चलाने को प्रभाव से मानो कोई नयी प्रथा।
जल-पट पर अरुणातप रेखा उसका चित्रण करती थी,
वह श्रम विफल देख कर बाला मुसकाती मन भरती थी।
अलकें वा यमुना लहरों से सूँघ रही थी सिर उसका,
भोले मुख पर खेल रहा था बाल्यभाव अस्थिर उसका।
खड़ा कछोटा, किन्तु कँधेला पड़ा पड़ा उड़ चलता था,
गोरे बाहु मूल में यौवन फूला फूला फलता था।
"शुभे, कौन तुम पली प्यार से सुख से खाई-खेली हो?
अद्भुत सुरभि भरी फूली-सी कल्प-वृक्ष की बेली हो?
भोली-भाली भी कुछ अल्हड़, निर्मल नयी नवेली हो,
क्रीड़ा-तरी लिये निर्जन में डरती नहीं अकेली हो?"
"जब हो श्रीमन्, सत्यवती मैं, दासराज हैं मेरे तात,
राज्य हमारे राजा का है, कहिए फिर डर की क्या बात?"
"क्या वस्तुतः तुम्हारा राजा ऐसा धीरधुरन्धर है?"
"अधिक क्या कहूँ, भू पर वह है, ऊपर सुना पुरन्दर है।"
"पर कहते हैं, वह रानी के बिना रह गया आधा है?"
"मिले कहाँ गंगा-सी रानी, यह तो विधि की बाधा है।"
"चाहे तो कर सकती है अब यमुना ही गंगा की पूर्ति,
सुतनु, दीख पड़ती है तुममें मुझे उसी की मंजुल-मूर्ति!
लज्जा ललनाओं की भूषा; ऊषा की ज्यों अरुणाई,
समधिक साहस भरी किन्तु है निडर तुम्हारी तरुणाई।
ठीक कह रहा हूँ मैं तुमसे, मुझे राज-जन ही जानों,
चाहो तो तुम सुमुखि, आपको अभी महारानी मानो।
देख रहा हूँ अहा! रूप-रस, शब्द सुन रहा हूँ मैं आप,
दिव्य गन्ध का क्या कहना है, फैल रहा ज्यों कीर्ति कलाप।
सीधा न हो, पवन के द्वारा मृदुस्पर्श भी जान लिया,
क्या बनाएँगे हम, विधि ने ही देवी तुमको बना दिया।
बोलो, नत मुख से ही बोलो, अधिक नहीं बस हाँ भर दो,
विरह-विरस अपने राजा को फिर से हरा-भरा कर दो।"
"चिर मंगल हो माननीय का, दासी है पितुराज्ञाधीन,

बिटिया रानी कहला कर ही क्या कृतकृत्य नहीं यह दीन?''
''लो, मिल गया चरित परिचय भी, सब प्रकार है यह शुभ कार्य,
कुल से नहीं, शील से ही तो होता है कोई जन आर्य।''
''यह औदार्य आर्य का, पर मैं मत्स्योदरी दास-कन्या,
नया जन्म-सा दिया पराशर मुनि ने मुझे, किया धन्या।''
''अस्तु, रात होने को है अब, चलो, तुम्हें पहुँचा आऊँ,
असमय ठौर-कुठौर अकेली छोड़ स्वयं कैसे जाऊँ?''
''अनुगृहीत मैं, करें न मेरे लिए कष्ट-चिन्ता श्रीमान,
जल तो मेरे लिए गृहस्थल और वनानी विपणि समान।''

पर दिन दासराज से मिलकर मन्त्री ने उद्देश्य कहा,
भाल संकुचित कर कुछ क्षण तक वृद्ध सोचता मौन रहा।
फिर बोला—''अपराध क्षमा हो, किसे न हो सन्तति का ध्यान?
सत्यवती रानी होगी, पर क्या होगी उसकी सन्तान?''
भौंह चढ़ाकर कहा सचिव ने—''दास न होगी वह तुझ-सी!''
''प्राप्त परन्तु उसे होगी क्या घर की प्रभुता भी मुझ-सी?''
''देवव्रत जैसे कुमार को करें राज्य-वंचित हम लोग?''
''नहीं, नहीं, वे धर्म धुरन्धर भोगें सदा राज-सुख-भोग।
मेरा नाती भी स्वराज्य से वंचित न हो, यही विनती,
होगा क्या नगण्य वह भी, यदि नहीं कहीं मेरी गिनती।
महिषी होने योग्य नहीं किस नृप की सत्यवती मेरी?
यों समर्थ हैं आप, बना लें बलपूर्वक उसको चेरी।''
''बल दिखलाते होते हम तो तू यह बात नहीं कहता,
अहोभाग्य निज मान हमारे इंगित का अनुगत रहता।
प्रजा न होकर राजा होता, फिर भी तू नाहीं करता,
तो मैं भी याचना न करके बल से ही वह मणि हरता।
छोड़ स्वार्थ-वश देवव्रत-सा प्रस्तुत निज दुर्लभ युवराज,
धिक है तुझे, देखता है तू बाट दूर भावी की आज।
चुप दुःशील, दुष्ट निज जन भी दण्डनीय मेरे मत में,
फिर भी पहले उनकी आज्ञा ले लूँ, जिनका अनुगत मैं।''
कुपित अमात्य गया, धीवर चुप सिर खुजलाता खड़ा रहा,
इधर उधर देखा फिर उसने और आप ही आप कहा—
''भूप-भोगिनी भिक्षुक की भी भार्या को पा सकी कहीं?

स्वार्थ-हानि में ही परार्थ है, सब परार्थ परमार्थ नहीं!"
सुनकर मन्त्री से सब बातें शान्तनु ने ली लम्बी साँस,
फिर कराहते से बोले वे गड़ी हृदय में मानो गाँस।
"राजनीति की घात नहीं यह, है सीधी सामाजिक बात,
मेरा जो हो, पाय न मेरी प्रजा हाय! बाधा-व्याघात।
धीवर को अधिकार, करे वह किसी पात्र को कन्या-दान,
राज्य करे देवव्रत मेरा, मरूँ भले मैं अगति-समान।
बार बार जनती है कोई जननी क्या ऐसी सन्तान,
करती जाय जगत में जनता जुग जुग जिसके गुण का गान?"
सहने लगे छिपा कर अपना मनस्ताप शान्तनु चुपचाप,
किन्तु खोजने वालों से क्या छिपा रहा ईश्वर भी आप?
ज्ञात हो गयी देवव्रत को उनकी विषम विरह-बाधा,
जिसने दो ही दिन में चुनकर कर डाला उनको आधा।
संग लिये कुछ प्रमुख जनों को धीवर के घर गये कुमार,
भय से सूख और भी मानो कड़ा पड़ गया वह इस बार।
"डरो न दासराज, तुम मेरे आव, आज गुरुजन बन जाव;
मेरी भी पितृभक्ति प्रभावित देख तुम्हारा वत्सल-भाव।
अपना-सा भाई पाने को किसे न होगा कब क्या त्याज्य?
मैं अपने भावी भ्राता के लिए छोड़ता हूँ निज राज्य।"
सहम गया धीवर, लज्जित-सा धीरे धीरे वह बोला—
"अहा! कह गया किस लघुता से महद् वचन श्रीमुख भोला।
किन्तु—" न बोल सका वह आगे, सिर नीचा कर खड़ा रहा,
"कहो कहो, संकोच छोड़कर, यों क्यों चुप हो गये अहा!"
"श्रीमन्, क्यों कर कहूँ बात वह सत्य किन्तु अप्रिय-अनुदार,
प्रकट करेंगे क्या न आपके आत्मज भी अपना अधिकार?"
"करना तो न चाहिए, फिर भी कौन कहे आगे की बात?
मैं इसका भी यत्न करूँगा, कुछ चिन्ता न करो तुम तात!
परिजन शान्त रहें, साक्षी हों देश-काल-जलवायु समर्थ,
निज राज्याधिकार तजता हूँ मैं भावी भ्राता के अर्थ।
बाधक बने न आगे जिसमें कोई औरस अविचारी,
मैं विवाह ही नहीं करूँगा, बना रहूँगा व्रतधारी!"
'भीष्म' 'भीष्म' कह उठे देव-नर, वे शोभित ही हुए विशेष,
देता जाता है श्रद्धांजलि उन्हें आज भी उनका देश।

शान्ति गयी शान्तनु की यद्यपि योजनगन्धा घर आयी,
वे रो पड़े—"पुत्र-बलि देकर मैंने नव पत्नी पायी!
प्रजा पालता रहा प्यार से यदि मैं रहकर राज्यासीन,
तो हो स्वयं काल भी मेरे देवव्रत का इच्छाधीन।"

कौरव-पाण्डव

परम्परा पा सका न नरकुल अतुल गुणी गांगेय की,
रही हार ही-सी समाप्ति में शान्तनु सदृश अजेय की।
धीवर का पक्का प्रबन्ध भी हुआ अन्त में व्यर्थ ही,
अनहोनी में यहाँ अधिकतर देखा गया अनर्थ ही!
हुआ बड़ा सुत सत्यवती का चित्रांगद राजा खरा,
वह स्वनाम के ही वैरी से वीर-तुल्य रण में मरा।
छोटा पुत्र विचित्रवीर्य था, वह बच्चा ही था अभी,
राजा करके उसे भीष्म ने राज-काज साधा सभी।
काशिराज की सुतात्रयी थीं रूप-शील-कुल-पालिका,
अम्बा बड़ी, अम्बिका मँझली, छोटी थी अम्बालिका।
उन्हें स्वयंवर से हर लाये वे सब भूपों को हरा,
प्रेमी युवक विचित्रवीर्य को दो ने विधिपूर्वक वरा।
अम्बा थी वर चुकी प्रथम ही मन से शाल्व-नरेश को,
भिजवा दिया भीष्म ने उसको उसके प्रिय के देश को।
शाल्वराज ने हरी गयी को अंगीकार नहीं किया,
स्वानुरागिणी अभागिनी को चिर अनाथिनी कर दिया।
आर्त्त अवश अबलापन उसका धैर्य खो उठा, रो उठा,
क्षत्रिय तनया थी तथापि वह, क्षोभ अनय से हो उठा।
बाल पकड़ बाला उठ बैठी ज्वाला जैसी जाग के,
पैर पटक ताण्डव-सा करने चली लास्य गति त्याग के!
"पंक छोड़कर पुष्करिणी को सोख लिया है ग्रीष्म ने,
मेरा जीवन नष्ट किया है बल पूर्वक इस भीष्म ने।
धिक मुझको, यदि गिरूँ न उस पर मैं धारा-सी गाज-सी!"
चली साधने वह आँधी-सी राग-रुष्टता राजसी।
परशुराम के शरण गयी वह मुनियों के निर्देश से,

और भीष्म-वध माँगा उसने, दिया उन्होंने क्लेश से।
गुरु थे वे गंगा-नन्दन के, किन्तु वचन से बद्ध थे,
शिष्य भीष्म भी इधर न उनसे लड़ने को सन्नद्ध थे।
"क्या आज्ञा होती है भगवन्, हाय! आपसे मैं लड़ूँ?
नत है यह सिर, काट लीजिए, हत भी चरणों में पड़ूँ।"
"भावुक, यह तो हत्या होगी, उठो, न कुछ शंका करो,
यह गुरु का आदेश, लड़ो वा तुम इस व्यथिता को वरो।"
ब्रह्मचर्य के व्रती भीष्म थे, फिर चरणों में नत हुए,
उनकी आज्ञा से ही उनसे लड़ने को उद्यत हुए।
वार बचाये मात्र उन्होंने स्वयं प्रहार नहीं किया,
कर न सके भार्गव कुछ तब भी, धनुष उन्होंने धर दिया।
दोनों के दृढ़ बल-कौशल से अम्बा थी विस्मितमुखी,
सुखी हार कर भी गुरुवर थे, शिष्य जीत कर भी दुखी।
मुनि ने कहा—"शाल्व नृप को तो कर सकता हूँ बाध्य मैं।"
अम्बा बोली—"नहीं मानती अब उसको आराध्य मैं।
मैं वह वधू नहीं, जो ऐसे निर्मम वर को भी वरूँ,
त्यागा मुझे स्वयं ही जिसने, क्यों स्वीकार उसे करूँ?"
हुई मानिनी मौन क्षोभ वश, उष्ण साँस भरने लगी,
छोड़ पराई आस, आप तब तप कठोर करने लगी।
प्रकट हुए शंकर प्रसन्न हो बोले—"क्या उद्दिष्ट है?"
"विभो, भीष्म-वध साधन करके वैर-शुद्धि ही इष्ट है।"
"उसके लिए अन्य तनु धारण करना होगा तब तुझे।"
"इस अपमानित तनु का कुछ भी मोह-ममत्व नहीं मुझे!
केवल साधनार्थ ही अब तक इसको मैं रक्खे रही।
यह पंचाग्नि तपस्या मैंने रोष न सहकर ही सही।
धन्य हुई अब मैं यह होकर प्रलयंकर की किंकरी।"
यह कह कर निज चिता बना कर वह जीती ही जल मरी।
जन्मी द्रुपदराज-कुल में वह बन कर पहले बालिका,
फिर बालक बन गयी विलक्षण अति भीषण-पण-पालिका।
हुई प्रसिद्ध महाभारत में वही शिखंडी नाम से,
किन्तु नाम से काम न था कुछ, उसे काम था काम से।
इधर विचित्रवीर्य का उपवन त्रिविध पावन का वास था,
राग-रंग जमता था उसमें, रमता रास-विलास था!
देवव्रत-सा अग्रज जिसका प्रजा-राज-रक्षक रहे,

अचरज क्या, यदि अन्तःपुर की रस-धारा में वह बहे?
रस के किन्तु घूँट ही अच्छे, अधिक भोग में रोग है,
होना होता है जब जैसा जुड़ता वैसा जोग है।
हमीं आपमें उपजाते हैं क्षय-सा अपना घात भी,
गत अपुत्र ही सत्यवती का हुआ दूसरा जात भी।
''हाय पिता!'' कह रोयी माता प्रबल-पुत्र के शोक से,
''व्यर्थ हुए सब यत्न, गये हम लोक और परलोक से।
तुम परार्थ परमार्थ-हानि कर सुता-स्वार्थ में रत हुए,
दोनों ही दौहित्र देख लो, आज तुम्हारे हत हुए।
तब भी जो मेरा सुत होता, अब भी देवव्रत बना,
वत्स, क्षमा कर दुखिया माँ को तू उदार उन्नतमना।
वंचित मेरे लिए हुआ तू, मैंने आप किया नहीं,
अपने लिए पिता ने भी निज सिर पर पाप लिया नहीं।
दैव-दोष से मैं दोषी हूँ, दे कुछ मुझे प्रबोध तू,
अपना राज्य सँभाल और निज पितरों का ऋण शोध तू।''
''धैर्य धरो हा अम्ब, कहाँ कब देवव्रत वंचित हुआ?
तुम जैसी माँ का सुख उसके अर्थ पुनः संचित हुआ।
किन्तु छोड़ सकता हूँ माँ, क्या अपना स्वीकृत सत्य मैं?
सत्यवती माता का सच्चा हूँ क्या नहीं अपत्य मैं?''
''हुई इतिश्री हाय! यहीं तब इस पुरु-कुरु-नृप-वंश की,
जाग रही है ज्योति तुम्हीं में उसके अन्तिम अंश की।''
''टूटे न माँ, प्रतिज्ञा मेरी किसी लोभ व भीति से,
सम्भव राजवंश की रक्षा है नियोग की रीति से।''
''नहीं जानती बहुओं की रुचि हो वा न हो नियोग में,''
''पीनी पड़ती है कड़वी भी ओषधि उद्धत रोग में।
श्रद्धा होगी उन्हें श्राद्ध में जो स्वाभाविक धर्म है,
तन का नहीं, किन्तु मन का ही किया सुकर्म-कुकर्म है।
विधियाँ हैं विधेय, यद्यपि वे समय समय के अर्थ हैं,
नव नव मार्ग दिखाते चलते हमको सुज्ञ समर्थ हैं।
जीवन में गति जहाँ वहाँ बह जाती हैं बहु ग्लानियाँ,
लक्ष-लाभ के लिए सहेंगे हम सहर्ष सौ हानियाँ।''
''अहा! स्मरण आया, अपना ही जन नियोग का पात्र है,
प्राण महान किन्तु मुझसे ही उपजा उसका गात्र है।
वत्स, मत्स्यगन्धा थी जब मैं, पूज्य पराशर-योग से,

द्वैपायन को जन कर छूटी दुष्ट गन्ध मय रोग से।
और हुई फिर कन्या योजनगन्धा मुनि-वर-दान से,
हुआ सुवासित मन भी मेरा श्रेष्ठ शील-सम्मान से।''
''कौन अधिक आत्मीय हमारा व्यासदेव से अन्य है,
रक्षा के ही लिए बना जो, आपद्धर्म सुधन्य है।''
उसी धर्म से सत्यवती ने कुल-विनाश वारण किया,
गर्भ विरागी व्यासदेव से बहुओं ने धारण किया।
डरी अम्बिका जटिल रूप से, वह आँखें मूँदे रही,
जना पुत्र भी अन्धा उसने श्रुत धृतराष्ट्र हुआ वही।
अम्बालिका पड़ी पीली-सी, पुत्र पाण्डु उसने जना,
जन का भावी जीवन जैसे गर्भ समय में ही बना।
प्रेरित फिर की गयी अम्बिका अन्य गर्भ धारण करे,
किन्तु करे कोई मन को क्या, विवश जिये चाहे मरे।
स्वयं न जाकर भेजा उसने दासी को निज वेश में,
हुआ विदुर-सा विनयी सुत वर जिससे राज-निवेश में।
जननी क्या दासी क्या रानी, विदुर बुद्धि-धन धीर थे,
तीनों में धृतराष्ट्र बली थे, पाण्डु प्रशंसित वीर थे।
यथायोग्य शिक्षा पाकर जब तरुण हुए तीनों जनें,
अपनी अपनी गुणवत्ता में बढ़कर तब वे वर बनें।
गांधाराधिप सुबल भूप की प्यारी गान्धारी सुता,
हुई अहा! धृतराष्ट्र-वधू बन सतियों में अति अद्भुता।
शूर नाम यदु वीर पिता की सुता पृथा गुण-मालिका,
कुन्तिभोज ने भी माना था जिसे आप निज बालिका।
मुनि से मन्त्र लाभ कर जिसने जना प्रथम ही कर्ण को,
क्यों न वरण करती वह कुन्ती पाण्डु सदृश वर वर्ण को?
मद्रेश्वर की भगिनी माद्री थी सुलक्षणा सुन्दरी,
हुई पाण्डु की प्रिया दूसरी साध्वी सच्ची सहचरी।
योग्य जानकर भीष्मादिक ने राज्य पाण्डु को ही दिया,
किया भोग ही नहीं पाण्डु ने, अभय दिग्विजय भी किया।
रुकता-सा राजर्षि वंश फिर चला पूर्व सम्मान से,
गूँज उठा आकाश आप ही नवल कीर्ति-कल-गान से।
'देशों में भारत, भूपों में पाण्डु धन्य है धन्य है,
पुरियों में हस्तिनापुरी-सी कौन अनोखी अन्य है?'
कुन्ती के सुत तीन युधिष्ठिर, भीमसेन अर्जुन हुए,

धर्म, वायु, वासव के उनमें अंश-पूर्ण सब गुण हुए।
माद्री के दो नकुल और सहदेव अश्विनीसुत यथा,
कहने सुनने योग्य सर्वथा पाँच पाण्डवों की कथा।
इसी बीच द्वैपायन मुनि के वर से आशीर्वाद से,
सौ सुत पाये गान्धारी ने वह यों बची विषाद से।
दुर्योधन दुःशासनादि वे सहज सभी दुर्दान्त थे,
प्रबल प्रकृति से विवश अन्यथा सब गुणज्ञ कुलकान्त थे।
सौ पुत्रों के साथ सुता भी हुई एक थी दुःशला,
बनी जयद्रथ की रानी वह यथा षोडशी शशि-कला।
योग्य वधू से, जिसे भीष्म ने ढूँढ़ खोज कर था चुना,
हुए विदुर के भी सुगुणी सुत सौख्य बढ़ाकर सौ गुना।

होकर भी असमान शील दो जन्म-मृत्यु संगी सदा,
हुई पाण्डु की मृत्यु अचानक आयी नूतन आपदा।
सौंप सुभग अपने दोनों शिशु कुन्ती के ही हाथ में,
साग्रह सती हो गयी माद्री प्रियतम पति के साथ में।

बन्धु-विद्वेष

दुर्योधन के जन्म-समय अपशकुन हुए कुछ ऐसे,
डरे भीष्म विदुरादि, वंश की रक्षा होगी कैसे?
स्वाभाविक ही उस मानी के मन में ईर्ष्या जागी,
दुगुने अन्धे हुए मोह से नृप धृतराष्ट्र अभागी।
थे गुन भरे भीम भी पूरे सौ को एक अकेले,
रुला रुला छलियों को हँस हँस वार बली ने झेले।
वय के साथ वैर भी मानों उभय ओर बढ़ता था,
बल पर प्रयलंकरी बुद्धि का नया रंग चढ़ता था!
विद्या और कलाएँ उनको शिक्षित शत्रु बनातीं,
नयी योजनाएँ रच रच कर नव युक्तियाँ जनातीं।
तरल प्रकृति ने सरल पुरुष का संग कहाँ कब छोड़ा?
सहज दुष्ट विद्या बल पाकर जो न करे सो थोड़ा।
उठा कौरवों को कन्धों पर तरु पर भीम चढ़ाते,
पर जूठी गुठलियाँ फलों के बदले बहुधा पाते।
पेड़ हिलाते तब वे सहसा, सब नीचे गिर जाते,
मीठा इतना महँगा पड़ता, खल खट्टा ही खाते।
भीम तैरते समय मगर ज्यों डुबकी साधे आते,
और कौरवों को धर नीचे खींच दूर ले जाते।
छोड़ अधमरा करके उनको हँस कर परे उभरते,
सुन चीत्कार 'क्या हुआ' कहकर व्यंग्य और भी करते।
कभी अखाड़े में कौरव मिल उन्हें छकाने चलते,
पटक एक पर एक उन्हें तब बच झट भीम निकलते।
गले पकड़ माथे से उनके माथे कभी लड़ाते,
रो-हँस कुम्भकर्ण कहकर भी तब कौरव घबड़ाते।
दुर्योधन ने अपने पथ का कण्टक उनको माना,

धोखे से विष देकर उसने उन्हें मारना ठाना।
सीधे सच्चे भीमसेन ने न था उसे पहचाना,
छलना नहीं, छला जाना ही सरल जनों ने जाना।
एक बार उसने भोजन में विष चुपचाप मिलाया,
ऊपर से सुस्वाद अमृत-सा वन में उन्हें खिलाया।
जब अचेत हो गये वृकोदर वह सतर्क मुसकाया,
गंगा-तट पर उन्हें विजन में छोड़ खिसक झट आया।
डसा किसी विषधर विशेष ने वहाँ भीम को आकर,
विष पाकर विष शान्त हो गया, अमृत बना विष जाकर।
पर चैतन्य न आया तब तक दुर्योधन फिर आया,
और खींच गंगा के ह्रद में उसने उन्हें डुबाया।
चिन्तित हुए युधिष्ठिर, उससे बोले—"भीम कहाँ है?"
"मैं क्या जानूँ, असुर है न वह, सोता जहाँ तहाँ है।"
यह कहकर झट एक ओर वह चला गया इतराकर,
बढ़ी पाण्डवों की चिन्ता तब सभी ओर छितराकर।
गये हस्तिनापुर सब कौरव, पाण्डव कैसे जाते?
वन में भाई को खोकर वे घर जाकर क्या पाते?
वहाँ न देख उन्हें कुन्ती ने पूछा दुर्योधन से—
"लौटे नहीं वत्स, तुममें से कहो पाँच क्यों वन से?"
"आयें, मैं क्या कहूँ, भीम तो सहसा आरम्भी है,
वहाँ व्याघ्र-अजगर-राक्षस हैं, वह दुर्द्धर दम्भी है।
उसे जूझना ही आता है चाहे कहीं किसी से,
अटक गया है वहीं कहीं वह, पाण्डव रुके इसी से।"
"इतने पर भी उन्हें वहाँ तुम छोड़ आ गये ऐसे?"
"सब वन में रोवें तो घर का काम चले फिर कैसे?"
"जाओ!"—यह कहकर तब कुन्ती क्षुब्ध मौन हो बैठी,
कुल के कुशल और मंगल को वह मानी रो बैठी।
हटा हतप्रभ-सा दुर्योधन, जब उसने मुँह फेरा,
कुछ न किसी से कह रानी ने मन मन प्रभु को टेरा—
"हरे! और भी एक मुझे यह हुआ भरोसा तेरा,
जो करना है तुझे, उसी में हित होना है मेरा।"
भेजा प्रभु ने विदुर-रूप में उसी समय निज जन को,
धैर्य दिया धर्मावतार ने उस मान्या के मन को।
"मैंने जन भेजे हैं वन में, प्रभु रक्षक पालक हैं,

तुम चिन्ता न करो, चिरजीवी अपने वे बालक हैं।''

सकल मनोरथ वहीं डुबाकर दुष्कृति दुर्योधन के,
लौट अन्त में पाँचों पाण्डव आये विजयी बन के।
समाचार जो भीमसेन ने माँ को स्वयं सुनाये,
उन्हें सत्य वा स्वप्न कहें सो वे भी समझ न पाये।
''निश्चय भोजन में कुछ मुझको खिला दिया उस खल ने,
यह वह जाने, गया मारने अथवा मुझको छलने।
मूर्च्छित-सा गंगा तट पर मैं ठण्डक में जा सोया,
और स्वप्न-सा देखा मैंने, उसने मुझे डुबोया।
ऐसा जान पड़ा तब मुझको, नागों ने आ पकड़ा,
गया प्रमातामह के घर में नाग-पाश में जकड़ा।
'कहाँ रहा तू दुष्ट!' पूँछ तुम रुष्ट हुई क्यों जानें,
तुम्हीं देख लो, पहुँचा जाकर मैं क्या ठीक ठिकाने!
आया है परनाना के घर पन्ती, फिर क्या कहना?
दुःख यही है, वहाँ और भी कुछ दिन हुआ न रहना।
विष भी जहाँ अमृत बन जावे, वहाँ अमृत रस, आहा!
उस पहुँनाई में जो पाया, हुआ वही मनचाहा।
तुम सबकी चिन्ता के डर से अम्ब, चला आया मैं,
अपने गुरुजन से प्रसाद में लो, यह मणि लाया मैं।
यही प्राप्ति है, जो सपने को सच्चा-सा करती है,
भाग्य रहे तो फलती सब कुछ कोई भी धरती है।''

द्रोणाचार्य

रुका अचानक एक साथ ही क्रीड़ा-ताण्डव,
शुष्क कूप को घेर खड़े थे कौरव-पाण्डव।
गया उसी में गेंद उछल जो नीचे आया,
औरों के बल उठा कौन कब थिर रह पाया?
किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा था जब यह दल,
आकर बोला देख एक वर वृद्ध अचंचल—
"यह विशाल भूगोल जिन्हें आशा से तकता,
कन्दुक भी उद्धार नहीं उनसे पा सकता!"
आगत जन था एक साथ ही सुभट-सुपण्डित,
क्षात्र तेज से और ब्राह्म गौरव से मण्डित।
दण्ड छोड़ कोदण्ड-कमण्डलु धार चला था,
परशुराम यदि न था, उन्हीं का अनुज भला था!
उसे देखकर मौन रह गये जब सब लज्जित,
भृकुटि चढ़ाकर बढ़े धनंजय सहज सुसज्जित।
"वृद्ध, तुम्हारा व्यंग्य वचन भी मैं क्या टालूँ?
देखो तुम, मैं अभी कूदकर गेंद निकालूँ।"
"निकलोगे किस भाँति स्वयं, यह गर्त्त अँधेरा।"
"मैं पीछे हूँ, कार्य सदा आगे ही मेरा।
जड़ कन्दुक जब अन्ध कूप में नहीं रहेगा,
तब क्या चेतन पार्थ अधोगति आप सहेगा?"
"रहो रहो"—कह किया वृद्ध ने उनको वारित,
तब अर्जुन ने कहा—"प्रथम क्यों किया प्रचारित?"
आगत ने सविशेष दृष्टि अब उन पर डाली,
अपनी खोई हुई वयःश्री-सी फिर पा ली।

पशु केसरी-किशोर, किन्तु नर यह बलिदानी,
वैसा ही सुविनीत सरल जैसा अभिमानी।
"ठहरो तुम सब, मैं निकाल दूँ गेंद यहीं से,"
कुछ सरकंडे तोड़ उन्होंने लिये वहीं से।
बाण बनाकर उन्हें गेंद को पहले छेदा,
एक बाण का मूल दूसरे से फिर भेदा।
ऊपर तक बन गयी गदा-सी यष्टि विलक्षण,
बिंधा उसी में गेंद आ गया बाहर तत्क्षण।
विस्मित-से रह गये देखते सब वह कौतुक,
हँसे वृद्ध–"अब धरो कला-कौशल का यौतुक!"
सब सस्मित हो गये और बोले जो कहिए,
हमें इष्ट है, आप हमीं लोगों में रहिए।
चलिए कृपया, पूज्य पितामह जहाँ हमारे,"
यों कहकर ले गये उन्हें वे राजदुलारे।
लिया भीष्म ने उन्हें भवन में सादर सविनय,
दिया उन्होंने परम प्रीति पाकर निज परिचय–
"भरद्वाज-सुत द्रोण, शिष्य हूँ मैं भार्गव का,
धनुर्वेद-निष्णात किन्तु कटु भोगी भव का।
द्विज होने से मुझे विभव का लोभ नहीं था,
औरों पर अक्षान्ति आप पर क्षोभ नहीं था।
त्याग हमारा धर्म, अकिंचनता क्या खलती?
गौरव के ही साथ गेह-यात्रा थी चलती।
अश्वत्थामा पुत्र आज भी बालक मेरा,
पर उस दिन का न था स्वर्ण का भरा सबेरा।
बाहर जाकर शीघ्र लौट आया वह भोला,
'संगिजनों-सा दूध पियूँगा मैं भी'–बोला।
उसकी माँ ने सजल दृष्टि से उसको देखा,
मेरे भीतर खिंची अनल की-सी खर रेखा।
मैं सन्ध्या कर अभी उठा था, रहा खड़ा ही,
दूध कहाँ था वहाँ, दृश्य था करुण बड़ा ही।
"अम्ब, दूध" फिर कहा पुत्र ने आँचल धरकर,
"वत्स, अभी" कह गई गेहिनी घर के भीतर।
ले आयी यव-चूर्ण घोलकर कोरे जल में,

पीकर, पुत्र प्रसन्न, कूद बाहर था पल में।
मेरे मन में ग्लानि और मुँह पर थी लज्जा,
की मैंने तत्काल दूर यात्रा की सज्जा।
बोली मुझसे सती, पोंछ आँखों का पानी–
"सुन सकती हूँ नाथ, कहाँ जाने की ठानी?"
मैंने उससे कहा–"पूछती हो तुम अब भी?
मैं दृढ़ हूँ, पर देवि, नहीं हूँ पत्थर तब भी।
पुरुषों के ही लिए त्याग तप वा व्रतपालन,
पर किस सुख से न हो अहो! लालों का लालन?
साथी मेरा द्रुपद भूप समवय के क्रम में,
खेला मेरे साथ पिता के पुण्याश्रम में।
जाता हूँ पांचाल आज उसके समीप मैं,
कैसे देखूँ बुझा बुझा-सा स्वकुल-दीप मैं?"
"नाथ, किन्तु हो जाय कहीं कुछ बात न वैसी,
स्वयं सोचिए, भूप-भिक्षु की मैत्री कैसी?
न हो गाय का, पुत्र माय का दूध पिये है,
क्या मुँह पर वह छाप आपकी नहीं लिये है?"
"मेरा भी कर्त्तव्य किन्तु कुछ उसके प्रति है,
पाता वय के साथ बाल्यबन्धुत्व प्रगति है।"
पर मैं भूला, विषय उसी ने ठीक विचारा,
मैं अपमानित हुआ द्रुपद दुर्मति के द्वारा।
'कर ले कुछ दिन और दर्प तू धन का कीड़ा!'
यह कहकर मैं लौट पड़ा लेकर निज पीड़ा।"
कहा भीष्म ने–"आर्य, हमारे भाग्य बड़े हैं,
स्वयं आज आचार्य-चरण जो यहाँ पड़े हैं।
बनें आप गुरुदेव, कुमारों को शिक्षा दें,
हम क्या देंगे, आप हमें उलटी भिक्षा दें।"
हुए बद्ध-से द्रोण भीष्म के नम्र वचन से,
अर्जुन पर आकृष्ट प्रथम ही थे वे मन से।
"मेरी गुरुदक्षिणा नहीं रत्नाभरणों में,
बाँध द्रुपद को शिष्य डाल दें इन चरणों में।"
कहा भीष्म ने–"कौन अनादर इतना सह ले,
आज्ञा हो तो पूर्ण करूँ यह इच्छा पहले?"
"नहीं आपके कष्ट-योग्य यह कार्य नहीं है,

आवश्यक भी, इसी समय अनिवार्य नहीं है।"
यह कहकर आचार्य हुए सन्तुष्ट बहुत ही,
जैसे गुरु थे मिले शिष्य जन भी अद्‌भुत ही।
थे वे सभी सुयोग्य, किन्तु अर्जुन की निष्ठा
उन्हें दिलाकर रही सभी से अधिक प्रतिष्ठा।
नहीं आप गुरुपुत्र धनंजय से बढ़ पाये,
अचरज क्या यदि अन्य नहीं ऊँचे चढ़ पाये।
एक रात बढ़ गया दीप जब झोंके खाता,
तब भी अपना ग्रास देख मुख में ही जाता,
समझ इसे अभ्यास परिश्रम किया उन्होंने,
और तिमिर में शब्द भेद कर लिया उन्होंने!
अन्य शिष्य जब लक्ष्य सहित भू-व्योम निरखते,
तब अर्जुन निज लक्ष्य-भिन्न कुछ और न लखते।
शस्त्रों के उपरान्त अस्त्र सिखलाये गुरु ने,
सब भर पाया पात्र छात्र जब पाये गुरु ने।
द्वेष जलाने लगा सुयोधन को घुस घुसके,
गदा युद्ध में भीम प्रतिद्वन्द्वी थे उसके।
देख परीक्षा समय शस्त्र-कौशल अर्जुन का,
सबने जयजयकार किया विस्मय से उनका।

एकलव्य

अन्य बहुत राजन्यजात भी हुए द्रोण के शिष्य,
उन सबके सम्मुख था अपना आशापूर्ण भविष्य।
अपने अपने मन के मत से हो होकर अनुरक्त,
कौरव-पाण्डव दो पक्षों में वे भी हुए विभक्त।

चौंके नागर भी जिस वनचर जन का गठन विलोक,
हरिण-चर्म बाँधे, हरि को भी बाँध सके जो रोक!
प्रौढ़ शबर रूपी शंकर का बाल्य-रूप-सा वाम,
आया एक नवयुवक, उसने गुरु को किया प्रणाम।
कसी-गँसी थी मांस पेशियाँ, श्यामल चिकना चर्म,
बना आप ही था जो अपना जन्मजात वर वर्म।
भाल ढँका-सा था बालों में, ढाल बना था वक्ष,
घर्षित भी भुजदंडों से थे उत्कर्षित युग कक्ष।
प्रस्तुत शिष्यों ने आपस में किये दृष्टि-संकेत,
न थी उपेक्षा सहज, इसी से, वे चुप रहे सचेत।
पर विरक्ति से नहीं, भक्ति से अपना ध्यान समेट,
रक्खी उसने गुरु-चरणों में मंजुल मधु की भेट।
कर में क्या, भ्रू-अधरों पर भी रक्खे था वह चाप,
दृष्टि प्रखर थी, किन्तु मृदुल था उसका सरलालाप।
"देव, दास ग्रामीण भी नहीं, वनचर व्याध-कुमार,
सहज असंस्कृत, नहीं जानता नागर शिष्टाचार।
तब भी चेतन एकलव्य जन रखता है निज चित्त,
लाया वही मुझे चरणों में लक्ष्य-निपात-निमित्त।"
"स्वस्ति," द्रोण ने कहा—"किन्तु है धनुर्वेद भी वेद,

वत्स, नहीं अधिकारी उसके अराजन्य तुम, खेद!"
"गुरुवर, नहीं अराजन्यों में क्या ईश्वर का अंश?
और नहीं है क्या उनका भी वहीं मूल मनु-वंश?"
"वत्स, विभिन्न किन्तु हम सबके हैं गुण-कर्म-स्वभाव,
तो भी लक्ष्यभ्रष्ट न हो तुम, लो असीस, घर जाव।"
"कहते हैं गुरु के आसन से आप आज जो बात,
मेरे ब्रह्म रूप में भी क्या वही कहेंगे तात?
उनके लिए धनुर्विद्या है जो जय-लोलुप मात्र,
वा जो घिरे सिंह पशुओं से वे हैं उसके पात्र?
और अधिक क्या कहूँ, आप ही करें विशेष विचार,
कुश-तृण-धारी भी रखते हैं बाणों का अधिकार।
वेदों के वक्ता जो भी हों, विद्या सबके अर्थ,
रख सकता है बाँध कला को निज तक कौन समर्थ?
क्षमा कीजिए क्षोभ, तर्क क्या छेड़ूँगा मैं क्षुद्र,
एक बूँद भी नहीं देव, मैं, जब हैं आप समुद्र।
फिर भी मुझे असीस बहुत है" करके पुनः प्रणाम,
युवक धीर-गति से गर्वित हो लौट गया वनधाम।
मानी होकर भी विनीत था एकलव्य धृतचाप,
अकृतकृत्य होकर भी मन में उसको हुआ न ताप।
"सच्ची निष्ठा है मुझमें तो प्रतिमा ही पर्याप्त,
जड़ में भी मेरा चेतन है, करूँ कहीं मैं प्राप्त!"
ग्लानि छोड़कर पाई उसने निज में नव्यस्फूर्ति,
थापी वन में स्वयं बनाकर गुरु की मृण्मय मूर्ति।
और उसी के सम्मुख उसने अशन-शयन भी भूल,
साधन किया बाण-विद्या का इच्छा के अनुकूल।

राजपुत्र मृगयार्थ गहन में गये एक दिन भोर,
उनका एक श्वान जा निकला एकलव्य की ओर।
छोड़ सूँघना, लगा भूकने वह निःशृंग सपुच्छ,
हँसने लगा किन्तु यह धन्वी समझ उसे अति तुच्छ।
कुछ विचार कर बोला—"रह रे, उठा न इतना मुण्ड!"
बाणों से भर दिया तूण-सा उसने उसका तुण्ड!
भागा पूँछ दबाकर कुक्कुर निज प्रभुओं के पास,

उसे देख भूले विस्मय से वे आखेट-विलास।
"ऐसा धन्वी कौन?" पार्थ ने कहा खींचकर आह,
दुर्योधन के मुख से निकली वही आह बन वाह।
कटा तालु तक न था स्वान का, कितना हलका हाथ,
एकलव्य के पास गये सब सारभेय के साथ।
"अहा! कौन तुम?" "एकलव्य हूँ, गुरु हैं द्रोणाचार्य,
पर किस मुख से कहूँ, आपका गुरु-भाई हूँ आर्य!"
"नहीं नहीं" बोला दुर्योधन—"यह तो है सम्बन्ध,
जिसके लिए बहुत होता है थोड़ा भी गुण-गन्ध।"
"क्या आतिथ्य करूँ, आज्ञा हो?" "आज यही पर्याप्त,
एक बार आरम्भ हुआ फिर परिचय कहाँ समाप्त?"
लौटे कौरव-पाण्डव, उसका अध्यवसाय बखान,
खीझ उठा धक्का-सा खाकर अर्जुन का अभिमान।
"एक धनुर्धरता की मेरी पूरी हुई न साध,
शेष प्रतिद्वन्द्वी है अब भी, वह भी वन का व्याध!"
यह कहकर मानी ने गुरु से कहा पूर्ण वृत्तान्त,
सुनकर हुए द्रोण भी सहसा अचरज से उद्भ्रान्त।
स्वयं देखने गये विलक्षण शिष्य-साधना द्रोण,
आश्रम-सा ही लगा उन्हें वह उसका कानन-कोण।
एक ओर थी कुंज शिला पर उनकी मूर्ति गभीर,
अर्पित थे चरणों में टटके पत्र-पुष्प-फल-नीर।
धन्वा की टंकार वहाँ थी घंटा-ध्वनि अविराम,
और झलकते बाण-फलक थे पूजा-दीप ललाम!
झूल रहे थे वृक्षों पर बहु चक्राकृति चल लक्ष,
मानो उन जन में ही वन में राम रमे प्रत्यक्ष!
"आज भक्त के यहाँ कहाँ से भूल पड़े भगवान?
मेरा सब कुछ स्वयं आपका, मैं क्या करूँ प्रदान?"
"मैं उपलक्ष मात्र, साधा है लक्ष्य तुम्हीं ने आप,
गुरु-दक्षिणा न देने का हो तब भी तुम्हें न ताप।
वत्स, दिखा दो मुझे अँगूठा, तो वह भी भरपूर!"
"क्षमा कीजिए क्षण भर" बोला उत्तर में वह शूर—
"चढ़ा आपकी पुण्य मूर्ति के सिर पर कोई कीट,
मारूँ तो क्या उस अबोध को, यद्यपि है वह ढीट।"
यह कहकर शर सन्धाना उसने होकर कुछ अनिमेष,

बेधे बिना गिराया तत्क्षण अपना लक्ष्य विशेष।
दिया परक्षण उसने गुरु को आप अगूँठा काट!
जड़ीभूत रह गये देखते वे दारुण-विभ्राट।
आँखों में आँसू भर आये, कण्ठ हुआ अवरुद्ध,
बड़ी बेर तक बोल न पाये वे प्रख्यात प्रबुद्ध।
एकलव्य को गले लगाकर कहने लगे सकष्ट—
"वत्स, वस्तुतः व्याध नहीं तुम, कोई शापभ्रष्ट।
क्या अचरज, यदि हुए विलक्षण धनुर्धनी गुणवन्त,
श्रद्धा से अभ्यास साध्य है आत्म-योग पर्यन्त।
अचरज, मुझसे भी नृपसुत जो कर न सके आयत्त,
मिला कर्म-कौशल वह तुमको निज लघु कर प्रदत्त।
धनुर्धनी दानी भी तुम-सा नहीं दीखता अन्य,
नाम मात्र का गुरु होकर भी मैं हूँ तुमसे धन्य।
हुआ भले अप्रतिम धनुर्धर आज धनंजय पार्थ,
किन्तु योग्यता के भागी सब, है यह बात यथार्थ।
हाय! अभी जो हुआ, लगे क्यों उसपर मुझे न लाज?"
एकलव्य बोला—"परन्तु मैं उऋण हो गया आज।
देव न मेरे लिए दुखी हों, और क्या कहे दास?
जितना हो सकता था, मैंने कर डाला अभ्यास।
मेरी-अर्जुन की क्या तुलना, कितने मेरे शस्त्र?
प्रभु की दया-दृष्टि से जब है उन्हें उपस्थित अस्त्र।"
दान-मान पाकर भी लौटे दुःखी द्रोण उदास,
समाचार पाकर दुर्योधन पहुँचा उसके पास।
बोला—"अर्जुन के कारण ही तुमपर हुई अनीति,
तुमको अपना बन्धु मानकर करता हूँ मैं प्रीति।"
"अनुगृहीत हूँ, इस करुणा पर क्रीत न होगा कौन?
वैसा धन्वी नहीं आज मैं, तदपि—" हुआ वह मौन।

धर्मराज से कहा नकुल ने—"हुआ अन्ध का अन्ध,
दुर्योधन ने एकलव्य से जोड़ा सम-सम्बन्ध!"
"यदि उदारता होती इसमें, तो मैं कहता—धन्य!"
धर्मराज बोले—"परन्तु है जड़ में स्वार्थ जघन्य।
करना है जब आगे चलकर उसको हमसे युद्ध,

तब दल बाँधे क्यों न अभी से वह निज वैरि-विरुद्ध?
उस पर प्रेम नहीं, यह हम पर उसका द्वेष महान।"
"पर क्या दे सकते थे हम भी उसको सम सम्मान?"
हँसे युधिष्ठिर, किन्तु उसी क्षण धीर हुए गम्भीर,
"सुनो तात, हम सभी एक हैं भव-सागर के तीर।"
हो शरीर-यात्रा में आगे पीछे का व्ययधान,
परमात्मा के अंश रूप हैं आत्मा सभी समान।
एकलव्य तो मनुज मुझी-सा मुझमें सबका भाग,
मैं सुरपुर में भी न रहूँगा निज कूकर तक त्याग?

परीक्षा

"अरे मगर-सा खींच रहा है मुझको तल में!"
गुरु समर्थ भी काँख उठे घुस गंगा-जल में।
जड़ीभूत रह गये शिष्य ऐसे घबराये,
पर अर्जुन ने त्वरित पाँच शर साध चलाये।
छूटा गुरुपद ही न, नक्र की छूटी काया,
दिव्यायुध का पुरस्कार धन्वी ने पाया।
इस प्रकार परिपूर्ण हुई जब शिक्षा-दीक्षा,
तब शिष्यों की प्रकट रूप में हुई परीक्षा।

रंग-भूमि सज गयी ढंग के शृंगारों से,
वन्दनवारों, पटों, पताकाओं, हारों से।
सजी वेदियाँ, सजे मंच भी भारी भारी,
बैठे राजा-प्रजा-वर्ग के बहु नर-नारी।
दुखी हुए धृतराष्ट्र आज आँखों के मारे,
गान्धारी ने कहा—"श्रवण ही बहुत हमारे।"
जब शिष्यों के संग आर्य आचार्य पधारे,
खिंच-से उनकी ओर गये दर्शक-दृग सारे।
श्वेत केश थे, श्वेत वसन भी थे गुरुवर के,
मूर्तिमन्त वे स्मरण-रूप-से थे शंकर के।
कार्तिकेय के-से कुमार थे उनको घेरे,
सबने षणमुख एक एक मुख में ही हेरे!
खिले मध्य -चौगान सरोवर में शतदल ज्यों,
हिलते डुलते केश गुच्छ भौंरे चंचल ज्यों।
गूँज गगन में रहा सुगुंजन-सा जनरव था,

कृत्रिम ही क्यों न हो, अन्ततः वह आहव था।
शंखध्वनि के साथ किया विप्रों ने पूजन,
मुरज-ताल पर नाच उठा कल मुरली-कूजन।
पहिन अंगुलित्राण, कसे कटि-कच्छ युवक दल,
चला पैंतरे पलट दिखाने को रण-कौशल।
धर्मराज को महारथी लोगों ने माना,
अश्वत्थामा को सुयोग्य गुरु-पुत्र बखाना।
खड्गों पर सहदेव-नकुल के बिजली वारी,
बोले उनका द्वन्द्व देख दर्शक—"बलिहारी!"
बढ़ बढ़ कर, उठ-बैठ, झपट झट दायें-बायें,
बचा रहे थे कृती काल-जिह्वा-ज्वालाएँ!
किन्तु अग्नि-कण वृष्टि हुई किन विस्फोटों से!
भीम-सुयोधन की सुगदाओं की चोटों से।
स्पर्द्धा उनमें बढ़ी परस्पर छा जाने की,
होकर भी समबली प्रबलता पा जाने की।
पाई दोनों विकट भटों ने बड़ी बड़ाई,
खेल खेल में किन्तु हो उठी खुली लड़ाई!
पड़े बीच में कृपाचार्य गुरुवर के साले,
टल सकते थे वचन न जिनके उनके टाले।
दोनों ने रिस रोक अधर-नख काटे-कुतरे,
कोलाहल तब थमा वहाँ जब अर्जुन उतरे।
उन्हें देख सब मौन हो गये आँखें खोले,
लक्ष काँपते रहे, निरीक्षक हिले न डोले।
चला चला कर प्रथम बाण-धारा की टाँकी,
प्रस्तर-पट पर पुरुष-मूर्ति अर्जुन ने आँकी।
छोड़ एक शर अन्य विशिख से उसे बढ़ाया,
गिरता था जो, उसे उठाकर और चढ़ाया।
इन्द्र-धनुष बन गये गगन में उनके सायक,
"साधु साधु!" कह उठे स्वयं सेना के नायक।
क्रम से बढ़ने लगी चाप-टंकार निरन्तर,
छोड़ किरण-शर जँचे भानु वे स्वर्ण कवचधर।
अग्न्यस्त्रों की आग देख सब हुए ससंभ्रम,
छूटे फिर वरुणास्त्र और वायव्य यथाक्रम।
आधे से भी अल्प कभी संकुचित बने वे,

दुगुने से भी अधिक कभी थे स्फीत तने वे।
पलट पैंतरे, घेर चतुर्दिक दौड़े द्रुत वे,
अभी यहाँ फिर वहाँ, एक भी लगे बहुत वे!
चक्कर खाते लक्ष्य उन्होंने कहकर छेदे,
छेड़े भर ही फूल और पत्थर भी भेदे।
लक्ष्य-सूक्ष्मता स्थूल दृष्टि ने भी लख पाई,
सम्मुख आती हुई अनी पर अनी भिड़ाई!
दुर्योधन के बने पार्थ आँखों के रोहे,
उनका कौशल देख देख सब दर्शक मोहे।
''धन्य धनंजय, मिला तुम्हें जो तुमने चाहा,
कितना गौरव-भरा हस्तलाघव है आहा!''

इसी समय रव उठा अचानक एक ओर से,
और उठा नभ गूँज शरासन की टँकोर से।
''अर्जुन ने जो किया, कर्ण भी कर सकता है,
द्वन्द्व-हेतु भी नहीं किसी से डर सकता है।''
चौंक उठे सब सिंहनाद सुन आगत नर का,
मानों भू पर उदय हुआ नूतन दिनकर का।
होकर भी वह युवा प्रौढ़ि का अधिकारी था,
जन्मजात ही दिव्य कवच-कुंडल-धारी था।
मन ही मन कह उठे युधिष्ठिर—''अहो! विषमता,
इसमें ईर्ष्या जगी किन्तु मुझमें क्यों ममता?''
तब तक उसको लिया सुयोधन ने झट जाकर,
पाया मानो आज सभी कुछ उसको पाकर।
पहले ही हो गयी द्विधा-सी थी सब जनता,
रही कहीं भी किसी एक जन की कब जनता?
बोले अर्जुन कुपित—''सूतसुत, आगे आजा,
औरों को क्या, मुझे शस्त्र-कौशल दिखला जा।
मुझे द्वन्द्व के लिए प्रचारित करने वाला,
डरने वाला न हो, किन्तु है मरने वाला।''
फिरा सिंह-सा कर्ण गया था जो ललकारा,
''निर्णायक है यहाँ एक यमराज हमारा।''
कुन्ती मूर्च्छित हुई अचानक इसी समय में,

दोनों ओर विलोक पुत्र-जीवन संशय में।
कर्ण उसी का पूत सूत के यहाँ पला था,
धर्मराज से बड़ा, भाग्य ने जिसे छला था।
विप्र वेष में परशुराम का शिष्य बना था,
दम्भी भी दृढ़ चरित अतीव उदारमना था।
मन्त्र परीक्षामयी बाल्य जीवन की क्रीड़ा,
बन बैठी एकान्त आज कुन्ती की पीड़ा।
दीख पड़ा सब ओर घोर काला ही काला,
करके समुचित यत्न विदुर ने उसे सँभाला।
कृपाचार्य ने रोक पार्थ को, कहा कर्ण से—
"परिचय दो तुम प्रथम कौन हो, चलो वर्ण से?"
"मैं मनुष्य हूँ और वर्ण सब देख रहे हैं,
पूछो उनसे, लोग मुझे क्या लेख रहे हैं?"
"जन समाज में काम नहीं इतने से चलता,
लोगों का अनुमान सत्य ही नहीं निकलता।
स्वयं कहो तो कौन तुम्हारे लिए विपद है?"
"कहता हूँ मैं कौन पुरुष से ऊँचा पद है?"
"पुरुषों में भी कर्म-भेद से पंक्ति-भेद है,
यदि उन्नत है एक दूसरा पतित, खेद है!"
"देखो मेरे कर्म अभी आगे आते हैं!"
"देखे हैं, जिस भाँति अश्व जोते जाते हैं!"
"पिता सारथी किन्तु स्वयं मैं महारथी हूँ,
तुम्हीं कहो, अब निम्नपथी वा उच्चपथी हूँ?"
"सूतपुत्र ने किसी भाँति पाई हो दीक्षा,
किन्तु यहाँ तो राजपुत्र दे रहे परीक्षा।"
क्षण भर रुककर कर्ण चला कुछ कहने ज्यों ही,
आगे बढ़कर बोल उठा दुर्योधन त्यों ही—
"कितने राजा रंक, रंक राजा होते हैं,
पद पाते हैं योग्य, अयोग्य उसे खोते हैं।
फिर भी पीतल कहा जाय सच्चे सुवर्ण को,
तो देता हूँ अंग-राज्य मैं अभी कर्ण को।"
"पर देने के पूर्व भीम से पूछ न लोगे?
स्वयं तुम्हारा राज्य कहाँ, जो तुम दे दोगे?"
यह कहकर सक्रोध भीम ने गदा उठाई,

इतने ही में एक वहाँ कातर ध्वनि आई।
श्लथ दुकूल स्वेदाक्त यष्टि-अवलम्बी अधिरथ,
पहुँचा करके पार कष्ट से ही वह अपना पथ।
पकड़ कर्ण को लिपट गया वह भावुक भोला,
"वत्स, शान्त हो आज—" विनय-सा करके बोला।
"जो आज्ञा!" कह वीर कर्ण ने झुका दिया सिर,
बोल उठे आक्रोश-वचन यों भीमसेन फिर—
"यही ठीक है, धनुष छोड़कर कोड़ा झाँको,
राजा तो बन चुके, चलो अब घोड़ा हाँको।"
वचनबद्ध था कर्ण शान्त, बोला अधिरथ ही—
"सुनो तात, हम सूत धरेंगे तब भी पथ ही।
स्वकुल-कर्म में मुझे सदा गौरव ही दीखा,
शूर सारथी बिना रथी भी पंगु सरीखा।
चंचल पशु को हमीं मार्ग पर ले जाते हैं,
रण में रिपु का घाव हमीं पहले खाते हैं।
वत्स, जानते नहीं आज तो, कल जानोगे,
विजय-मूल तुम स्वयं सारथी को मानोगे।"
कहा भीम ने—"तात, वृद्ध हो वन्दनीय तुम,
पर कुल-कर्म-विहीन काट डाले न कुलद्रुम।"
कोलाहल के बीच हुआ यों उत्सव पूरा,
पर बहुतों ने कहा—"खेल रह गया अधूरा!"

कहा नकुल ने—"आर्य, कर्ण का मन कैसा है?
मुझे नहीं कुछ समझ पड़ा, यह जन कैसा है?"
धर्मराज ने कहा—"तिरस्कृत है यह मानी,
क्रूर कृपण है इसी हेतु होकर भी दानी।"

याज्ञसेनी

कर्णार्जुन की हुई परीक्षा गुरु-दक्षिणा चुकाने में,
हुए समर्थ न कौरव धरकर द्रुपदराज को लाने में।
द्रोण समान न हो, फिर भी था यज्ञसेन संगी उनका,
उसे बाँधना काम कर्ण का न था, किन्तु था अर्जुन का।
गुरु-चरणों में किया उपस्थित जब अर्जुन ने जीत उसे,
उन्हें दया आ गयी देखकर व्रीड़ित, विवश, विनीत उसे।
"मैत्री होती है समान से, द्रुपद, तुम्हारी ही यह उक्ति,
इससे अर्द्ध राज्य लेकर ही देता हूँ मैं तुमको मुक्ति।
बचपन का साथी न सही, मैं एक अतिथि तो आया था,
तुम दानी भी हो न सके मैं याचक बना बनाया था।
वीर, एक दो बिन्दु मात्र से क्षत्र जन्म तुमने पाया,
किन्तु द्रोण भर विप्र वीर्य से निर्मित है मेरी काया।"
"विजयी आप, विजित मैं, मेरी आज आपसे क्या समता?
फिर भी शिरोधार्य है मुझको क्षेमंकरी क्षमा-क्षमता।"
मिटा द्रोण का द्वेष, द्रुपद में जगी किन्तु ईर्ष्या भारी,
वैर उभय पक्षों को पीड़ित करता है बारी बारी।
"धिक मेरे क्षत्रिय होने को, यदि मैं यह अपमान सहूँ,
इसका कुछ प्रतिकार न करके जीते जी चुप बैठ रहूँ।
धिक अलज्जता का यह जीना, विष पीना अच्छा इससे,
मरना सहज, कठिन वह करना, जीने योग्य बनूँ जिससे।
पहुँच द्रोण में परशुराम की परम्परा-सी सक्रिय है,
अब भी उसके आयुध-बल से आकुल मेरा क्षत्रिय है।
मैं भी ब्राह्मण का बल लेकर काढूँ काँटे से काँटा,
धन अब भी साधन है मेरा, जिसने जन से जन बाँटा!

नहीं असम्भव कुछ जगती में, फिर हताश होऊँ मैं क्यों?
मिलता नहीं समय ही फिर फिर तो उसको खोऊँ मैं क्यों?''
यज्ञसेन यह सोच वैश्य की वणिग्वृत्ति रख कर मन में,
अर्थ-सिद्धि के लिए नगर से गया तापसों के वन में।
बनना पड़ा शूद्र सेवक भी उसको उपयाजक मुनि का,
एक पतन के साथ दूसरा औरों का क्या, सुरधुनि का!
हुए तपस्वी तुष्ट किन्तु सब सुनकर वे नृप से बोले,—
''पहले किसने दर्प दिखाया, सोचो हे भावुक भोले!
तुमने जो कुछ किया उसी का दिया द्रोण ने विनिमय तात!
करके अब फिर घात आप ही उपजाते हो तुम प्रतिघात।
वैर करो तो वैरी होगे प्रिय न बनो क्यों करके प्रेम?
अपना क्षेम तभी सम्भव है, जब हो औरों का भी क्षेम।
सम्मति सूचक नहीं तुम्हारा उष्ण साँस वाला यह मौन,
समझा कहाँ चोट खाया मन, व्यर्थ उसे समझावे कौन।
बन जाता जन का स्वभाव है जो है उसका कुल-संस्कार,
जीत प्रकृति के ही पौरुष की होती है, संयम की हार!
किन्तु एक अचरज है यह भी, मनःपूत जो मुझे न हो,
समाचरे उसको मेरा ही सोदर निस्संकोच अहो!
कहूँ अर्थ को यदि अनर्थ मैं, तो मैं ही विक्षिप्त हुआ,
जिसमें सचमुच ही पागल-सा लोक आप ही लिप्त हुआ।
बता दिया मैंने उपाय सो राजन्, यही बहुत जानो,
अपना मत भी जता दिया है, मानो चाहे मत मानो।''
मुनि का कहा उपाय भूप ने किया, छोड़कर उनकी राय,
और दान-सम्मान लाभ-वश हुए याज मुनि सुलभ सहाय।
हम त्यागें भी, किन्तु सहज क्या हमें त्यागती है तृष्णा,
जन्मे नृप-सुत-सुता यज्ञ से धृष्टद्युम्न तथा कृष्णा।
और हुआ विश्वास द्रुपद को—''होगी मेरी इच्छा पूर्ण,
मेरा पुत्र करेगा मेरे चरम शत्रु का चिर मद चूर्ण।''

स्वयं द्रोण ने उस बालक को धन्वी किया धनंजय-सा,
और चुकाया पूर्व बन्धु को अर्द्धराज्य का विनिमय-सा।
अनजाने अपनी विपत्ति जन अपने आप बढ़ाते हैं,
किंवा वे निज धर्म-कर्म पर बढ़कर स्वबलि चढ़ाते हैं।

कृष्णा ने गुण-रूप-शील का नया गीत ही रचा दिया,
उसी सती की मनोव्यथा ने महा प्रलय-सा मचा दिया।
निष्ठा और प्रतिष्ठा को भी मिली उसी में अपनी पूर्ति,
प्रकट हुई किसके पुण्यों से रमणी की अन्तर्मणि-मूर्ति।

लाक्षागृह

"धन्य युधिष्ठिर, धर्न्य धर्म नर देह धरे!"
चरचा करने लगे प्रजाजन प्रेम-भरे।—
"सिंहासन पर उन्हें देख हम भर पावें,
अन्ध वृद्ध धृतराष्ट्र क्यों न अब बन जावें?"
यथा रीति तब धर्मसूनु युवराज बने,
उनके यशोवितान त्रिदिव तक फैल तने।
जिन्हें बड़े भी जीत न पाये थे रण में,
उन्हें उन्होंने हरा दिया छोटे क्षण में।
मिले अनुज बन उन्हें चार पुरुषार्थ चुने,
कौरव यह सब देख और भी जले-भुने।
दुर्योधन ने शकुनि-कर्ण से मन्त्र किया,
फिर उनके प्रतिकूल नया षड्यन्त्र किया।
उलटे लक्षण देख विदुर सब जान गये,
भाल-पटल का लेख अटल वे मान गये।
पुत्र-मोह वश अन्ध भूप को सोच हुआ,
पक्षपात प्रत्यक्ष न हो, संकोच हुआ।
उन्हें विदुर का नहीं कणिक का मन्त्र रुचा—
"छल है केवल एक सफल बल बचा-खुचा।
उड़ता पंछी फँसे, कपट का जाल बुनो।"
बोले तब वे धर्मराज से—"लाल, सुनो,
स्वजनों का सामीप्य सघन हो सड़े नहीं,
नित्य नया-सा रहे, पुराना पड़े नहीं।
सहें भले ही बन्धु-विरह की व्यथा सभी,
रहें किन्तु कुछ दूर परस्पर कभी कभी।
दुर्योधन के और तुम्हारे बीच नया,

आकर्षण ही मुझे इष्ट है पूर्णतया।
रहो वत्स, तुम तनिक वारणावत जाकर,
आओ पाँचों पलट पुनर्नवता पाकर।
देखूँ, कै दिन अलग अलग तुम लोग रहो,
कब दोनों के उपालम्भ मैं सुनूँ अहो!
मेला भी इन दिनों वहाँ भर रहा भला,
बहु क्रय-विक्रय खेल-कूद कल कुतुक कला!
सुनता हूँ, औत्सुक्य उधर है तुमको भी,
यों रुचि रखकर नहीं कहीं भी तुम लोभी।
बने वहाँ नव भवन, निदेश दिया मैंने,
तुम सबके अनुरूप प्रबन्ध किया मैंने।
चतुर पुरोचन सचिव प्रथम ही वहाँ गया,
तुम देखो, मैं सुनूँ सदैव नया नया।''
'जो आज्ञा' को छोड़ युधिष्ठिर क्या कहते?
सुजन शील-वश दहन-दुःख भी हैं सहते।
जब अम्बा युत चले पुरी से पाण्डु-तनय,
हुए विदुर अति व्यथित देख छल और अनय।
सावधान कर उन्हें उन्होंने बता दिया,
जाना था जो गुप्त रूप से, जता दिया।
''कब न पकड़ ले आग प्रकट जो स्नेह यहाँ,
बना तुम्हारे लिए लाख का गेह वहाँ।
किन्तु अन्त में अवश सभी पछताते हैं,
लाख यत्न भी एक छिद्र रख जाते हैं।
उसी छिद्र से निकल विज्ञ बच आते हैं,
धीर-वीर ही जूझ जूझ जय पाते हैं।
पद पद पर है विपद, सचेत रहो सदा,
बाधा भी है अगद रूपिणी यदा-कदा।''
बहुत लोग थे, विदुर भिन्न भाषा बोले,
धर्मराज ही अर्थ-अनर्थ समझ डोले।
किन्तु शीघ्र कर लिया उन्होंने चित्त कड़ा,
अहो अर्थ से भी अनर्थ का बोध बड़ा!
किसको उनके बिना हस्तिनापुर भाया?
ब्रह्म रहित-सी रही वहाँ कोरी माया!
फूल वारणावत न समाया अपने में,

मिला उसे वह जो अलभ्य था सपने में।
चूका नहीं परन्तु पुरोचन पापमना,
अग्नि-गर्भ-गिरि-तुल्य उच्चगृह वहाँ बना।
लाख-तेल से लिप्त भित्तियाँ चमक उठीं,
दर्पण ऐसी छतें-गचें दृढ़ दमक उठीं।
इतने पर भी किन्तु न उसका यत्न फला,
विदुर-भृत्य ने वहाँ पहुँच कर उसे छला।
उसने उसमें एक अलक्ष्य सुरंग रचा,
जिसमें घुस कर अलग निकल कर जाय बचा।
आग लगी, घर जला, सुघर पाण्डव न जले,
गेह-गर्भ-पथ धरे चतुर वे निकल चले।
निकल न पाया, जला पुरोचन ही जीता,
मरता जलता वही द्वेष-विष जो पीता।
कौरव भीतर सुखी, दुखी थे बाहर से,
नीचे ऊपर शीत-तप्त तप के सर-से।
भेद विदुर ने व्यथित भीष्म को बता दिया,
पर देकर धृतराष्ट्र संग कुछ शोक किया।
दुर्योधन ने कटा पाप-कण्टक जाना,
पर दिखावटी दुःख शोक उसने माना।
"हाय हमीं हतभाग्य!" विलख बोले पुरजन—
"नहीं एक भी धर्मराज, सौ दुःशासन!"

हिडिम्बा

विदुर कृपा से कर छद्म-घर छार-खार,
वन में प्रविष्ट पाण्डुपुत्र हुए गंगा-पार।
भीम ने बनाया मार्ग बीहड़ में बढ़के,
कुन्ती जा सकी उन्हीं के कन्धों पर चढ़के।
माँ को लिये वे, दिये सहारा भाइयों को भी,
गिनते न मार्ग में थे खड्ड-खाइयों को भी।
देखते उन्हें थे वन-जन्तु सुविस्मय से,
किन्तु दूसरे ही क्षण भागते थे भय से!
घने घने वृक्ष आतपत्र लिये आते थे,
निज फल-फूल उन्हें भेट दिये जाते थे।
कण्टक भी इनके पदों को धर रहते,
शल्य-विद्ध मन में वे उनसे क्या कहते?
केकी गति धरते थे, पिक स्वर भरते,
उनके विनोद का प्रयास-सा थे करते।
वे आखेट-मग्न मान सकते थे आपको,
भूलते परन्तु कैसे माँ के मनस्ताप को।
रानी भी न होती वह, तो भी गृह-नारी थी,
घन-वन-योग्य न थी, चिर सुकुमारी थी।
पर उसको भी आज दुःख न था अपना,
पुत्रों की विपत्ति का ही जी में था कलपना।
बैठ भी सकी न वह अन्त में गहन में,
मन में अशान्ति थी ही, श्रान्ति आयी तन में।
छाई शून्य जड़ता प्रसून की-सी काया में,
झड़-सी पड़ी वह बड़ी-सी वटच्छाया में!
"हाय! हम जैसे पाँच पाँच पुत्र रहते,

जननी हमारी सहे ऐसे दुःख दहते।
तो वृथा सहेगी कौन वेदना प्रसव की?
होगी क्यों इतिश्री नहीं भाग्यहीन भव की?
निज पर हैं वे, यह जिनसे छली गयी,
धन गया, धाम गया, धरती चली गयी!
करनी पड़ेगी भर पाई किसे इसकी?
दुर्योधन, तू है वह ऐसी मति जिसकी!
आज अपने को तू कृतार्थ भले कहले—''
''जाओ किन्तु खोजो भीम, पानी कहीं पहले।''
बोले उन्हें रोक के युधिष्ठिर थकित-से।
''जो आज्ञा'' वृकोदर चले चुप चकित-से।
दृष्टि और श्रुतियों को विस्तृत-सा करके,
जलचर पक्षियों का कलरव धरके,
जाके कुछ दूर पा गये वे एक झरना,
दैव के अनुग्रह का ऊँचे से उतरना!
उतरी थकान, जो चढ़ी थी उन्हें वन में,
प्राप्त हुए व्याप्त नये प्राण-से पवन में।
श्वास खींच बोले बली—''अम्बा-आर्य आ जावें,
तो वे पुनर्नवता तुरन्त यहाँ पा जावें।''
रुक न सके वे वहाँ, लौटे वायु-बल से,
पात्र के अभाव में दुकूल भर जल से।

माता और भ्राता यहाँ हारे थके सोये थे,
भावि गति खोजते-से आप भी वे खोये थे।
प्रहरी हो भीम क्या क्या सोचा किये मन में,
साँझ को ही रात हुई उनको गहन में।
धारे गगनस्थली ने तारे-रत्न चुनके,
चमके वे नूपुरों की रुन-झुन सुनके।
सुन पड़ी राग की नयी-सी टेक उनको,
दीख पड़ी सुन्दरी समक्ष एक उनको।
उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी,
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी!
अंग मानो फूल, कच भृंग, हरी शाटिका,

कर-पद-पल्लवा थी जंगम-सी वाटिका!
ओस मुसकान बन ओठों पर आयी थी,
सुरभि-तरंग वायुमण्डल में छाई थी।
चौंक उठे भीम, रह वे न सके स्थिर भी,
खिन्न थे भले ही अविनीत न थे फिर भी।
ओठों पर तर्जनी धरे वे बढ़े धीरे से,
"देवि, कौन है तू यहाँ?" बोले हँस हीरे-से—
"जागें नहीं कच्ची नींद माता और भ्राता ये,
आप कष्ट में भी शरणागतों के त्राता ये।"
"धन्यवाद! देवि-पद दान किया तुमने,
वस्तुतः मैं राक्षसी हूँ, मान दिया तुमने।
स्वीकृत इसीलिए मैं करती हूँ इसको,
अन्यथा मैं अपने समक्ष गिनूँ किसको?"
"राक्षसी इसीलिए क्या तू जो है निशाचरी?
यद्यपि दिवा-सी यह दीप्ति तुझमें भरी!
फूटा जिसे देख यहाँ पत्थर में सोता है,
ऐसा रस-रूप यदि राक्षसी का होता है,
तो थी राक्षसी के प्रति मेरी भ्रान्त धारणा,
तन्वि, तुझे योग्य नहीं यह वन-चारणा।"
"मानती हूँ इसको गुणज्ञता तुम्हारी मैं,
दुगुनी कृतज्ञ हुई बलि, बलिहारी मैं!
मेरा बड़ा भाग्य यह, जो मैं मन भा गयी,
वन घर मेरा, तुम्हें देखा और आ गयी।
अपने अतिथि का मुझी पर न भार है,
कह दो, अपेक्षित तुम्हें क्या उपहार है?
दुःख में पड़े हो तुम सर्व सुख सेवी-से।"
"तो आलाप करता हूँ मैं क्या वन-देवी से?"
"देवी ही सही मैं तब मेरे देव तुम हो,
कामलता हूँ मैं, तुम्हीं मेरे कल्प द्रुम हो।"
"सुन्दरि, क्या सत्य ही तू कोई अन्य बाला है?
रूप से जो ज्वाला और वाणी से रसाला है।"
"मैं हूँ"—हँस बोली वह "जो भी तुम जान लो,
हानि क्या मुझे यदि निशाचरी ही मान लो?
कल्प-सा किया है स्वयं मैंने निज काया का,

यातुधानी हूँ न, योग रखती हूँ माया का।"
"तो तू अपने को भले शूर्पणखा मान ले,
लक्ष्मण-सा धीर मैं नहीं हूँ, यह जान ले!"
"शूर्पणखा तक ही तुम्हारा बड़ा ज्ञान है,
वे हो तुम, जिनमें अतीत ही महान है!"
"लक्ष्मण न होने में प्रतिष्ठा कौन मेरी है?
तब भी प्रशंसनीय सत्य-निष्ठा तेरी है।
शूर्पणखा, 'राक्षसी मैं,' थी कह सकी कहाँ,
किन्तु इस रूप-रचना का हेतु क्या यहाँ?"
बोली चढ़ी भृकुटी उतार कर ललना—
"चाहो तो कहो तुम भले ही इसे छलना,
प्रिय-रुचि हेतु चुना मैंने यह चोला है,
नरवर मेरा अहा भारी भला भोला है!"
"भोला! भली, 'मुग्ध' कह तो भी एक बात है,
रूठे वह क्यों न सीधा सीधा यह घात है!"
"रूठना भी उसका क्या जो उदार चेता है,
चाहे जिसे देवी जान लेता, मान देता है!
देवों की अपेक्षा दैत्य हमसे निकट हैं,
नर तो निरीहता में दोनों से विकट हैं!
चाहिए उन्हें तो किसी दिव्य की अधीनता,
दीनता कहूँ मैं इसे किंवा आत्म-हीनता?
अस्तु और वेला नहीं, संकट समीप है,
सोदर हिडिम्ब मेरा रक्षः-कुल-दीप है।
उसने मनुष्य-गन्ध पाके मुझे भेजा है,
आके तुम्हें देख कैसा हो उठा कलेजा है!
मारने को आयी थी, बचाऊँगी तुम्हें अहो!
होने से विलम्ब किन्तु डरती हूँ, जो न हो।"
"प्रेम करने वा कृपा करने तू आई है?
जा बुला ला, देखूँ, कौन तेरा वह भाई है?"
"इच्छा रहने दो उसे देखने की हाय! तुम,
खो न बैठो आप निज रक्षा का उपाय तुम।
मैं भी उससे न बचा पाऊँगी तुम्हारे अंग,
भाग चलो प्यारे, हठ छोड़ अभी मेरे संग।"
"भाग चलूँ? छोड़ माता-भ्राता, वे जियें-मरें,

राक्षस नहीं हैं हम, तू ही कह, क्या करें!"
"राक्षस न होना किसी भाँति तो तुम्हें खला!
कौन रक्ष उनमें तुम्हारा लक्ष्य है भला?"
"इन्द्रियों के भोग की क्या बात कहूँ तुझसे,
प्राणों के लिए भी यह होगा नहीं मुझसे।"
"मुक्ता छोड़ हंस कहाँ जाय कुछ चुगने?
प्रिय के जो प्रिय हैं, वे मेरे प्रिय दुगने।"
"यदि यह बात है तो चिन्ता भय छोड़ दे,
मेरे नरनाम में अभी से जय जोड़ दे।
जैसी हो, परन्तु तू है ऐसी भी, बहुत है,
भागना क्या, जीवन तो जन्म से ही हुत है।"

आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा!
बोला दूर से ही वह—"व्यर्थ होगा भागना!"
सोते हुओं को भी इस बार पड़ा जागना।
एक बार काँप के हिडिम्बा हुई जड़-सी,
आयी स्वजनों में अकस्मात झंझा झड़-सी।
झुक झुक झोंके झेल ज्यों त्यों बन ठहरा,
वज्रदन्त वाला बढ़ काला घन घहरा।
"तू बलि बनेगा नर, भाग्य भला तेरा है!"
भीम हँसे "आ गया मृगव्य आप मेरा है।
अन्य बलिदान वाली पूजा है अशक्तों की,
ईश चाहता है आत्म-बलि ही स्वभक्तों की।
राक्षस, सहायता मैं दूँगा तुझे इसमें,
आज तुझे छोड़ के विनोद मेरा किसमें?"
यह सुन आग हो हिडिम्ब बढ़ गरजा,
बीच में हिडिम्बा ने विरोध कर वरजा—
"सावधान! मैं वर चुकी हूँ इसे मन में!"
"लाई क्लिन्न रूपता तभी तू निज तन में?"
रुष्ट हुआ राक्षस—"क्या बकती है तू अरी,
धिक धिक, राक्षसी हो, मर्त्य पर ही मरी।
खोके हा! निजत्व तूने अच्छी यह सज्जा की,

होके स्वयं हीन मुझे कैसी लोक-लज्जा दी।"
"आगे मुझे मार!" "नहीं पीछे तुझे मारूँगा,
और निज कुल को कलंक से उबारूँगा।"
भीम बोले—"अन्य जन्म लेके कुछ करना,
सम्प्रति तू निश्चित ही जान निज मरना।"
राक्षस बहन क़ो हटाके भिड़ा भीम से,
कौशल में बल में वे दोनों थे असीम-से।
भीम के लिए न रण-रंग-रस तिक्त था,
भाइयों का साहस बढ़ाना अतिरिक्त था।
लड़ लड़ जाते क्रुद्ध गंडकों से मुंड थे,
टाँगें मारते थे मत्त वारणों के शुंड थे।
कर धरते थे कर किंवा अजगर थे,
करते अमानुषिक नाट्य वे दो नर थे!
रक्खी गुणग्राहकता पार्थ ने लड़ाई की,
निज पर भेद भूल दोनों की बड़ाई की।
शत्रु की प्रशंसा जो वृकोदर को खटकी,
ग्रीवा धर उसकी उन्होंने खींच झटकी।
औंधे मुँह नीचे गिर उठने न पाया वह,
रह गया लेके भग्न कटि की स्वकाया वह।
पीठ पर पैर रख, हाथ डाल दोनों ओर,
मोड़ा उसे भीम ने, हुआ तड़ाक शब्द घोर।
मरते हिडिम्ब ने कहा सो सबने सुना—
"योग्य ही बहन, तूने वर अपना चुना।"
"हाय भैया! किसने तुम्हारी रीढ़ तोड़ दी।"
खींची अनुजा ने साँस, अग्रज ने छोड़ दी।
क्रुद्ध भीम भूले भाव राक्षस की जाई के,
बोले—"भगिनी भी संग जायगी क्या भाई के?"
धर लिया वेग से सुजात को सुमाता ने,
गर्व से सराहा उन्हें एक एक भ्राता ने।
"अम्ब, अम्ब, आर्य, आर्य, आज्ञा मिले, जावे भीम,
दुर्योधन की भी यहीं दुर्गति बनावे भीम।
मेरा पुरस्कार यही, न्याय का निदेश हो,
राज्य धर्मराज का हो, निष्कण्टक देश हो।"
चिन्ता की युधिष्ठिर ने नाम खुले लेख के,

शान्त किया भीम को हिडिम्बा ओर देख के।
"भद्रे, हम निज को छिपाये हुए हैं अभी,
तो भी जानने की बात जान गयी तू सभी।
भेद खोल देने से निबारें तुझे कैसे हम?
आप बचने के लिए मारें तुझे कैसे हम?
वैरी की बहन भी तू स्त्री है, त्राण तेरा हो,
अपने समान हमें क्यों न प्राण तेरा हो?
बाधा है लिखी-बदी-सी हमको अराति की,
रह तू सुरक्षित ही रक्षणीया जाति की।"
"आर्य शंका मुझसे करें न किसी बात की,
हममें प्रवृत्ति नहीं ऐसे घृण्य घात की।
प्रेम-वैर दोनों हम सीधे साध लेते हैं,
अन्य के करों से निज नाव नहीं खेते हैं।
फिर भी चिता की बाट जोह रहा भ्राता है,
उससे यहीं तक अभागिनी का नाता है।
हाय! इसमें भी घृणा तुमको न हो कहीं।"
"नहीं नहीं", बोल उठे पाण्डव—"नहीं नहीं।"
मित्र सम शत्रु का संस्कार किया सबने,
और फिर निर्झर का मार्ग लिया सबने।

तोड़ लिये किसने वे तारे इस बीच में,
फूले मणि-पद्म थे जो कालिमा की कीच में।
साथ थी हिडिम्बा, रुक बोली उससे पृथा—
"पुण्यजने तू यों कष्ट करती है क्यों वृथा।"
"पुण्यजना—पापमना—क्या हूँ, नहीं जानती,
पुण्य-पाप दोनों को सहेतुक मैं मानती।
कुछ भी सही मैं किन्तु मेरे भी हृदय है,
औरों का नहीं तो मुझे अपना ही भय है।
न्याय से उन्हीं पर न भार मेरा सारा है,
रक्षक जिन्होंने एक मात्र मेरा मारा है?
सोदर के वैर हेतु मैं भी जूझ सकती,
किन्तु कुछ और भी समझ बूझ सकती।
वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं, प्रेम है,

और इस विश्व का इसी में छिपा क्षेम है।
उठ चली जाति-तिरस्कार भयहीन मैं,
आप अहम्भाव कर बैठी हूँ विलीन मैं।
तो भी नहीं चाहती हूँ भव में मैं मरना,
जीवन का भाग निज भोग मुझे करना।"
"किन्तु हम मानव हैं और तुम—" "राक्षसी?"
बोली ओंठ काट वह और भी कसी-कसी।
"यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृतकार्यता?
और राक्षसी भी मैं, असुन्दरी क्या वैसी हूँ?
सम्मुख उपस्थित हूँ, खोटी, खरी जैसी हूँ।"
"कृत्रिम" "तो खोल दूँ यथार्थ की भी गठरी?
अम्ब, है अकृत्रिम तो हड्डियों की ठठरी!
कर - पद - अधर - कपोल - नख रँगना,
इष्ट नूपुरों के संग कांची - हार - कँगना।
नथ-तरकी ही तो अकृत्रिमता लाती है,
जब वह नाक-कान दोनों कटवाती है!
प्राणि मात्र सहज प्रवृत्तियों में एक-से,
राक्षस भी चलते हैं अपने विवेक से।
होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूँ,
जन्म से मैं जो भी रहूँ, जाति से तुम्हारी हूँ।
कर सकती हो अविश्वास कैसे मेरा तुम?
तोड़ दिया मैंने अम्ब, छोड़ो क्षुद्र घेरा तुम।
भार नहीं हूँगी मैं तुम्हारे भीम के लिए,
विचरूँगी व्योम में भी उनको लिये दिये!
निश्चित समय जहाँ आया लौट आऊँगी,
केवल उन्हें ही तुम्हें सौंप नहीं जाऊँगी,
और एक जन को भी, जिसको जनूँगी मैं,
और फिर मरके भी अमर बनूँगी मैं।
पुत्रों के तुम्हारे वह पौत्र काम आवेगा,
और आगे मेरी भावनाओं को बढ़ावेगा।"
"मान लो, परन्तु भीम प्रत्याख्यान कर दे?
भंग यह सारा स्वप्न और ध्यान कर दे?"
"तब भी मैं पतित न हूँगी किसी पाप से,

उजल उठूँगी शुचिस्नेह के प्रताप से।
निष्फल भी सच्चा प्रेम त्यक्त कहाँ होता है?''
''तीर्थ ही बनाता वह, व्यक्त जहाँ होता है।''
''असुरों से नाता नहीं जोड़ते क्या सुर भी?
पूर्ण है पुलोमजा से इन्द्र-अन्तःपुर भी।
और यदि शर्मिष्ठा तुम्हारी पुरखिन है,
तो तुम्हें हिडिम्बा को निभाना क्या कठिन है?''

कुन्ती ने विचार कर पूछा युधिष्ठिर से,
देखा एक बार भली भाँति उसे फिर से।
स्त्री का गुण रूप में है और कुल शील में,
पद्मिनी की पंकजता डूबे किसी झील में।
''तुझ-सी बहू भी मुझे सहज मिली अहा!
पूर्ण काम हो तू!'' यों उन्होंने उससे कहा।
हाथ उसका तो नहीं भीम को धरा दिया,
भीम का ही पाणि उसे ग्रहण करा दिया!

बिचरे हिडिम्बा-संग भीम कुछ दिन यों,
बीतते हैं ऐसे दिन रात पल-छिन ज्यों।
सुफ़ल घटोत्कच था इस नव कार्य का,
राक्षस के बल में समाया शील आर्य का।

वक-संहार

वह विप्र का परिवार था,
शुचि लिप्त घर का द्वार था,
पूजा-प्रसूनाकीर्ण थी दृढ़ देहली।
आगत अतिथियों के लिए,
शीतल पवन सुरभित किये,
मानों प्रथम ही थी पड़ी पुष्पांजली।

द्विजवर्य विघ्नों से रहित,
वेदी निकट, शिशु सुत सहित,
सानन्द सन्ध्योपासना था कर रहा।
परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरों के योग से,
मानों भुवन की भावना था हर रहा।

था पास ही तुलसीघरा,
जो वायु-शोधक था हरा,
सुमुखी सुता थी दीप उस पर धर रही,
बस, ब्राह्मणी निश्चल खड़ी,
मुकुलित किये आँखें बड़ी,
कैसे कहें, किस भाव से थी भर रही।

थी शान्ति पूरे तौर से,
ध्वनि सुन पड़ी तब पौर से,
"गृहनाथ हैं? मैं अतिथि हूँ, सुत साथ हैं।"

झट ब्राह्मणी चौंकी, चली,
कह कर मधुर वचनावली,
"आओ, अहा! हम सब विशेष सनाथ हैं।"

सचमुच सनाथ हुए सभी,
ऐसे मनुज देखे कभी।
कुन्ती सहित पाण्डव अतिथि थे वे नये।
लाक्षाभवन के साथ ही
आशा जला कुरुनाथ की,
इस एकचक्रा नगर में थे आ गये।

रुचिकर वहाँ का वास था,
आदेश भी था व्यास का,
इससे वहीं रहने लगे वे प्रीति से।
भिक्षान्न ले आते स्वयं,
माँ को खिला खाते स्वयं,
फिर द्विज-निकट अभ्यास करते रीति से।

द्विज और भी हर्षित हुआ,
उनपर समाकर्षित हुआ,
शास्त्राब्धि-मन्थन अमृत हित होने लगा।
विष-विघ्न भी जाता कहाँ,
वक-रूप में निकला वहाँ।
वह धैर्य विप्र-कुटुम्ब का खोने लगा।

जिसमें न हो सबका निधन,
प्रति दिन पुरी से एक जन,
उपहार था उस दैत्य को जाता दिया।
अब विप्र की बारी पड़ी,
कैसी कठिन थी वह घड़ी,
भय-शोक से फटने लगा सबका हिया।

माँ-बेटियाँ रोने लगीं,
अति कातरा होने लगीं,

सुत युक्त ज्ञानी द्विज सहज गम्भीर था।
पर मृत्यु का संवाद था,
मुख पर विशेष विषाद था,
बस, एक के हित अन्य आज अधीर था।

कुछ देर सन्नाटा रहा,
तब शान्ति से द्विज ने कहा,—
"सम्पूर्ण जीवन सौख्य मैं हूँ पा गया।
भागी हुआ भव-भाग का,
अब तृप्त हूँ, गृह त्याग का
मेरे लिए उपयुक्त अवसर आ गया।

निश्चिन्त हो घर-बार से,
बन कर विरत, संसार से
सम्बन्ध अपना आप ही मैं तोड़ता।
फिर आत्म-चिन्तन-लीन हो,
दृढ़ योग-मुद्रासीन हो,
मैं यह विनश्वर देह यों ही छोड़ता।

अब काम यह भी आयगी,
निज को सफल कर जायगी,
मैं आज जाऊँगा स्वयं वक के निकट।
तुम लोग शोक करो न यों,
मत हो अधीर, डरो न यों,
जब प्राकृतिक है तब मरण कैसा विकट?"

तब ब्राह्मणी बोली—"रहो,
स्वामी, न तुम ऐसा कहो।
जीती रहूँ मैं और तुम जाकर मरो।
इससे अधिक परिताप की,
क्या बात होगी पाप की?
कह कर इसे मुझको न धर्मच्युत करो।

निश्चिन्त मर कर भी अभी,
तुम हो नहीं सकते कभी,
चिन्ता रहेगी हम अनाथों की सदा।
पर कर नहीं सकता हरण,
गृह-शान्ति यह मेरा मरण,
कारण कि होगी दूर कुल की आपदा।

कुछ काम संकट में सरे,
इस हेतु धन-रक्षा करे,
दारादि की रक्षा करे धन से सदा।
आचार यह अति शिष्ट है,
पर आत्मरक्षा इष्ट है,
धन से तथा दारादि से भी सर्वदा।

मैं सुत-सुता भी जन चुकी,
कुल-वर्द्धिनी हूँ बन चुकी,
मेरे बिना अब हानि क्या संसार की?
इस हेतु जाने दो मुझे,
यह पुण्य पाने दो मुझे,
जिससे कि सुरक्षा हो सके परिवार की।"

तब शील - सद्गुण - संयुता
कहने लगी यों द्विजसुता,–
"हे तात, हे माँ, तुम सुनो मेरी कही।
सूझी मुझे वह युक्ति है,
जिससे सहज ही मुक्ति है,
आनन्द-पूर्वक मैं बताती हूँ वही।

कल हो कि आज, कि हो कभी,
पर जानते हैं यह सभी,
है दान की ही वस्तु कन्या लोक में।
तो त्याग तुम मेरा करो,
आपत्ति यों अपनी हरो,
मैं भी बनूँ कुल-कीर्ति-धन्या लोक में।

यदि तुम नहीं तो माँ नहीं,
तुम हो जहाँ, वे भी वहीं,
माँ के बिना बच्चा कहाँ बच पायगा?
भाई गया तो क्या रहा,
सम्पूर्ण कुल का कुल बहा।
हा! कौन किसको पिंड फिर पहुँचायगा?

पर मैं मरूँ तो ग्लानि क्या?
सब तो बचेंगे, हानि क्या?
इससे मुझे बलि आज होने दो न क्यों?
लघु लाभ का क्यों लोभ हो,
गुरु हानि का जो क्षोभ हो,
लघु हानि कर गुरु लाभ हो तो लो न क्यों?

मैं त्याग के ही अर्थ हूँ,
बच भी रहूँ तो व्यर्थ हूँ।
फिर क्यों न मुझको आज ही तुम त्याग दो?
यह और आगे की सभी
मिट जायँ चिन्ताएँ अभी।
मैं माँगती हूँ, पुण्य का यह भाग दो।"

करुणाश्रु जल बहने लगा,
द्विजवर्य फिर कहने लगा,
"डालो न मुझको मोह करके मोह में।
यह कथन है समुचित तुम्हें,
है इष्ट मेरा हित तुम्हें,
पर लाभ क्या इस व्यर्थ के विद्रोह में?

पाणिग्रहण जिसका किया,
सब भार जिसका है लिया,
कैसे उसे मैं मृत्यु-मुख में छोड़ दूँ?
होमाग्नि-सम्मुख विधिविहित,
जिसको किया निज में निहित,
सम्बन्ध उस सहधर्मिणी से तोड़ दूँ?

हा! और यह कुलपालिका,
मेरी विनीता बालिका,
निज मुख वृथा ही आँसुओं से धो रही।
यह आँख मेरी दूसरी,
द्विज-पाँख मेरी दूसरी,
मेरे लिए है आप ही हत हो रही।

पर, पुत्रि, इसमें सार क्या?
तेरा यहाँ अधिकार क्या?
तू हर सकेगी दूसरे घर की व्यथा।
अधिकार पालन मात्र का
मुझको कि लालन मात्र का,
सचमुच पराई वस्तु है तू सर्वथा।

ब्राह्मणि, सुनो, तुम गुणवती,
बहु विध कला-कुशला सती,
निर्वाह का क्या सोच सालेगा तुम्हें?
करके उचित परिचालना,
इस पुत्र को तुम पालना।
होकर युवक यह आप पालेगा तुम्हें।

बैठी बहन के स्कन्ध पर
रक्खे हुए निज वाम कर,
कुल-दीप-सा बालक खड़ा था स्थिर वहाँ।
पाकर समय उसने कहा,
थी तोतली वाणी अहा
"मालूँ अचुल को मैं अबी, वह है कहाँ?"

थी शोक की छाई घटा,
उसमें उठी विद्युच्छटा।
रोते हँसे, हँसते हुए रोये सभी।
तब ब्राह्मणी ने सिर धुना,
वह शब्द कुन्ती ने सुना।
वह वायु-गति से आप आ पहुँची तभी।

"यह शोक कैसा है अरे!
तुम लोग क्यों आँसू भरे?
आपत्ति क्या तुम पर अचानक आ पड़ी?
क्या भय उपस्थित है कहो,
आत्मीय हूँ मैं भी अहो!
जो कर सकूँ, सन्नद्ध हूँ मैं सब घड़ी।"

तब विप्र ने वक की कथा,
अपनी तथा सबकी व्यथा,
उसको सुनाई दुःख से, निर्वेद से।
सारी अवस्था जानकर,
अति दुःख मन में मानकर,
कहने लगी कुन्ती वचन यों खेद से,—

"यह राज्य हा! असहाय है,
मरता, न करता हाय है।
मुझसे कहो, राजा यहाँ का कौन है?
कुछ यत्न वह करता नहीं,
कर्त्तव्य से डरता नहीं?
मरती प्रजा है और रहता मौन है।

सबके सदृश उस भूप की,
उस पाप के प्रतिरूप की,
वक के लिए वारी कभी पड़ती नहीं?
जूझे कि निज पद त्याग दे,
सबके सदृश बलि-भाग दे,
न्यायार्थ क्यों उससे प्रजा लड़ती नहीं।

पर है यहाँ की जो प्रजा,
जो है बनी बलि की अजा,
वह भीरु है, फिर ठीक ही यह कष्ट है।
डालें नहीं तो यदि अभी,
भर धूल मुट्ठी भर सभी,
तो धूल में मिल जाय वक, सो स्पष्ट है।

जो हो, कहो हे भूमिसुर,
तुम छोड़कर यह पापपुर,
अन्यत्र ही न चले गये कुल-युक्त क्यों?
पृथ्वी पृथुल है, पार क्या,
ऐसा यहाँ था सार क्या?
जाते कहीं होते न तो वक-भुक्त यों।''

द्विज ने कहा, कुन्ती रुकी,—
''जो बात निश्चित हो चुकी,
किस भाँति मैं उससे भला मुँह मोड़ता?
खोटा-खरा जैसा सही,
वक संग समझौता यही,
सबने किया, कैसे उसे मैं तोड़ता?

जन एक देता प्राण है,
होता सभी का त्राण है,
सबके लिए निज नाश करना भी भला।
किस भाँति फिर मैं भागता,
निज जन्मभू को त्यागता?
दस भाइयों के साथ मरना भी भला।''

''भूदेव, हाँ यह बात है,
पर सह्य क्या उत्पात है।
निज जन्मभू की भी दुहाई व्यर्थ है।
क्या जन्मभू है हाय सो,
निज मृत्युभू बन जाय जो!
विस्तीर्ण वसुधा भर हमारे अर्थ है।''

रुक तनिक फिर बोली पृथा—
''अनुशोचना अब है वृथा।
कुछ हो, सभी निश्चिन्त तुम वक से रहो।
जब है तुम्हारे एक सुत,
तब पाँच हैं मेरे अयुत,
दूँगी तुम्हें मैं एक उनमें से अहो!''

इस बार दो आँसू चुए
सब लोग विस्मित से हुए।
द्विज ने कहा—"यह क्या अरे, यह क्या शुभे!
तुम अतिथि, मुझको मान्य हो,
तेजोनिधान वदान्य हो।
कण्टक हमारा क्यों तुम्हें इतना चुभे?

देवी! कहो, तुम कौन हो?
क्यों मूर्ति बन कर मौन हो?
दृढ़ता नहीं देखी कहीं ऐसी कभी।
अच्छा रहो, यह तो सुनो,
तुम कौन सुत दोगी, चुनो,
दोगी तथा कैसे कहो यह तो अभी?"

"हे विप्रवर! पूछो न यह।"
कुन्ती सकी आगे न कह,
वह वाष्प-वेग न सह वहाँ से गत हुई।
ठहरी न वह, न ठहर सकी,
अति कार्य कर मानों थकी।
बाहर अटल थी किन्तु भीतर हत हुई।

"केवल कहा ही है अभी,
अविशिष्ट है करना सभी।
पर मन, अभी से तू विकल होने लगा!
ऐसे चलेगा काम क्या?
तेरा रहेगा नाम क्या?
आरम्भ में ही हाय! तू रोने लगा।

स्वामी गये शिशु छोड़कर,
राजत्व उनका जोड़कर,
वह भी गया, अब हाय! क्या सुत भी चले!
प्रभु, क्यों मुझे इतना दिया,
जो फिर सभी लौटा लिया,
छलकर मुझे क्यों आप अपने से छले?"

दृढ़ भक्ति रख भगवन्त में,
हलकी हुई वह अन्त में,
हाँ, बढ़ गयी उसकी सहज गम्भीरता।
जब वीर पुत्रों से मिली,
तब फिर तनिक काँपी हिली।
पर, अन्य क्षण मानों प्रकट थी धीरता!

जो था हुआ सब कह गयी,
सुत-समिति विस्मित रह गयी।
बोले युधिष्ठिर तब कि "माँ, यह क्या किया?
पर-हेतु मरने के लिए,
निज सुत, बिना अकधक किये,
किस भाँति भेजेगा तुम्हारा यह हिया?"

"मुझको समझ पड़ता नहीं"
माँ ने दिया उत्तर वहीं।
"यह हृदय ऐसा ही बना है, क्या कहूँ?
ऐसा जटिल, पूछूँ किसे,
विधि ने बनाया क्यों इसे,
अबला रहूँ मैं और हा! सब कुछ सहूँ?

यह दैव का अन्याय है,
पर वत्स, कौन उपाय है?
पूछो न तुम इस हृदय की कुछ भी दशा।
रण में मरण तक के लिए,
पति-पुत्र को आगे किये,
करती विसर्जित गर्व कर हम कर्कशा।"

सहदेव तब आगे बढ़ा—
"माँ, दो मुझे ऊँचा चढ़ा।"
माँ ने कहा—"बेटा, तुम्हें बलि दूँ, रहो,
दो पुत्र माद्री ने जने,
दो ही रहें मेरे बने,
अब इस विषय में कुछ न तुम मुझसे कहो।"

तब वीर अर्जुन ने कहा,
"माँ, तुम मुझे भेजो, अहा!
सब जानते हैं पार्थ मेरा नाम है।"
पर भीम ने रोका उन्हें,
सप्रेम अवलोका उन्हें,
"ठहरो तनिक तुम, भीम का यह काम है।

खुजली मिटेगी कल जरा,
हो जायगा भुजबल हरा,
दुर्दान्त पापी दैत्य मारा जायगा।
पक्वान्न जो वक के लिए,
बलि-संग जाते हैं दिये,
माँ, स्वादु उनका भी मुझे ही आयगा।"

सब भय हँसी में उड़ गया,
पर दिन वहाँ दल जुड़ गया।
जनरव उठा—"वक मर गया, वक मर गया!"
हँस भीम बोले—"तात हो!
कर घात कोई रात को
उसको नगर के द्वार पर है धर गया।"

लक्ष्य-वेध

"उतरा है मेरा भार अहा!"
पाकर माँ ने सन्तोष कहा–
"पाया जिस पुर में प्यार घना
हमसे उसका उपकार बना।
अब बहुत रह लिये यहाँ, चलो,
निर्भय हो, चाहे जहाँ चलो।
घर से निकलों का लाभ यही,
घूमें वे जितनी अधिक मही।
नव दृश्यों से निज स्वागत हो!"
तब धर्मराज बोले नत हो–
"जो आज्ञा, माँ, किस ओर चलें?
निज मुक्त चतुर्दिक फूल फलें।"
"गुण-रूप-शील सब में धन्या
पांचाल राज्य की मख-कन्या
कृष्णा का सुना स्वयंवर है,
वह भूमि भाग भी सुन्दर है।
यह मेला भिन्न प्रदेशों का,
बहु वर्ण-रूप बहु वेषों का
चल देखो तुम भी क्यों न वहाँ
सर्वाधिक सुकृती कौन कहाँ।"

जाना था फिर भी खेद हुआ,
स्वजनों का-सा विच्छेद हुआ।
इतने दिन जो रह लिया गया,

सन्तोष उसी पर किया गया।
पाकर पथ-संगी नये नये,
सुख-पूर्वक ही वे लोग गये।
रस पाकर पन्थ-कथाओं का
करते विस्मरण व्यथाओं का।
बहु गिरि-वन-गाँव-नदी-नाले,
उनके पड़ाव-से थे डाले।
तप ने छाया का काम किया,
जिसने उनको विश्राम दिया।
रवि-चन्द्र वही थे उगे जगे,
कालक्रम से कुछ नये लगे।
पानी न लगा उनको श्रम से,
श्रम खला न मारुत के क्रम से।
वे ठहरे, ठौर पवित्र हुए,
गन्धर्व शत्रु फिर मित्र हुए।
ऊँचे उनके प्रारब्ध हुए,
ऋषि धौम्य पुरोहित लब्ध हुए।
नव नव अनुभव सज्ञान मिले,
अद्‌भुत उदार आख्यान मिले।
सुन मुनि वसिष्ठ की दया-क्षमा,
नयनाम्बु युधिष्ठिर का न थमा।

मुनि वर वसिष्ठ-सुत शक्ति सदय,
जाते थे वन-पथ से सहृदय।
मिल गया उन्हें अभिमुख आगत,
कल्माषपाद नृप मृगया रत।
वह पैर पटक कर आहट कर,
बोला—'बटु, पथ छोड़ो हटकर!'
उत्तर पाया—"मैं कष्ट करूँ,
क्या तुमको धर्मभ्रष्ट करूँ?
तुम भूप, किन्तु ब्राह्मण हूँ मैं,
तुम से पथ न लूँ, तुम्हें दूँ मैं,
तो विनय तुम्हारा हत होगा,

मेरा गौरव भी गत होगा।''
'मैं शासक हूँ,' ''यह जान लिया,
पर किसने यह पद तुम्हें दिया?
हम वेदविदों के ही तप ने,
तुम शासक किन्तु प्रथम अपने!
तुम मार्ग छोड़ छुड़वाते हो,
विधि स्वयं तोड़ तुड़वाते हो!
पर भूलो तुम निज धर्म भले,
मुझसे मेरा अधिकार पले।''
मद-मत्त नृपति तब तप्त हुआ,
कर कशाघात अभिशप्त हुआ।
''तूने यदि यही मार्ग खोजा,
तो जा, तू राक्षस ही हो जा!''
नृप ने नवीन उत्पात किया,
राक्षस हो मुनि का घात किया!
''ले तब यह राक्षसत्व मेरा,
हो तृप्त रक्त पीकर तेरा!''
यह करके भी क्या तुष्ट हुआ,
वह दुष्ट और भी रुष्ट हुआ।
शक्त्यनुज अशेष वशिष्ठ तनुज
खा गया मार कर मनुज-दनुज।

मुनि आत्मघात भी कर न सके,
सुत-शोक-दग्ध भी मर न सके।
जड़ न थे, चेतना थी उनमें,
भरपूर वेदना थी उनमें।
फिर भी उनमें प्रतिशोध न था,
होकर भी मानो बोध न था।
सम्मुख थी विधवा बहू सती,
मर सकी न वह भी गर्भवती।
अवशेष उसी में था कुल का,
ज्यों स्वाति शुक्ति-पुट में ढुलका!
राक्षस उसको भी सह न सका,

आक्रमण बिना वह रह न सका।
कँप उठी वधू घन-गर्जन सुन,
बोली वसिष्ठ से वह सिर धुन—
"हा तात! मुझे प्रिय प्राण नहीं,
पर अब निज कुल का त्राण नहीं।
निष्क्रिय तुम हाय! शक्ति रहते,
तपते हो और स्वयं बहते।
तुम करो एक हुंकार यहाँ,
तो इस राक्षस की छार कहाँ?
क्या कहूँ और, अनुरोध धरो,
क्षण शोक छोड़ कुछ क्रोध करो।"
"हा बहू, आज मैं क्रोध करूँ,
अथवा लज्जा से डूब मरूँ?—
मेरे महान मनु का मानव,
बन बैठा आज यातु-दानव!
मैं लूँ इससे प्रतिशोध स्वयं?
पर यह तो है हतबोध स्वयं!
मैं क्रोध करूँ वा दया करूँ?
पर पहले तेरा त्रास हरूँ।"
तब तक राक्षस आ गया निकट,
वर्धित जिसके नख-केश विकट।
खर दृष्टि और स्वर दुर्द्धर था,
परिणत पशुत्व में ज्यों नर था!
मुनि बोले—"हा हतभाग्य, ठहर।"
रुक गया वहीं वह हहर-थहर।
"मैं तुझे शाप क्या दूँ, वर ले,
अपने को फिर मनुष्य, कर ले।"
लेकर स्वकमंडलु से थोड़ा,
उस पर मुनीन्द्र ने जल छोड़ा।
जल पहुँचे, तब तक पाप धुले,
उस शाप-बद्ध के भाग्य खुले!
तब वह सोता-सा चौंक पड़ा,
निज स्वप्न सोच रह गया खड़ा।
फिर चिल्लाया—"मैं जला जला!"

वह मनोग्लानि से गला गला।
"हा देव! मुझे मारो मारो,
इस जीवनाग्नि से उद्धारो।
यह भूल गया तुम-सा बुध क्यों,
जो बीत चुका उसकी सुध क्यों?
यदि मुझ-सा अधम अनाचारी,
गुरुदेव-दया का अधिकारी,
तो जिऊँ भूल निज दानवता,
जो लजे न मेरी मानवता।
हे देव, मिले विस्मरण मुझे,
अन्यथा भला है मरण मुझे।"
रोकर पैरों पर भूप पड़ा,
मुनि भूल गये निज क्लेश कड़ा।
"हा तात, उठो धीरज धरके,
जीतो निज पाप पुण्य करके।
फँस कर जब बचे पंक से तुम,
उबरो अब निज कलंक से तुम?
यह जीवन क्या मरणार्थ मिला,
वा तारणार्थ तरणार्थ मिला!
आवे तब मृत्यु भले आवे,
क्यों अमृत-पुत्र मरने जावे?
तुम जियो और निज धर्म धरो,
सौ वर्षों तक शुभ कर्म करो!"
सुन सबके अश्रु लगे गिरने,
"आहा हा!" कहा युधिष्ठिर ने।

मुनि पौत्र पराशर ख्यात हुए,
नृप-दोष उन्हें जब ज्ञात हुए,
सहसा उनमें प्रतिशोध जगा,
दोषी उनको सब लोक लगा।
"वह ब्रह्म-तेज अब भी वैसा,
द्विज जामदग्न्य में था जैसा।
उन्मद न भले अंकुश माने,

पर कुश-बल पुनः जगत जानें।
दादाजी ऊँचे उठें, चढ़ें,
पर दण्ड न हो तो दोष बढ़ें।
उत्पन्न करें जो यों मद ही,
मिट जावें क्यों न राजपद ही?
मेरी जननी वैधव्य सहे,
तो फिर सधवा ही कौन रहे?''
बोली विधवा माँ बिलख अहो,—
''हा वत्स वत्स, ऐसा न कहो।
हम ऋषि-मुनि हैं, राजन्य नहीं,
हमको कोई जन अन्य नहीं।
जो गये, रहे वे आने से,
क्या हमें किसी के जाने से?
समझो समान सबको जी से,
पूछो दयालु दादाजी से।
तुम न हो किसी जन के तापक,
होना है तुम्हें व्यवस्थापक।
कोई क्यों मुझ-सा दुःख सहो,
सब सुखी रहो, सब सुखी रहो।''
कुन्ती बोली—''बस, और नहीं,
उमड़े जी में अब ठौर नहीं।
हो गयी पूर्ण वह कथा वहीं,
बिलमी निद्रा उस रात कहीं।''
ध्रुव धारण किये स्वधर्म-धुरी,
जा पहुँचे वे पांचालपुरी।
जो पुरी लोक-संकुलित घनी,
संक्षिप्त विश्व की मूर्ति बनी!
मिल गया एक घटकार सुघर,
ले गया उन्हें वह अपने घर।
वह घटक शकुन ही सिद्ध हुआ,
लो हुआ, लक्ष्य अब विद्ध हुआ!

सज गयी स्वयंवर राज-सभा,

नक्षत्रों की-सी जगी प्रभा।
उन सबके बीच विकास युता,
शशि कला सदृश थी द्रुपदसुता।
किंवा नृप-कुसुमों की क्यारी,
रखती विचित्रता थी न्यारी।
सबकी भौंरी-सी एक वही,
सबमें निज गुण से गूँज रही।
सबकी उसमें अभिलाषा थी,
पर मौन ससम्भ्रम भाषा थी।
नृपवर हताश रह जाते थे,
हावों में भाव जताते थे।
तब पुरुष-पक्ष पांचाली का,
(मैनाक बन्धु ज्यों काली का)
उठ बोला धृष्टद्युम्न बली,
थी गिरा घहरती घनावली—
"नीचे प्रतिबिम्ब निरख जल में
भेदे जो लक्ष्य नभःस्थल में,
वर वही द्रौपदी पावेगा,
शर सूक्ष्म छिद्र से जावेगा।
ले पाँच बाण वह वीर बढ़े,
जिससे पहले यह चाप चढ़े।"
सब चित्र लिखे-से सुनते थे,
सिर हिला हिला कर गुनते थे।
क्षण भर सन्नाटा-सा छाया,
सहसा किसमें साहस आया?
फिर एक साथ बहु वीर उठे,
होकर अधीर-से धीर उठे।
आस्फानल चारों ओर हुआ,
बहु भिन्न रवों का रोर हुआ।
सब नृप जब थे वर-पात्र बने,
हरि साक्षी द्रष्टा मात्र बने।
जो चाप चढ़ाने गया प्रथम,
वह चतुर देख निष्फल निज श्रम,
सहसा बन गया निपट भोला,

माथे का स्वेद पोंछ बोला—
"धन्वा में यन्त्र-भेद कुछ है,
लज्जा क्या, मुझे खेद कुछ है।
बल नहीं, यहाँ कुछ कौशल है।"
"हाँ निश्चय ही कोई छल है।"
यह कहा अन्य निष्फल जन ने,
पर सुना न उसके ही मन ने।
कितनों ने केवल 'अहा' कहा,
कोई नत मस्तक मौन रहा।
बल किया एक ने, धनुष झुका,
पर वह दबाव सह कर न रुका।
दे उसने ऊपर को झटका,
धरने वाले को धर पटका।
जो कहा दर्शकों ने हँस कर,
गिरते ने वही क़हा फँस कर।
रव हास्य-रुदन का एक 'हहा',
कहने से अर्थ-विभेद रहा।
तब तुच्छ समझ सबको रज-सा,
उठ गर्वित कर्ण चला गज-सा।
जब तक न लक्ष्य उसने साधा,
दी स्वयं वधू ने ही बाधा।
"मैं वरूँ भले भिक्षुक वर को,
वर नहीं सकूँगी इस नर को।
मैं राज-सुता, यह सूत-तनय,
क्या नीति करेगी आप अनय?"
रख दिया कर्ण ने धनुष वहीं,
"सचमुच तू मेरे योग्य नहीं।
तू मन से भी अबला नारी,
जा भिक्षुक वटु पर ही वारी।"
गर्वित ही गया कर्ण दानी,
उपहास्य हुआ क्या वह मानी?
इसके पीछे आश्चर्य बड़ा,
द्विजवटु ही आता दीख पड़ा।
वह भिक्षुक, दाता से बढ़कर,

झुक गया चाप उससे चढ़कर।
सब सभा देख कर चकित हुई,
स्थिरदृष्टि द्रौपदी थकित हुई।
स्मर के-से वे शर पाँच लगे,
जन तपे क्यों न जब आँच लगे!
धन्वी सुमन्त्र-सा घूम फिरा,
वह चुप, सब बोले 'लक्ष्य गिरा'
झषलक्ष्य गिरा, झष-केतु उठा,
पर क्या वर के ही हेतु उठा।
रह गये सभी आँखें खोले,
हँस हेर हली से हरि बोले—
"भैया, क्या अब भी संशय है,
यह विजयी स्वयं धनंजय है।"
"तब दुगुना हर्ष" हली बोले—
"पर कुरुकुल सावधान हो ले।"
जय माला कृष्णा ने डाली,
उठ मिली पार्थ को पुलकाली!
मानो दो भुज गल-हार हुए,
फिर भी क्या वे स्वीकार हुए?
हँस वार वीर ने हीरे-से,
झुक कहा वधू से धीरे-से!
"मैं हूँ निज धर्मदेव-सेवी,
तुम मिलीं मुझे मेरीं देवी।
पर ठहरो यह जन-रव कैसा,
लगता है कुछ आहव ऐसा।"
वे ही थे सबके लक्ष हुए,
ब्राह्मण-बाहुज दो पक्ष हुए।
विप्रों ने निज महत्व माना,
अपमान क्षत्रियों ने जाना।
ध्वज तुल्य द्विजों के पट फहरे,
क्षत्रिय सरोष घन से घहरे।
"द्विज भी यदि करे शस्त्र धारण,
तो वह भी सहे मरण-मारण।"
दृग चौंक धनंजय के चमके,

भुज ठोक भीम तड़के तमके।
"सन्नद्ध सदा हम भय-भेदी,
ब्राह्मण क्यों नहीं धनुर्वेदी।
भृगुराम, द्रोण हैं, हम भी हैं,
रखते शम-दम विक्रम भी हैं।
तुम 'कौन कौन' हो क्या कहते,
सुर भी इस भू पर हैं रहते।
है इष्ट सहज ही शान्ति हमें,
पर कठिन न समझो क्रान्ति हमें।
आक्रान्ता नहीं प्रकृति से हम,
सबके शुभेच्छु धी-धृति से हम।
पर यदि कोई आक्रमण करे,
तो हमें दोष क्या, लड़े-मरे।"
हरि सहित बीच में लोग पड़े,
फिर जयी हुए वे बिना लड़े।
शिशुपाल कर्ण मगधेश बली,
सब रुके किसी की कुछ न चली।
बहुतों को पहले ही भय था,
अज्ञात शक्ति से संशय था।
जय-दृष्टि धनंजय ने फेरी,
प्रत्यक्ष विजय-लक्ष्मी हेरी।
"मैं पार्थ" कही झुक मृदु वाणी,
"तुम डरी तो नहीं कल्याणी?"
गद्गद कृष्णा कुछ कह न सकी,
हिल गयी मात्र ग्रीवा उसकी।
वह और समीप खिसक आयी,
पातिव्रत पर प्रियता छाई।
दीखा सर्वत्र सुहाग भरा,
अम्बर तक था अनुराग भरा।
ध्रुव तारक दुगुना चमक उठा,
सन्ध्या का माथा दमक उठा।
"क्या लाभ यहाँ की हलचल से,
हम बचें क्यों न इस कल कल से?"
"प्रस्तुत ही प्रभो, मुझे जानो,

अनुचरी, सहचरी जो मानो।''
गज-गमन सिखाती सी वर को,
चल पड़ी वधू उसके घर को।
वर मार्ग दिखाता था आगे,
भय-विघ्न प्रथम ही थे भागे।

बढ़ धर्मराज ने कहा प्रथम,
''माँ देखो, क्या कुछ लाये हम।''
''सब मिला मुझे, जो तुम आये,
पाँचों मिल भोगो, जो लाये।''
''माँ,'' कहा भीम ने ''हरे, हरे,
यह तुमने क्या कह दिया अरे।''
सिर उठा उठी माँ घबराई,
त्यों ही समक्ष कृष्णा आयी।
''माँ, यह कृष्णा,'' कह पार्थ रुके,
लेने उनकी पद धूलि झुके।
कृष्णा भी झुकी यथा छाया,
माँ सन्न रही यह क्या माया।
बल करके सँभल उसी पल में,
भर कृष्णा को अंकस्थल में,
वात्सल्य दुग्ध भर अंचल में,
वह बह-सी चली नयन जल में।
''आ गयी राजलक्ष्मी मेरी।''
''आयें, परन्तु बन कर चेरी।''
कृष्णा विनम्र हो मुसकाई,
इतने में एक गिरा आयी।
''बच निकले जो दुर्योधन से,
वे धरे गये निज हरिजन से!''
''आहा! यह मेरा माधव है,
सौभाग्य निरन्तर नव नव है।''
फिर फिर कुन्ती के चक्षु चुए,
तब तक आ हरि ने चरण छुए।
हँस मिले यथाविधि वे सबसे,

बोले—"सचिन्त था मैं कब से?"
"शुभचिन्तकता तव तात वही,
हम सबकी संरक्षिका रही।
तब तो यह सुख का सिन्धु मिला,
मेरी गोदी में इन्दु खिला।
पर नयी समस्या भी सुन लो,
सब उसका समाधान गुन लो।
'माँ, देखो हमने क्या पाया,'
कहता अजातरिपु था आया।
निकला सहसा मेरे मुख से,
जो पाया, मिल भोगो सुख से।
'हा' कहा भीम ने उसको सुन,
तब आया वधू सहित अर्जुन।
शंकित है मनःप्राण मेरा,
क्यों कर हो परित्राण मेरा।"

पीली-सी पड़ी वधू विकला,
तनु रक्त धर्म बन बह निकला।
वह सँभल गयी गिरती गिरती,
तब भी अथाह में थी तिरती।
बोले "धर्मात्मज धृतिशाली,
वर पार्थ वधू है पांचाली।
दो वरज्येष्ठ का पद पावें,
दो देवरत्व पर बलि जावें।
भोगें यों पाँचों सुख इसका,
ताकें सदैव शुभ मुख इसका।"
सुन धर्म-वचन हरि मुसकाये,
तब अर्जुन यों आगे आये।
"मैं कृष्णा को लाया भर हूँ,
परिवेत्ता नहीं सुदेवर हूँ।
अब शेष आर्य शासन लाना,"
"पर क्या वह मुझे अलग पाना।
लूँगा क्या राज्य अकेला मैं,

मिल कर ही खाया-खेला मैं।''
रुक गये युधिष्ठिर यह कह कर,
विधि बोल रहा था रह रह कर।
हरि बोले—''मेरी भली बुआ,
जो हो सकता था वही हुआ।
पूछेंगे हम द्वैपायन से,
उन सब ज्ञानों के गायन से।
तुमसे भी व्यग्र द्रुपद का मन,
अब चलो चलें हम राजभवन।
मैं कह आया उनसे जैसा,
वे देखें, वह यथार्थ वैसा।
कृष्णे, मेरे मुनि के होते,
क्यों प्राण बहिन, तेरे रोते।
फिर कहे न कोई कुविचारी,
तू मन से भी अबला नारी।''
''क्या करना होगा तात, मुझे?
बतला दो सीधी बात मुझे।
यह खिसक रहा भूतल मेरा,
आदेश तुम्हारा बल मेरा।''
''आदेश व्यासजी ही देंगे,
हम सब सहर्ष उसको लेंगे।
सम्मान उचित उनकी धृति का,
मैं भावुक हूँ जिनकी कृति का।''
''भावुक वा स्वयं भाव उनके?''
हँस पड़े जनार्दन यह सुनके।
''हो चाहे पंच-पुरुष-भार्या,
तू आर्याओं की भी आर्या।''

इन्द्रप्रस्थ

"जिनका अशौच हम लोग थे मना चुके,
और प्रजा संग राज-शोक थे जना चुके,
प्रकट हुए वे अकस्मात निज प्रेत-से!
पापी बच निकले हैं जलते निकेत से।
शेष थी कपाल-क्रिया होनी अभी उनकी!
उसके बिना क्या गति होगी कभी उनकी?"
दाँत पीस दुर्योधन डोल उठा कक्ष में;
"किंवा स्वयं दैव है क्या पाण्डवों के पक्ष में।
तो क्या नर-यत्न व्यर्थ, भाग्य ही प्रधान है?
कर्ण, निज पौरुष का यह अपमान है।"
कर्ण बोला—"पौरुष प्रकट ही हुआ कहाँ?
कौशल ही काम नहीं देता है जहाँ-तहाँ।
छोड़कर आश्रय अनावश्यक बल का,
देखा जाय क्यों न परिणाम सीधे बल का?
वीर की ही वसुधा है, वीरव्रत पालें हम,
हाथ हैं तो कर्म की भी रेख मिटा डालें हम।
भाल पीटने से भाल-लेख नहीं मिटता,
दुर्बल ही दैव के प्रहार से है पिटता।
पाण्डवों से दण्ड लिया जाय इसी बात का,
छिप क्यों उन्होंने हमें दोषी किया घात का।
उनसे निपटने को इतना ही थोड़ा क्या,
सन्धि ही सुलभ नहीं, विग्रह का तोड़ा क्या?"
हँस के शकुनि बोला—"युद्ध अभी टाल दो,
द्रौपदी को लेकर लड़ें वे भेद डाल दो।
सुन्द उपसुन्द सम पाँचों वे लड़ें मरें,

देखें हम तट से, भवाब्धि जैसे वे तरें।"
"किन्तु उन भाइयों में भेद कौन डालेगा,
संग किस पाण्डव का द्रौपदी को सालेगा?
जब वह पाँच पति मान चुकी एक वार,
तब इस लाभ को क्या छोड़ेगी किसी प्रकार?
उनकी अभेदता उसी में तो खुली खिली,
भाग्य से ही वे उसे मिले, वह उन्हें मिली।
व्यर्थ यह चेष्टा, व्यर्थ इसका स्मरण भी,
जीवन भी एक और उनका मरण भी।
जितना विलम्ब होगा साधना में लक्ष्य की,
होगी उतनी ही बल-वृद्धि उस पक्ष की।"
दुःशासन बोला—"वे बचे सो बचे आँच से,
दग्ध हुआ एक सदाचार उन पाँच से।
पाँच वर एक वधू कैसी कृतकार्यता!
इससे अधिक और होगी क्या अनार्यता?"
उसने बनाया मुँह मानो सना कीच में,
उसके विरुद्ध यों विकर्ण बोला बीच में—
"मानी गयी माँ की वह आज्ञा अनजानी भी,
और व्यवस्थापक थे व्यास ऐसे ज्ञानी भी।
कहते हैं, पाँच वार वर था महेश का,
और अनुमोदन था आप हृषीकेश का।
पाण्डवों के मन में ग्लानि नहीं होती है,
तो मैं मानता हूँ, धर्म-हानि नहीं होती है।
क्या व्रत नियम में ही धर्म नहीं पलता,
और अपवाद तो है सब कहीं चलता।
पाँच तत्व से वे एक, आत्मा वह उनकी,
यों वे मानते थे क्या न उसको अर्जुन की।
व्यक्तिगत रूप में रहें वे निज विधि से,
मर्यादा स्वयं ही तो बँधी है नीरनिधि से।"
दुःशासन बोल उठा उग्र उष्ण भाव से—
"लोग बल पाते हैं बड़ों के बरताव से।"
"भैया वे बड़े हैं जिन सद्गुणों को जोड़ के,
लोग बल पायँगे इसी में इन्हें छोड़ के।
तो वे जिस राज्य के हों, सारा दोष उसका,

रिक्त जन-शिक्षा के लिए है कोष उसका।
गारुड़िक-सा जो साँप धरने को धावेगा,
अपने ही आप वह मरने को जावेगा।
विष को भी अमृत भिषग्वर बनाते हैं,
अज्ञ अनुकारी निज मृत्यु ही जनाते हैं।
द्रौपदी से तुलना क्या साधारण नारी की,
जननी है यज्ञवेदी जिस सुकुमारी की।
बान है युधिष्ठिर की जो कुछ भी लेंगे वे,
उसमें समान भाग भाइयों को देंगे वे।
जो हो, पुरुषों में प्रेम-वैर सब ठीक है,
स्त्री तो हम सबकी समान लज्जा-लीक है।"
दुर्योधन बोला—"यह आपस का युद्ध है,
मत क्या विकर्ण, तेरा कर्ण के विरुद्ध है?"
"दीजिए न आर्य, कोई आज्ञा मुझे चुन के,
मैं सौभातृ से ही तो प्रभावित हूँ उनके।"
"मानता हूँ, मन से तू मेरा अनुगत है,
तो अब वही हो अंगराज का जो मत है।"

देता रहा मोह जिन्हें अन्त तक यन्त्रणा,
अन्धनृप को भी जँची कर्ण की कुमन्त्रणा।
किन्तु भीष्म-द्रोण का समर्थन भी इष्ट था,
उनसे न पूछना तो पूछने से क्लिष्ट था।
भीष्म बोले—"मेरे प्रिय दोनों पक्ष एक-से,
दोनों का भला है आज एक के विवेक से।
सर्वनाश रोकने को यों भी अर्द्ध त्याज्य है,
स्वत्व से भी दोनों का समान यह राज्य है।"
द्रोण बोले—"तुमने तो मेरी बात कह दी,
दुर्योधन, वत्स, कही मानों पितामह की।
ये गुरु-जनों के भी तुम्हारे गुरुजन हैं,
इस घर के ही नहीं, धरती के धन हैं।"
"वस्तुतः" विदुर बोले—"दुर्योधन, सुन लो,
अर्द्ध जो नहीं तो सर्व, दो में एक चुन लो।
दर्प रहने दो, नय-विनय न छोड़ो तुम,

दौड़े मन उचित दिशा में, उसे मोड़ो तुम।
कर्णों से सुनो भी किन्तु नेत्रों से निहारो तुम,
हार के भी जीतो, कभी जीत के न हारो तुम।
झूठे तर्क त्याग सच्ची श्रद्धा से विचारो तुम,
डूबने चला है कुल, तात, उसे तारो तुम।
सारा देश दग्ध होगा इस गृह-दाह में,
कौन ठहरेगा सार-धारा के प्रवाह में?
वे आदर्श, वे संस्कार, हा! वह परम्परा,
खोकर मिली भी तो रहेगी धूल ही धरा!
भोगोगे तुम्हीं तो, रहे राज्य युधिष्ठिर का,
भार ही बढ़ेगा उस भावुक के सिर का।
होता कुल-धर्म यदि बाधक उसे नहीं,
पाते सिद्ध रूप में ही साधक उसे कहीं।
होता है कभी ही कहीं ऐसा कृती लोक में,
नर वह दुर्लभ है अमरों के ओक में।
उसकी दया को भले दुर्बलता कह लो,
उसके समान एक बार भी तो रह लो।
बार बार द्वेष कर देखा तुमने जहाँ,
एक बार प्रेम करके भी देख लो वहाँ।
भाइयों से मिलने को कौन तुम्हें रोकेगा?
जाने से सुमार्ग में किसी को कौन टोकेगा?
पौत्र हो उन्हीं के तुम, आता है कलपना,
त्याग दिया आप ही जिन्होंने राज्य अपना।
राजा भावि वैमात्रेय बन्धु को बना दिया,
औरस विवाद से विवाह भी नहीं किया।
भाग्य से वे हममें विराजमान अब भी,
उनकी कृपा से ही हुए हैं हम सब भी।
श्रुत नहीं, साक्ष्य युत उनका जो त्याग है,
सोचो यह स्वार्थ क्या तुम्हारा दाय भाग है?
लाओ निज तात का ही त्याग टुक लक्ष में,
सौंपा था जिन्होंने राज्य योग्य भ्रातृ पक्ष में।
क्या पिता की भूल मान तुम यों सुधारोगे?
जान रक्खो, दुष्कृत से जीत के भी हारोगे।
प्रज्ञाचक्षु पृथ्वीनाथ, आप भी विचारिये,

ऐसी कुल-रीति पर क्या कुछ न वारिये?
किन्तु यहाँ खोना नहीं, सब कुछ पाना है,
अब भी अनीति हो तो फिर क्या ठिकाना है?
भाग्य है जो पाण्डु-सुत जीते हैं भले भले,
लोग कहते थे—'वे हमारे छल से जले।'
और जो उन्होंने द्रौपदी-सी बहू पाई है,
सोचिए तो, इसमें भी अपनी बड़ाई है।
उनको बुला के अर्द्ध राज्य अभी दीजिए,
और सर्वनाश से सभी को बचा लीजिए।
न्याय निरतों को कभी निर्बल न जानिए,
पार्थ को नहीं तो कृष्ण को तो पहचानिए।"
बोले धृतराष्ट्र—"बात ठीक है विदुर की,
व्यक्त करूँ कैसे भावना मैं इस उर की?
आधा राज्य लेके पाँच पाण्डव सुखी रहें,
आधा रहे सौ के लिए, मेरे मान्य जो कहें।
जाओ, तुम्हीं लाओ उन्हें देकर उलहना,
'तुम घर छोड़ कहाँ घूमा किये?' कहना।
'तुमने पुरोचन को जीता भी जलाया हो,
तो भी क्यों न तुम पर मेरी क्षमा छाया हो?'
आगे कुछ कहना वा सुनना नहीं मुझे,
आपस की आग जलने से पहले बुझे।
दुर्योधन तुल्य मुझे पाण्डव भी प्यारे हैं,
किन्तु भाई भाई कहाँ होते नहीं न्यारे हैं?"
विहँसे विदुर भीष्म ओर देख भेद से,
लाये वही पाण्डवों को जाकर अखेद से।

इन्द्रप्रस्थ राजधानी निर्मित हुई नयी,
खाण्डव की भीषणता भस्म हो कहाँ गयी।
वन वह हिंस्र, नाग, दस्युओं का वास था,
पाण्डव कृपा से वहाँ पौरों का विलास था।
रात रहती थी जहाँ घात भरे दिन में,
परिणत दीखा वह नन्दन विपिन में।
तृप्त हुए अग्नि देव, नर बन आये वे,

दिव्य पुरस्कार रथ और चाप लाये वे!
पूरा प्यार पार्थ पर अपना जना गये,
आप-सा उन्हें भी वे 'धनंजय' बना गये!
प्राण भिक्षा दी थी जिसे धीर धनंजय ने,
एक ऐसा धाम रचा शिल्पि वर मय ने,
आ न सका वैजयन्त तुलना में जिसकी,
ऊँचा ही टँगा रहा, कथा क्या और किसकी?

वनवास

धर्मराज पति हुए, फली-फूली मही,
वर्षा पर ही उपज न अवलम्बित रही,
मणि खनियों ने, लाल जननियों ने जने,
भर भर जन भाण्डार बड़े छोटे बने!

रहे एक के साथ द्रौपदी जब जहाँ,
जाय अवधि भर तब न अन्य भ्राता वहाँ।
जावे तो वनवास वर्ष बारह सहे,
नृप नियमित तो प्रजा क्यों न नियमित रहे?
स्तैन्य दैन्यगत नहीं, व्यसन भी घोर है,
पकड़ा जाता किन्तु अन्त में चोर है।
धरा गया भी गया न वह तस्कर धरा,
जिसने गोधन एक विप्रजन का हरा।
द्विज ने सीधे पार्थ-समीप पुकार की,
आशा थी तत्काल वहाँ उद्धार की।
सुन आतुर हो पार्थ शस्त्र लेने चले,
पुरुषार्थी भी गये दैव से वे छले!
रक्खे थे युग धनुर्बाण उनके वहाँ,
धर्मराज युत आज द्रौपदी थी जहाँ।
फिर भी जाते हुए वहाँ क्या वे रुके,
देख अजिर में धर्मराज को झट झुके।
कहें युधिष्ठिर उन्हें देख जब तक 'अये!'
धनुर्बाण ले लौट वहाँ से वे गये।
करके गो-द्विज कार्य सहज ही जब फिरे,

उन्हें देख स्वजनाश्रु ये गिरे वे गिरे।
डाल घटा पर छटा धूप-सी हास की,
अर्जुन ने जब कही बात वनवास की।
हुए युधिष्ठिर विकल—"जाय यह आपदा,
मेरे द्वारा स्वयं क्षम्य हो तुम सदा।
दोषी मेरे निकट तनिक भी तुम नहीं।"
"पर अपने ही निकट न होऊँ मैं कहीं।"
यह कह कर सिर झुका दिया नर-वीर ने—
"स्वयं आपसे सुना"—कहा फिर धीर ने—
"देंगे जन दृष्टान्त हमारा कर्म में;
चल न पड़े छल-कपट हमीं से धर्म में।"
अर्जुन विचलित हुए न उस व्रत-पर्व से,
गर्वित भी जन व्यग्र बने इस गर्व से।
कृती राजकुल स्वकर्तव्य था पालता,
पर अर्जुन का सोच शत्रु-सा सालता।
हुई प्रजा की वृद्धि बुद्धि-बल-वित्त में,
रक्षक-चिन्ता रही उसे भी चित्त में।

किसे न दुःखद स्वगृह-वास-वर्जन हुआ?
पर अर्जुन को संग संग अर्जन हुआ।
कितने अनुभव और नये परिचय हुए,
प्रणय पूर्ण सम्बन्ध सहज सुखमय हुए।
हुई बोधनिधि-वृद्धि नाम-गुण-रूप की,
मरु-यात्रा भी रही रसाई अनूप-सी।
सिन्धु विपुल वा भूमि, उन्हें संशय हुआ,
जा दोनों ने दूर छोर नभ का छुआ!
लगीं कुतूहलमयी उन्हें वन-रीतियाँ,
पर वे विस्मित हुए देख दृढ़ नीतियाँ।
वन की पुर की रहें विभिन्न प्रतीतियाँ,
पर दोनों में पलीं एक-सी प्रीतियाँ।
मिले प्रकट-से पूर्ण प्रकृति-दर्शन उन्हें,
उपवन लघु ही लगे देख कर वन उन्हें।
फिर भी वे यह सत्य भूलते क्यों भला—

सहज सृष्टि-संस्कार कारिणी है कला।
ठौर ठौर पर उन्हें अतीत-स्मृति हुई,
पूर्वजनों की जहाँ कीर्तिकर कृति हुई।
गत-चिह्नों ने दिये चरित चुन चुन उन्हें,
रूप-कल्पना हुई नाम-गुण सुन उन्हें।
तीन दिशाओं में पयोधि परिखा बने,
उत्तर में हिम-दुर्ग, शिखर जिसके तने!
बहु वेशों में एक देश दर्शित हुआ,
सबमें एक निजत्व उन्हें स्पर्शित हुआ।
मोती का तो सजल ऊपरी भाग भर,
पर थे सरस समूल प्रफुल्ल तड़ाग-सर।
बने विभिन्न प्रवाह भूमि के हार थे,
निर्मल निर्झर मधुर अद्रि-उद्गार थे।
कन्द-मूल-फल रुचे स्नेह मय भाव से,
व्यंजन भूले उन्हें ग्रहण कर चाव से।
मिला जनों को अभय, उन्हें जय जय मिला,
सचमुच शब्दातीत अर्थ संचय मिला।
तीर्थ मनुज के महत् कर्म के क्षेत्र हैं,
सफल इसी से उन्हें देख नर-नेत्र हैं।
अर्जुन उनका योग छोड़ते क्यों भला?
तन का मन का पुलक जहाँ बह-सा चला!
लाभ हुआ सर्वत्र उन्हें सम्मान का,
भरा उन्होंने पात्र मिला जो दान का।
प्रश्न उलूपी नागसुता का था कड़ा,
उसको भी ऋतु-दान उन्हें देना पड़ा!
मणिपुर की थी राजसुता चित्रांगदा,
भूप उसी को पुत्र मानता था सदा।
पहुँच पार्थ ने वहाँ प्रणय-परिणय किया,
उसका फल दौहित्र देशपति को दिया।

सबके पीछे गये धनंजय द्वारका,
जो भवाब्धि की तीर तरी जन तारका।
हरि-दर्शन कर सफल उन्होंने व्रत किया,

फिर प्रसाद-सा प्रेम भर आदर लिया।
उनको लेकर वहाँ महायोजन हुआ,
नृत्य-गान-उद्यान-पान-भोजन हुआ।
सब दुगुनी-सी छान विचरते-घूमते,
बैठे भी वृन्तस्थ पुष्प-से झूमते!
वन-विहार के लिए गृहिणियाँ भी गयीं,
बहु कुमारियाँ सजी-बजी धज धर नयी।
उनमें हरि की बहन सुभद्रा की छटा
बनी पार्थ के मन-मयूर की रस-घटा।
उन्हें जड़ित-सा देख अलग हरि ने कहा—
"कृती, कौन-सा कर्म यहाँ यह हो रहा?"
"हरे, हाय अति गहन कर्म गति, क्या कहूँ?
अपना प्रेरक सदा तुम्हें समझे रहूँ।
रस-विष जो हो, उसे तुम्हीं ने है भरा,
मिट्टी का घट मात्र तुम्हारा मैं खरा!"
"सचमुच दुर्लभ बहन सुभद्रा-सी भली,
जाय न भोली कहीं स्वयंवर में छली।
मूर्तिमती यह प्रकट सरलता सुन्दरी,
मैं जिस गुण से रिक्त, उसी से यह भरी!"
सुन अर्जुन हँस पड़े कृष्ण के संग ही,
बोले रुककर तनिक पुनः श्रीरंग ही।
"यही उचित है वीर तुम्हीं वर लो इसे,
यह पर घर के अर्थ, क्यों न हर लो इसे?"
"हर लूँ?" सहसा चौंक पड़े अर्जुन बली,
"रहें दूसरे, इसे सहेंगे क्या हली?"
"अर्जुन, क्या यह कार्य तुम्हारा चौर्य है?
मेरे मत में चरम साहसी शौर्य है।"
"धर्मराज से—" "पूछ लिया मैंने कभी,
तुमको मेरे हाथ सौंप बैठे सभी।"
"भारत जन के तुम्हीं नियोजक हे हरे!"
अर्जुन नत हो गये भाल पर कर धरे!
यथा समय फिर वहाँ सुभद्रा हृत हुई,
वन से ही वह चकित मृगी-सी धृत हुई!
दी अर्जुन ने स्वयं सुरथ को गति नयी,

सभय सुन्दरी लिपट उन्हीं से रह गयी।
निकला मुख से यही "अहो, यों मत लड़ो,
मुझको लेकर स्वयं न संकट में पड़ो।"
समाचार सुन लगी पुरी में आग-सी,
सुभट-दृगों में उठी मृत्यु ही जाग-सी।
"आओ, धाओ, धरो, न भागे खल कहीं,
पर यह क्या, श्रीकृष्ण बोलते क्यों नहीं?"
"मैं क्या बोलूँ, अन्ध-बधिर सब क्रोध से,
सोचो-समझो बात, विचारो बोध से।
अर्जुन-सा वर कहाँ सुभद्रा के लिए?
वह सनाथ, क्या अब अनाथ होकर जिये।
नहीं एक ही पक्ष कदापि यथार्थ का,
साहस भी तो तनिक सराहो पार्थ का।
बहुमत वाले देख हमें वह डर गया,
बलपूर्वक यह कार्य वीर ज्यों कर गया।
मानी भी स्त्री-रत्न माँगते हैं अहो!
किन्तु याचना कहीं विफल हो तो कहो?
उसका धरना सहज नहीं, यह जान लो,
लौटा कर तुम उसे उसी से मान लो।"
सुन कर हरि के वचन हुए सब सन्न ज्यों,
अर्जुन का उद्वाह हुआ सम्पन्न यों।
उनका विनय विलोक दोष भूले सभी,
पाकर मन में तोष रोष भूले सभी।
"जीता तुमने क्रोध, काम मैंने कहाँ?
दाता ही तुम रहे, गृहीता मैं जहाँ!
जब आज्ञा हो, आर्य-चरण-दर्शन करूँ,
जाकर इन्द्रप्रस्थ सोच सबका हरूँ।"
सुनकर उनसे कहा हली ने प्रेम से—
"कैसे रोकूँ, रहो कहीं भी क्षेम से।
सबसे मेरा यथायोग्य कहना वहाँ,
शुभचिन्तक हम सभी तुम्हारे हैं यहाँ।"
मिलना ही आनन्द, बिछुड़ना खेद है,
पुनर्मिलन ही इष्ट जहाँ विच्छेद है।
नयी वधू ले पार्थ घूम घर आ गये,

मूर्तिमन्त-सा पुलक वहाँ सब पा गये।
मिल भेंटे जन यथा रीति छोटे-बड़े,
कृष्णा के दो बोल उन्हें सुनने पड़े—
"वन का व्रत ही धन्य, जहाँ मणिपुर मिले!"
नूपुर करें पुकार, क्यों न उड़ उर मिले!
पर जब उसके चरण सुभद्रा ने छुए,
तब उदार आत्मीय भाव ही स्फुट हुए।
"तू तो मेरी बहन, नागमणि है कहाँ?"
"आर्ये चिरकिंकरी मात्र मैं हूँ यहाँ।"
गोप सुता-सी सजी मयूर दुकूल में,
प्रणत संकुचित देख पुनः पद मूल में।
परम नागरी द्रुपद-सुता ने प्रीति से,
उसे अंक में भरा, कहा—"रह रीति से।"

राजसूय

मयकृत भवन यथा जगती के भवनों में था श्रेष्ठ,
तथा जनों में धर्मराज थे श्रेष्ठ पाण्डवज्येष्ठ।
राजसूय ही हो सकता था इसका प्रकट प्रमाण,
राजरत्न के लिए यही मख था मानों खर शाण।
किया स्वयं नारद ने उनको प्रेरित इसके अर्थ,—
"यही उचित आशा रखते हैं तुमसे पितर समर्थ।"
शान्तिप्रिय नृप हुए विवश-से सुन मुनिवर की बात,
गये कृष्ण के शरण—"तुम्हीं हो मेरे तारक तात!"
हरि बोले—"पार्थिव महत्त्व का यह मख मुख्य प्रतीक।"
"पर बलपूर्वक निज महत्त्व क्या मनवाना है ठीक?"
माधव मुसकाकर फिर बोले—"यह विचार है व्यर्थ,
स्वयं श्रेष्ठ को चुन लेने में लोक आज असमर्थ।
आसपास के स्वार्थों तक ही लोगों के व्यापार।"
"स्वाभिमान रख सकने का क्या उन्हें नहीं अधिकार?"
"किन्तु बड़े को बड़ा न कहना है अविनय औद्धत्य,
और मुकरना है यह उससे जो है निश्चित सत्य।"
"किन्तु परीक्षा-बिना सत्य भी मानें क्यों सब लोग?
रक्तपात का ही मुझको तो दीख रहा यह योग!"
हरि हँस पड़े—"तुम्हारी करुणा छिप न सकी इस वार,
बनती है उर्वरा किन्तु यह उर्वी इसी प्रकार।
चक्रवर्ति-पद-भार तुम्हीं को देख रहा है आर्य!
थोड़े से थोड़े में भरसक कर लूँगा मैं कार्य।
सबके पहले मगधराज वह जरासन्ध ही जेय,
उसी एक को जीत बनेंगे हम सौ के श्रद्धेय।
सौ भूपों की वलि देने का है उसका संकल्प,

वह संख्या पूरी होने में शेष आज भी अल्प।
बलि-पशु-से निराश बहु नृप हैं उसके कारारुद्ध,
मैं भीमार्जुन तीनों उससे माँगें क्यों न नियुद्ध।
सौ का घातक एक मरे तो वह क्या थोड़ा श्रेय?
घाते में ही प्राप्त समझिए, है इसमें जो प्रेय।
मारा उसे न मैंने पहले, बना भले रणछोड़;
पुण्य-लाभ अब होगा निश्चय पूर्ण पाप-घट फोड़।''
''किन्तु जूझने उस उद्भट से भेज तुम्हें इस भाँति,
तुम्हीं कहो, प्रकृतिस्थ रहूँगा मैं घर में किस भाँति?''
भीम बीच में बोल उठे—''क्या यही यज्ञ का अन्त?
तब क्या कभी नहीं जूझेगा जन्म हमारा हन्त?
निर्भय हो स्वीकार कीजिए अच्युत का प्रस्ताव,
बने कर्म-बाधक न आपका अतिस्नेह का भाव।
तात, गोद में ही क्या मुझको रखिएगा चिरकाल?
किन्तु खिलौना है अब मेरा जरासन्ध का भाल!''
सब हँस पड़े, प्रेम से उनसे बोले तब श्रीरंग—
''उसने द्वन्द्व किया यदि मेरे वा अर्जुन के संग?''
''तो मैं समझूँगा, डर भागा मुझसे वह दुःशील,
बड़ा देखकर तुम दोनों से मेरा अनडिग डील!''
फिर सब हँसने लगे।

किन्तु था जरासन्ध निर्भीक,
मल्लयुद्ध के योग्य उन्हीं को समझा उसने ठीक।
वक-हिडिम्ब से भी विशेष वह निकला प्रबल प्रचण्ड,
फिर भी बने भीम के दो भुज मानो दो यमदण्ड।
''पा न सकेगी जरा सन्धि अब जा सीधे परलोक,
मेरे योग्य सुभट था तू ही, रहा मुझे यह शोक।''
कहते कहते भीमसेन ने किया उसे निष्प्राण,
अनुगत हुए बद्ध नृप उनके पाकर उनसे त्राण।
खुले दिग्विजय के चारों पथ धर्मराज के हेतु,
चारों ओर चार अनुजों ने फहराये निज-केतु।
गये न सिन्धु हिमालय तक ही, करके जल-थल पार,
लाये वे विभिन्न द्वीपों से विजयोचित उपहार।

जीत शत्रुओं को मित्रों-सा दिया उन्होंने मान,
अपना भाग्य बखाना सबका साहस-शौर्य बखान।
राजसूय में धर्मराज यों सबको लगे विनीत,
हारे-से वे बरत रहे थे जगती भर को जीत।
चतुर्वर्ण क्या, आये मख में मित्र तुल्य ही म्लेच्छ,
स्वागत पूर्वक पाया सबने उच्चातिथ्य यथेच्छ।
अतिथि मात्र सब देव रूप थे, जो हों आर्य-अनार्य,
द्रोण-भीष्म की देख रेख में सिद्ध हुए सब कार्य।
भिक्षु-याचकों से लेकर सब आगत अगणित लोग,
जब तक खा पी न लें नित्य ही छककर छप्पन भोग;
तब तक स्वयं न खाकर कुछ भी, करती हुई प्रबन्ध,
लेती रही विवश-सी होकर कृष्णा केवल गन्ध!
दुर्योधन को धर्मराज ने सौंपा इतना भार,
लेकर योग्य सहाय सहेजे वह आगत उपहार।
एक स्वर्ण के अगणित भूषण आकर्षक अभिराम,
मणि-रत्नों की आभाओं से उद्भासित था धाम।
शस्त्र-वस्त्र नव गन्ध-द्रव्य बहु, चित्र-मूर्तियाँ-लेख,
हुए चमत्कृत लोग अकल्पित पशु-पक्षी ही देख!
लुब्ध हुआ ईर्ष्यालु सुयोधन देख द्रव्यमय दृश्य,
पुंजीभूत विभावसु मानो बना वहाँ सुस्पृश्य।
धर्मराज का भुक्ति शेष-सा लगा उसे निज भोज्य,
जँचा आप ही अपने में वह उनका एक नियोज्य!

"पूज्य जनों के पग धोने का है मेरा अधिकार।"
कृष्ण-वचन सुन हुए युधिष्ठिर गद्गद भान बिसार।
"धन्य नम्रता के निधान तुम, होकर भी स्वाधीन,
कर बैठे हो आप अखिल में अपना अहम् विलीन!
धन्य हमारी धरा, जहाँ तुम प्रकट हुए प्रत्यक्ष,
नम्र भाव धारण कर हम भी साधें अपना लक्ष।"
कहा भीष्म ने—"हरे, तुम्हारा पाद्यदान यह धन्य,
कौन अर्घ्यभागी इस मख का तुम्हें छोड़कर अन्य?"
पर इसमें अपमान मानकर क्रुद्ध हुआ शिशुपाल,
कृष्ण-भीष्म दोनों से उसने कहे कुवाच्य कराल।

"राजाओं के रहते पूजा जाय गोप का बाल,
नष्ट भीष्म की भ्रष्ट बुद्धि के साक्षी हों भूपाल।"
हरि फिर भी सह लेते चाहे उसकी वाणी वक्र,
भीष्म निरादर कैसे सहता उनका चंचल चक्र?
"मैं कुछ नहीं जानता तुझको!" कहकर वह जड़ जीव,
मौन सदा के लिए हो गया क्षण में छिन्नग्रीव।
हरि ने यही कहा—"तू ही क्या, मुझको जाने कौन,
जिसको जाने नहीं ठीक से उसको माने कौन?"
जो नृप थे शिशुपाल-पक्ष के सभी रह गये सन्न,
दुर्योधन भी सहमा-सा था, हुआ यज्ञ सम्पन्न।
यथा योग्य सम्मान लाभ कर गये अतिथि निज गेह,
जिन्हें द्वेष था, मिला उन्हें भी धर्मराज का स्नेह।
व्यासदेव से कहा उन्होंने—"मैं कृतार्थ हे तात!
फिर भी लगता है, न खड़ा हो आगे कुछ उत्पात।"
"लक्षण तो हैं ज्ञात कलह के" बोले मुनि सविमर्ष,
"बारह बाट करें न नृपों को अगले तेरह वर्ष!"
"प्राप्य सभी कुछ पाने पर भी आगे रहे अरिष्ट,
तो उसका निमित्त बन मुझको जीवन हो क्यों इष्ट?
देव, देखना चाहूँ मैं क्यों ज्ञाति-नाश का नृत्य?
पुत्रवती द्रौपदी सुभद्रा, हम सब भी कृतकृत्य।"
"जो हो सो हो, करो स्वयं तुम निर्भय निज कर्त्तव्य,
भोगो भद्र, यथोचित भव में मिले जहाँ जो भव्य।
पावें सब निज कर्मों के फल, तुम यों न हो उदास,
डिगे न बाहर के विषयों से भीतर का विश्वास।"
हुए विसर्जित व्यासदेव यों देकर उन्हें प्रबोध,
दुर्योधन से किया उन्होंने रुकने का अनुरोध।
"रहो तात, पुर में चलकर तुम कुछ दिन मेरे संग,
बढ़ा हमारा जो कुल-गौरव, भोगो उसे अभंग।
कृष्ण-कृपा से हम कुरुओं का फैला यशः-प्रताप,
मेरा विभव तुम्हारा, मेरे विभव बनो तुम आप।
खेद-कलह का मूल हेतु वह भेद कहाँ भरणीय?
जो तुम सबको रुचे वस्तुतः मुझे वही करुणीय।"
रुकने को था स्वयं सुयोधन, रुका, किन्तु संयोग,
विष बन गये उसे वे रसमय राजभवन के भोग।

हुआ कक्ष में घुसते उसको द्वार खुला प्रतिभात,
लगा किन्तु उसके ललाट में स्फटिक कपाटाघात।
जल में थल का, थल में जल का देख उसे भ्रमभास,
रोक न सके दास-दासी भी आकस्मिक उपहास।
कौन कहे, वह हुआ क्रोध से वा लज्जा से लाल?
किन्तु बुझी कब, जली हृदय में ज्वाला जो विकराल?

द्यूत

धुँधा रहा था जो भीतर ही गीला-सा ईंधन पाकर,
हुआ प्रज्वलित दुर्योधन का द्वेषानल झोंका खाकर।
जलने लगा विवश वह उससे, घर आकर भी शान्ति न थी,
मय-कृत सभा-भवन में उसको भ्रान्ति मिली, विश्रान्ति न थी।

जुड़ी अन्तरंगों की गोष्ठी, सबने मिल कर मन्त्र किया,
धर्मराज को सपरिवार आमन्त्रित कर षड्यन्त्र किया!
विग्रह नीचे रख निग्रह कर ऊपर दुगुना मेल रचा,
मोद-विनोद प्राप्त करने के मिष चौसर का खेल रचा।
हुई वृद्ध की पूर्ति सभा में एक अन्ध नृप के द्वारा,
दुर्योधन के अर्थ शकुनि ने धर्मराज को ललकारा।
"जैसी तुम पंचों की इच्छा, द्यूत न हो मेरा व्रत पूत,
आये बिना नहीं रहता हूँ, जब मैं होता हूँ आहूत।"
यह कहकर ·वरवृत्त युधिष्ठिर प्रस्तुत और प्रवृत्त हुए,
अक्ष-पटल वा अटल नियति के अंकों के नव नृत्त हुए।
थे स्वभावतः सरल युधिष्ठिर, किन्तु शकुनि था छँटा छली,
चढ़ीं भृकुटियाँ भीमार्जुन की, तदपि मौन ही रहे बली।
हुंकारों के साथ खेल में क्रम से उत्तेजना जगी,
क्षत्रियत्व ने हार न मानी, घात संग ही बात लगी।
राजपाट फिर अनुज और फिर अपने को भी हार गये,
जान न पाये, कृष्णा को भी कब वे पण पर वार गये।
"वह दिग्विजय-विभव, वह सत्ता थी क्या सपने की माया?
मेरा कहने को विशेष क्या, शेष नहीं मेरी काया।
उसी ऐन्द्रजालिक से क्या मैं अपनी तुलना करूँ यहाँ,

जो रच मायापुरी अन्त में खप्पर फेरे जहाँ-तहाँ?''
करुणा-भरी हँसी वह उनकी गीली थी अथवा सूखी?
किन्तु भाइयों की आँखें थी भूखी बाघिन-सी रूखी।
कहें भीम कुछ तब तक अर्जुन बोले—''छल गये हैं आर्य,
पर माँ की आज्ञा-सी हमको इनकी करनी भी स्वीकार्य।''

इतने पर भी दुर्योधन ने सुख-सन्तोष नहीं पाया,
जाकर दुःशासन कृष्णा को वृक बकरी-सी धर लाया।
खल-बल से व्याकुल कुल-ललना वाष्प-वेग से बफरी-सी,
अपने खिंचते केश-जाल में तड़प रही थी शफरी-सी!
''मुझे एक वस्त्रावस्था में नीच खींच लाया यह घेर,
अन्धराज्य में क्या कोई भी नहीं देखता यह अन्धेर?
पाप-सभा में ये गुरुजन भी बैठे हैं निश्चल नत भाल,
नेत्र मूँद मानें कपोत ज्यों नहीं कहीं भी व्याल-विड़ाल!''
कहा कर्ण ने—''पण-पराजिता दासी होकर इतना दर्प?''
''अरे दर्प तो तब करती मैं जब मेरे कच बनते सर्प!
राजसूय मख में मन्त्रों के जल से जो अभिषिक्त हुए,
उसके रक्त-बिना न बँधेंगे जिससे ये अविविक्त हुए।
बल से जीत न सके जिन्हें खल, दलने चले उन्हें छल से?
किन्तु कहाँ तक काम चलेगा ऐसे कलुषित कौशल से?
अर्द्धनग्न-सी मुझे देखकर आँखें जुड़ा रहे जो आज,
सावधान हो जाय उन्हीं से उनकी कुल-वधुओं की लाज!''
सहसा उठा विकर्ण सभा में दुर्योधन का ही भाई,
''निश्चय यह आर्या अपण्य थी, हृतधृत होकर ही आयी।''
झिड़का उसे कर्ण ने—''बैठो, कितनी बुद्धि तुम्हारी है?
हार खिलाड़ी ने अपनी ही नारी तो यह हारी है।
वारवधू को लज्जा कैसी, इसको नंगा नचने दो,
दुःशासन, यह एक वसन भी तुम क्यों इसका बचने दो?''
केश छोड़कर दुःशासन ने उसका पल्ला पकड़ लिया,
सिमिट संकुचित हो कृष्णा ने आप आपको जकड़ लिया।
''मैं पण योग्य न थी अथवा थी, यह विवाद की बात रहे,
पर न सहेगा कभी धर्म यह अनाचार, सो ज्ञात रहे।
यह कर्षण यह घर्षण मेरा हो सकता है अधिकृत कर्म,

तो क्यों वृथा ओढ़ रखा है उद्धत पशु ने हत नर चर्म?"
थाप मारकर दुर्योधन ने इसी समय जंघा ठोकी,
भीमसेन के उर की आँधी रुकती अब किसकी रोकी?
"दुःशासन का हृदय दीर्ण कर उसका रक्त न पी जाऊँ,
तो साक्षी दिक्काल, रहो तुम, मैं न वीर की गति पाऊँ।
दुर्योधन की जाँघ न तोड़ूँ तो मैं अपना सिर फोड़ूँ,
यदि मैं कभी प्रतिज्ञा छोड़ूँ तो पितरों से मुँह मोड़ूँ।
यहाँ हमारे होते कृष्णा जिनके कारण हुई अनाथ,
तुम सहदेव, अग्नि लाओ मैं अभी जला दूँ उनके हाथ।"
"हाय आर्य!" अर्जुन बोले—"क्या उचित अवज्ञा गुरुजन की?
यह करके क्या तुम न करोगे दुर्वृत्तों के ही मन की?"

उधर द्रौपदी का दुकूल जब तक न दुष्ट ने हरण किया,
नारी ने नर से निराश हो नारायण का शरण लिया।
"हा हृदयस्थ हरे! तुमको भी यदि अभीष्ट यह गति मेरी,
तो फिर मुझको ही क्या लज्जा, कहे और क्या मति मेरी?
रे नर, आगे नरक-वह्नि में तू निज मुख की लाली देख,
पीछे खड़ी पंचमुख शिव पर नग्न कराला काली देख!"
सहसा दुःशासन ने देखा अन्धकार-सा चारों ओर,
जान पड़ा अम्बर-सा वह पट, जिसका कोई ओर न छोर।
आकर अकस्मात अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया,
कर जड़ हुए और पद काँपे, गिरता-सा वह बैठ गया।
दासी का कर धरे इसी क्षण देवी गान्धारी आयी,
चौंक सँभल कर पाप-सभा ने पुनः सभ्यता-सी पायी।
सबने उससे उसने सबसे यथायोग्य व्यवहार किया,
प्रणत पदों पर पांचाली को हाथ उठा कर अभय दिया।
सिहर अन्धपति से वह बोली—"सफल अन्धता अपनी आज,
नहीं देखते अपनों से ही हम जो अपनी लुटती लाज!
नाथ, किन्तु क्या श्रवण-शक्ति भी अकस्मात तुमने खोई,
सुनी नहीं क्या, आ घर में घुस अभी शिवा जो है रोई।
भाई से पितृकुल, पुत्रों से पतिकुल मेरा नष्ट हुआ,
अन्तर्यामी को ही अवगत, मुझको कैसा कष्ट हुआ।
जो कुछ होना है उसको तो जान गया यह चित्त अहो,

तुमसे मुझे यही कहना है, तुम तो यहाँ निमित्त न हो।
सूक्ष्म धर्म-गति का विचार तो कर सकते हैं वृद्धाचार्य,
पर क्या यह सब कर सकते हैं वे भी, जो है अधम अनार्य?
हाय! लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गयी लक्षित क्या,
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या?''
''देवि ठीक ही कहती हो तुम, मैं अन्धा भी देख रहा,
अपने चारों ओर, अन्त तक अपनों का रण-रक्त बहा।
पुत्र-मोह उससे भी दुस्तर मज्जित करता है मुझको,
सबल तुम्हारा मातृ-हृदय यह लज्जित करता है मुझको!
बहू द्रौपदी कहाँ, बुलाओ, आ, मेरे कुल की लाली!
पिता पीड़कों का मैं, फिर भी निर्भय हो ओ पांचाली!
सुनने पड़े सभा में मुझको कातर वचन हाय! तेरे,
क्यों न दृष्टि के साथ श्रवण भी नष्ट किये विधि ने मेरे!''
आकर कृष्णा पड़ी पगों में, पर क्या वह कुछ बोल सकी,
वाष्प-वेग से कण्ठ रुद्ध था, मुख न मानिनी खोल सकी।
''मुझे तोष देने को कुछ भी माँग बहू, तू निःसंकोच,
वर, प्रसाद वा पुरस्कार जो उसको लेने में क्या सोच?''
''तात, तुम्हारी अनुकम्पा ही बहुत मानती हूँ मन में,
हूँगी मैं कृतकृत्य तुम्हारी आज्ञा के ही पालन में।
फिर भी यदि कुछ देना ही है तो बस मुझे यही दीजे—
पराधीनता के बन्धन से मुक्त स्वामियों को कीजे।''
''एवमस्तु'' कहकर राजा ने फिर उससे इस भाँति कहा—
''माँग और भी जो जी चाहे, धीरज धर, आँसू न बहा।
दासी-दास-राज्य रत्नादिक सब कुछ लौटा दूँगा मैं,
जीता हुआ शकुनि के द्वारा कोई द्रव्य न लूँगा मैं।''
किन्तु और कुछ भी न माँगकर बोली यों उनसे कृष्णा—
''कहना नहीं और कुछ मुझको, अच्छी नहीं अधिक तृष्णा।
यदि पुरुषों में पौरुष होगा, तो सब कुछ हो जावेगा,
तात, अन्यथा वह भिक्षा का वैभव फिर खो जावेगा।''
''किन्तु बिना माँगे ही मैंने सब कुछ लौटा दिया तुझे,
बुझे विरोधानल आपस का, केवल यही अभीष्ट मुझे।''

''आप हमारे पिता और प्रभु, अब क्या आज्ञा है हमको,''

सुन धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से यह बोले धर उन सत्तम को।
"अपने सभा-भवन में जाकर भूलो तुम यह कष्ट कठोर,
वत्स, और क्या कहूँ, देखना गान्धारी-युत मेरी ओर।"
"जो आज्ञा" कह गये युधिष्ठिर अन्त भला तो सभी भला,
मन ही मन परन्तु दुर्योधन मानो जीता हुआ जला।
बोला अलग पिता से वह यों—"तात, मृत्यु ही गति मेरी,
अम्बा की स्त्री-बुद्धि, उसी ने हाय! तुम्हारी मति फेरी।
फँसा फँसाया शत्रु हाथ से छूट हमें क्या छोड़ेगा?
भूल सभी उपकार तुम्हारा हमें मूल से गोड़ेगा।"
भय दिखला कर अन्धराज को उसने मन की करवा ली,
धर्मराज से और एक पण होने की हाँ भरवा ली।
जो हारे सो राज्य छोड़ कर बारह वर्ष करे वनवास,
एक वर्ष अज्ञात वास में धरा जाय तो फिर वह त्रास।
'जो आज्ञा' कह जाने-माने धर्मराज फिर भी हारे,
प्रस्तुत हुए अनुज-कृष्णा-युत फिरने को मारे मारे।
अन्तरंग यह काण्ड विदुर ने सुन कर महा विषाद किया,
द्रोण सहित देवव्रत को द्रुत जाकर सब संवाद दिया।
मानो घर में आग लगी हो, घबराये-से वे आये,
देख न सके दृश्य वह सहसा आँखों में आँसू छाये।
"मैंने शास्त्र-शस्त्र-शिक्षा का किया सभी के लिए प्रयत्न,
आशा थी कुल के गौरव की वृद्धि करेंगे सब कुल-रत्न।
पर स्वभाव पर चला किसी का कोई शास्त्र न, कोई शस्त्र,
और अन्त में आज हमारी कुल की लज्जा हुई विवस्त्र?
शूलों पर भी पड़ूँ क्यों न मैं, कैसे रहूँ खड़ा-बैठा?
न हो अबल्य आज भी तन में, विषम शल्य मन में पैठा।
पर मैं नहीं निराश, तुम्हारा गौरव अब भी मेरे साथ,
मेरा इच्छा-मरण युधिष्ठिर, अब से रहा तुम्हारे हाथ।
घर तो बैठ चुका पहले ही, अब न उठेगा यह हाथी।"
"वत्स युधिष्ठिर," कहा द्रोण ने—"मैं भी हूँ इनका साथी।
हम दोनों जीकर कदन्न पर क्यों यह मरण दुःख पाते,
इन्द्रप्रस्थ कहीं तुम अपने साथ हमें भी ले जाते।
पर अपनी उदारता से ही तुमने हमें यहाँ छोड़ा,
करना पड़े जिसे जब जो कुछ, परवशता में सब थोड़ा!"
"आप गुरुजनों की हम सब पर छाँह रहेगी वन में भी,

तो उससे क्या अधिक चाहिए हमको राज भवन में भी।
आज्ञाकारी रहें सदा हम।" नम्र युधिष्ठिर मौन हुए,
अनुज-द्रौपदी-युक्त उन्होंने उन दोनों के चरण छुए।

मुँह ढँककर ही गये विपिन वे कहीं किसी को दहे न दृष्टि,
घनीभूत-सी माँ कुन्ती में हुई विश्व की करुणा-सृष्टि।
रहना पड़ा विदुर-गृह उसको रखकर अपनों का अनुरोध,
राम बिना कौशल्या मानो करती थीं सब सूना बोध।
उनको जाते हुए देख कर और अनर्थ-कथा सुनके,
चले प्रजा-जन भी दल के दल पीछे पीछे ही उनके।
जब समझाने लगे युधिष्ठिर, वे आकुल कुछ कह न सके,
फिर भी कितने ही ऋत्विज जन उन्हें छोड़ कर रह न सके।

वन-गमन

राज्य मिला, पर यश न मिला दुर्योधन को,
वश करने में लगा प्रजा के वह मन को।
उद्धत भी वह अज्ञ न था नृप-कौशल से—
प्रजा राज्य के, राज्य प्रजा के ही बल से।
द्रोण विनय-वश उसे छोड़कर जा न सके,
उसका मंगल किन्तु पितामह पा न सके।
पाण्डव पूजित रहे, भले ही छले गये,
धौम्य पुरोहित सहित वीर बन चले गये।

पाकर सब संवाद कृष्ण दौड़े आये,
और बहुत से बन्धु-सुहृदज्जन मन भाये।
सब थे सहज सहानुभूति से भरे हुए,
सबसे मिलकर व्यथित हृदय वे हरे हुए।
आकर कृष्ण-समीप आर्त कृष्णा रोई,
"यदि तुम होते नहीं, न था मेरा कोई।
नारी पर कब कहाँ दैव की दृष्टि हुई?
मेरी तो अपमान-हेतु ही सृष्टि हुई?
पाकर ऐसे नाथ अन्यथा मैं अबला,
नर पशुओं की हुई हाय क्यों करकवला।
देखो ये सम्राट दीन से दुर्गत हैं,
महा हीन भी नहीं छोड़ते निज पत हैं!"
"पर मैं उसको कर न सकूँगा कभी सहन,
जिसने यह अपमान किया तेरा बहन!
अयि भारत-सम्राज्ञि, और क्या कहूँ भला?

छले गये वे स्वयं, जिन्होंने तुम्हें छला।''
''छलियों से भी—'' भीम व्यंग्यपूर्वक बोले—
''क्यों न सरल व्यवहार करें हम हैं भोले!
किसी पाप-वश विप्र-वंश से दूर गिरे,
क्षत्रिय भी हम कहाँ, क्षमाधर ही निरे!''
बोल उठे बलराम—''अतीव अनर्थ अहो!
लगता है, जन-पाप-पुण्य सब व्यर्थ न हो!''
तब सात्यकि ने कहा—''नहीं, हे आर्य, नहीं,
पर क्या सबके लिए समय अनिवार्य नहीं?
मिलता सबको स्वफल अवश्य सदैव यहाँ,
जन को जन के हाथ दिलाता दैव यहाँ।
जाने जिसे अनीति, उसे चुपचाप सहें,
तो हम निज को नीतिमन्त किस भाँति कहें?
दुर्योधन से धर्मराज पण-वद्ध रहें,
पर हम क्यों उस निन्द्य नियम से नद्ध रहें?
आज्ञा दीजे, अभी खलों पर चढ़ जाऊँ,
धर्मराज का राज्य जीतकर ले आऊँ।''
''पर ये क्या स्वीकार करेंगे उसे कभी,
जिसके लिए न आप युद्ध कर सकें अभी?''—
कहा कृष्ण ने—''धैर्य न इतना थकने दो,
कार्य समय सापेक्ष्य, रहो, फल पकने दो।''
''यही बात है तात!'' युधिष्ठिर तब बोले—
''प्रथम हमारा नियम यहाँ पूरा हो ले।
इष्ट पाप-जय-हेतु पुण्य ही, पाप नहीं,
पा सकते हैं वह सुयोग हम आप यहीं।
सिंहासन यदि गया, कुशासन मिला मुझे,
औरों का यह नहीं, स्वशासन मिला मुझे।
क्या इतना ही आज यथोचित न था मुझे?
मुझसे मेरे व्यथित हुए, यह व्यथा मुझे।
मैंने जो कुछ किया, हो चुका है वह तो,
जो था मुझको मिला, खो चुका है वह तो।
इतना भी विश्वास दिलाऊँ मैं कैसे,
होंगे मुझसे कर्म न आगे भी ऐसे?
अनुचित मुझपर द्रुपदसुता का रोष नहीं,

कर दें मेरा त्याग अनुज, तो दोष नहीं।
मेरे पीछे किन्तु उन्होंने सभी सहा,
तो मेरा क्या गया, मुझे क्या प्राप्य रहा?
अब भी समझा नहीं इसे मेरे मन ने,
माँगा सीधे क्यों न राज्य दुर्योधन ने?
मुझसे कहते उसे आत्म-संकोच हुआ,
वंचक बनते हुए न रंचक सोच हुआ!
मैं अपने में आप न नियम-विरुद्ध रहा,
द्यूत अपूत, परन्तु स्वयं मैं शुद्ध रहा।
नहीं युद्ध भी भला, किन्तु करना होगा,
स्वत्व धर्म पर हमें जूझ मरना होगा।
करनी होगी तदपि प्रथम सज्जा हमको,
देंगे यों ही नहीं निमन्त्रण हम यम को।
यह जो हमको समय मिला, हम बल जोड़ें,—
भीतर का बल, तभी विजय के फल तोड़ें।''
अर्जुन बोले—''भले न समझे बुद्धि कभी,
मन से अनुगत सतत आर्य के अनुज सभी।
चिन्ता हमको नहीं वंचकों के बल की,
क्षुद्र भीरु ही छाँह पकड़ते हैं छल की।
उन्हें हमारी हानि अन्त में भरनी है,
पर अब निश्चय हमें प्रतीक्षा करनी है।''
बोला धृष्टद्युम्न—''कठिन है बात यही,
पर जो सबको ग्राह्य, मुझे भी सह्य वही।''

अतिथि विसर्जित हुए प्रेम-पूजित होकर,
हरि सह शिशु-वश चली सुभद्रा भी रोकर।
पांचाली से कौन कह सका चलने को,
भेजे उसने अनुज-संग सुत पलने को।
''जीजी, तुम तो सहज नागरी सुकुमारी,
वृन्दावन-सी घनी बनी मुझको प्यारी।
उचित नहीं यह एक तुम्हीं सब भार धरो,
निज सेवा के अर्थ मुझे स्वीकार करो।''
जब यों रोकर कहा सुभद्रा ने नत हो,

कृष्णा बोली भेट उसे मर्माहत हो।
"भद्रे मेरे लिए न कर चिन्ता उर में,
वन से भी मैं बहुत सह चुकी हूँ पुर में!
गोदी में शिशु लिये चली तू भी वन को,
तो क्या होगा सह्य स्वामियों के मन को?
सह तू, रह, संकुचित क्यों न लजवन्ती-सी,
त्यक्त न हों हम उभय सहठ दमयन्ती-सी।"
"आर्ये, शिशु भी आज अभागिन का पिछड़ा,
सभी पिताओं, सभी भाइयों से बिछड़ा।"
"मेरी पगली बहन, व्यथा मत दे मुझको,
मेरे पाँचों पुत्र समर्पित हैं तुझको।
जाते ही तू बुला लीजियो वहीं उन्हें,
पर न प्यार ही प्यार कीजियो कहीं उन्हें!
बढ़ा चली तू आप बोझ अपना भोली,"
"अनुगृहीत मैं हुई" सुभद्रा झुक बोली।

अस्त्र-लाभ

"तुम्हें बहुत, पर मुझे समय लगता है स्वल्प,
कहाँ गये हैं, कौन कहे, कितने युग कल्प?
हमें पाशुपत अस्त्र प्राप्त करना है तात!"
धर्मराज ने कही भाइयों से यह बात।
"अर्जुन, इसके लिए करो तुम तपःप्रयास,
मुझको यह निर्देश दे गये वेदव्यास।"
अर्जुन ने सौभाग्य मानकर किया प्रयाण,
शुभ शकुनों ने बता दिया भावी कल्याण।
हिमगिरि-वन में किया उन्होंने तप आरम्भ,
आकर बोला एक विप्र—"यह कैसा दम्भ?
तप करते हो और धरे हो तुम यह शस्त्र?"
वे हँस बोले—"नहीं हमारे देव निरस्त्र।"
"वंचक भी हैं विबुध परन्तु इसी के साथ!"
"नहीं नहीं, वे महादेव हैं भोलानाथ!"
"तदपि रजोगुण-चिह्न नहीं क्या यह कोदण्ड?"
"आवश्यक यह दुष्ट-दण्ड के अर्थ अखण्ड।
अस्त्र-हेतु ही यत्नशील होकर मैं आप,
कहें आप ही, त्याग करूँ कैसे निज चाप?
आज्ञा हो, आ सके आपके यदि यह काम,
मान्य, इसी से मिला मुझे गाण्डीवी नाम।"
तुष्ट हुआ द्विज और दे गया आशीर्वाद,
"प्राप्त करो तुम तात, शीघ्र ही शिवप्रसाद।"

व्रत में रत वे रहे अभिक्षु अयाचक सन्त,

उनके तप से पिघल उठा मानो हिमवन्त।
जहाँ अप्सरा-विघ्न, वहाँ यह क्या उत्पात,
वन-विचरण में किया एक शूकर ने घात।
विद्युद्दंष्ट्रा लिये उपद्रव मूर्ति प्रचण्ड,
लगा पार्थ को, टूट पड़ा भू पर घन-खण्ड।
भागे दन्ती इधर उधर सुन घुर घुर घोर,
स्वयं सिंह आ सके न उस उद्धत की ओर।
खड़ीं सटाएँ देख जटाधर वट-से वृक्ष,
काँप उठे, जा चढ़े भाग कर जिन पर ऋक्ष।
एक कूट के खड्ग हो गये उससे खर्व,
उलटे सींगों भगे वन्य सैरिभ गतगर्व।
मुख लम्बा कर लपक छोड़ता मुस्तकगन्ध,
झपटा मेदुर सीध बाँध कर मद से अन्ध।
छूता भर था धरा, भार से धँसे न पैर,
जा सकता था कौन तरलता उसकी तैर?
सम्मुख आती हुई भूल आपत्ति अथाह,
अर्जुन उसे सराह उठे,—बोले वे—"वाह!"
वाह न सुन कर किये आह सुनने की चाह,
टूटा उनपर बाण-वेग से विकट वराह।
पर क्या वह सह सका पुरुष के शर की बाढ़,
निज दंष्ट्रा से प्रखर लगी नर की वह दाढ़।
किन्तु पार्थ ने वहाँ विद्ध पाये दो बाण,
और सुनाई दिया शंख-सा उन्हें विषाण।
चौंक पड़े वे देख उसी क्षण एक किरात,
सुदृढ़ लचीले लौह-तुल्य था जिसका गात।
वन्यचरों का प्रकट हुआ मानो कुलदेव,
बनी बनी वर जिसे नागरिकता स्वयमेव!
जब दोनों जन मान रहे थे निज अपमान,
उसके मुख पर खेल रही थी मृदु मुसकान।
उभय भटों की हुई भयंकर-सी वह भेट,
"यह मेरा आखेट," "कहाँ तेरा आखेट?"
वचनों से आ गया कर्म में वाद-विवाद,
बाण रूप रख चला पार्थ का क्रोधोन्माद।
पर विशिखों ने किया प्रकट विस्मय बाहुल्य,

जब वे निष्फल गये भिल्ल-तनु पर तृण-तुल्य!
विस्मय-से भी अधिक लगा उनको अपमान,
भुजबल का ही शेष भरोसा रहा महान।
मल्ल-युद्ध की ठान जा भिड़े उससे पार्थ,
हार जीत की वही कसौटी एक यथार्थ।
पर विपक्ष के महावक्ष पर झिलमिल झूल,
उन पर हँसने लगे मंजु माला के फूल!
"यह माला तो वही, मुझी से जो अव्याज,
पार्थिव-पूजन-समय चढ़ी थी शिव को आज!"
बस बिजली-सी कौंध गयी, बिसरा सब वैर,
हाथ जोड़ रह गये पकड़ वे हर के पैर।
"मैं प्रसन्न हूँ, रहा ठीक ही मेरा स्वाँग,
तुझे पाशुपत दिया, और जो चाहे माँग।"
"विभो, भवानी-सहित मिले भव, अब क्या शेष?
सब जीवन का सार रूप यह एक निमेष।"
"विजयी हो," कह हुए उधर हर अन्तर्भूत,
रथ ले आया इधर वहाँ सुरपति का सूत।
"शिव-दर्शन का सुफल उपस्थित यह हे वीर!
बनो इन्द्र के अतिथि स्वर्ग में तुम सशरीर।"
"जो आज्ञा" कह हुए पार्थ प्रस्थित तत्काल,
झुका परम सौभाग्य-भार से उनका भाल।

आया पृथिवीपुत्र, उठा उत्सुक सुरलोक,
उसका पथ कब कौन कहाँ सकता है रोक?
सुरबालाएँ बनी सुमन बरसा कर मूर्ति,
चिर सुर-यौवन, किन्तु रुचिर यह नर की स्फूर्ति।
बोला नत सिर सूँघ इन्द्र–"तुम यहाँ अबाध,
पूर्णकाम हो सप्रयोग दिव्यायुध साध।"
"अनुगृहीत मैं।" किया पार्थ ने पुनः प्रणाम,
और किया आरम्भ यथाविधि अपना काम।

एक रात उर्वशी अप्सरा-मणि सविलास,

दिव-विभूति-सी हुई उपस्थित उनके पास।
आगे बढ़ती हुई तनिक तिरछा तन मोड़,
रूप-गन्ध की फलित ललित लपटें-सी छोड़!
चलती फिरती कल्पलता रस-रंग-विभोर,
आकर्षित-सी हुई आप नव नर की ओर।
मदिर दृष्टि से मनःसृष्टि के स्वप्न बिखेर,
विह्वल होती हुई आप भी उनको हेर!
नूपुर-रव से मुखर बनाती मृदु मुसकान,
नर को करने चली अप्सरा सुधा-प्रदान?
मधु लाया क्या यह अपूर्व मद की छवि आँक,
उठी मदन की प्राण-प्रतिष्ठा जिसमें झाँक!
गगन-सिन्धु ने दिया उन्हें यह रत्न विशेष,
सुर भी जिसको देख रह गये थे अनिमेष!
ठहर गयी थी लहर चंचला की-सी कान्ति,
मानो कान्ता न थी, किन्तु कान्ता की भ्रान्ति!
तनिक झुकी थी धरे भरे यौवन-घट भार,
माँग रही थी अलस इंगितों में आधार!
चौंके अर्जुन एक बार उसको अवलोक,
फिर भी वे स्थिर रहे चपल उत्सुकता रोक।
उनको विस्मित देख सुतनु सस्मित तत्काल
बोली उन पर डाल दशन-किरणों का जाल—
"तुम उदास-से मुझे दीख पड़ते हो शूर!
हुई यहाँ भी नहीं मनोबाधा क्या दूर?"
"उस बाधा का देवि, अवनि पर ही उपचार,
स्वर्ग-भोग का कहाँ आज मुझको अधिकार?
अब भी मेरे आर्य-चरण वन-कण्टक-विद्ध,
और—" "और क्या, कहो अहो! यदि न हो निषिद्ध।"
"मैं किस मुँह से कहूँ याज्ञसेनी की बात,
बीत रहे हैं किस प्रकार उसके दिन रात।
त्रिविधि पवन में यहाँ उसी की ठण्डी साँस,
गड़ती है इस व्यग्र हृदय में गहरी गाँस।
नन्दन-वन के फूल फूल में व्यथा-विभोर,
उसका मुख ही ताक रहा है मेरी ओर!
इसी ताप से पड़ न सका ठण्डा यह देह,

मृत्यु बिना क्या भोग्य अमृतमय यह शुभ गेह?"
"पर क्या निश्चित नहीं लिया-सा वह प्रतिशोध?
उसमें अब भी तुम्हें हो रहा संशय-बोध?
इस शरीर से सुलभ नहीं निश्चय यह धाम,
क्या इसका अपमान उचित है हे वरवाम!"
"मैं ऐसा हतबुद्धि नहीं, यद्यपि हतभाग्य,"
"तो आओ प्रिय, दूर करो मिथ्या वैराग्य।"
"सुन्दरि, समझो नहीं मुझे तुम ऐसा अन्ध,
जो मैं देख न सकूँ शक्र से निज सम्बन्ध।
तुम मेरी जन–" "रहो, न लो जननी का नाम,
उसकी तुलना रहे, मुझे उससे क्या काम?
मैं किसकी माँ-बहन? और पत्नी भी आह!
एक प्रेयसी मात्र, करूँ जिसकी भी चाह।
पर मैं इतनी सुलभ नहीं, समझो यह ठीक,
अपना सच्चा स्वप्न न कर दो आप अलीक।
तप करते हैं और साधते हैं जब योग,
पाते हैं तब कृती भाग्य से ऐसा भोग।"
"रहें तुम्हारे भाव तुम्हारे मन के साथ,
पर मेरा मन रहे निरन्तर मेरे हाथ।"
"तब तुमको यह नहीं सोहता नरवर-वेष,
क्लीव-रूप में रहो, और क्या कहूँ विशेष!"
"स्वस्तिवाद-सा शिरोधार्य है यह अभिशाप,
किसी रूप में रहूँ, किन्तु निर्भय-निष्पाप।"

तीर्थयात्रा

"आर्य, अर्जुन के बिना सब रिक्त-सा है,
काल कटु था ही, अधिक अब तिक्त-सा है।
हाय! जैसों के लिए वैसे न होकर,
आज हम ऐसे हुए सर्वस्व खोकर!"
काम्य वन में भीम को यों देख अस्थिर,
सहनशील असीम-से बोले युधिष्ठिर—
"तात, छलियों से छले जाकर छके हम,
किन्तु निज में तो भले ही रह सके हम।
यदि खलों के साथ निज सौजन्य खोते,
तो उन्हीं जैसे स्वयं क्या हम न होते?
भेद हममें और उनमें फिर कहाँ था?"
"भेद? सचमुच!" भीम बोले—"वह यहाँ था!"
बीच में ही द्रौपदी कहने लगी यों—
वह भरी थी ही, उमड़ बहने लगी यों—
"भेद भी क्या, एक हैं जब राज्य-भोगी,
दूसरे अपदस्थ - अवश - अकाल - योगी!
जो हुआ सो हो गया मेरा, रहे वह,
पर तुम्हारा पतन मन कैसे सहे यह?
हाय! हारे ही नहीं तुम तो थके हो,
क्षुब्ध तक होते नहीं, इतने छके हो!
द्वार पर जिनके मतंगज झूमते थे,
और जिनके नख चमूपति चूमते थे,
घूमते कुश-कंटकों में रज-सने हो;
और सहवासी शृगालों के बने हो!
कौन था, जिनका अनुग्रह जो न चाहे?

बन कृपा-भाजन न अपने को सराहे?
आज वे दयनीय सबके हो रहे हैं,
बेच घर-घोड़ा गहन में सो रहे हैं।
किन्तु यह सब देखकर जब जी रही मैं,
और कर्षित चीर अपना सी रही मैं,
तब अहो! धिक्कार दूँ मैं और किसको?
मैं वही हूँ, मृत्यु भी आयी न जिसको।
निम्न गति जल की, अनल की उच्च गति है,
प्रकृत तप से भी तुम्हें मानो विरति है!"
"देवि, तप ही आज मेरा जी जुड़ाता,
पर अनल की उष्णता भी जल बुझाता!"
"हाय नाथ, भले तुम्हें व्यापे न बाधा,
आप ही तुमने उसे है आज साधा।
किन्तु जो ये दो अनुज कोमल कुसुम-से,
क्या नहीं उच्छिन्न से हैं आज तुमसे?"
"हाय देवि! हमें न यों लज्जित करो तुम,
कब समय आवे, समर सज्जित करो तुम।
हम यहाँ भी आर्य की ही गोद में हैं,
यदि तुम्हारा दुख न हो तो मोद में हैं।"
कह चुके जब यों नकुल-सहदेव मिलकर,
फूल-से महके युधिष्ठिर आप खिलकर—
"भाग्यशाली और किसका क्रोड़ ऐसा?—
है जुड़ा जिसमें अनोखा जोड़ ऐसा।
याज्ञसेनि, नहीं मुझी पर त्रास आया,
राम ने भी एक दिन वनवास पाया।
यातना भोगी तुम्हीं ने क्या अकेले?
जानकी ने भी भयंकर कष्ट झेले।
साध्वि, सावित्री न क्यों तुमको कहूँ मैं?
चाहता हूँ, सत्यवान बना रहूँ मैं।
तुम जहाँ हो, मृत्यु-बाधा भी हरोगी,
धैर्य रक्खो, हम तरेंगे, तुम तरोगी।
स्वबल से ही धर्म पलता है जनों में,
एक रस है शील भवनों में—वनों में।
दुःख पहले और पीछे सुख भला है,

पुत्र-दर्शन प्रसव-पीड़ा में पला है।
गर्त्त में अब भी नहीं नल-सा गिरा मैं,
हार एकाकी कहाँ मारा फिरा मैं?
आज भी तुम और भाई साथ मेरे,
और हैं वे द्वारका के नाथ मेरे।
अश्रु निकले थे सभा में जो तुम्हारे,
तुम बहे समझो उन्हीं में शत्रु सारे।
वे हमारे मार्ग के तारे सुमानी,
निज प्रहरणों पर उन्हीं का प्रखर पानी।
'यदि खलों से भी भला बर्ताव होगा,
तो भलों के प्रति अलग क्या भाव होगा?'
भीम का यह तर्क कोरा तर्क रूखा,
हंस-मानस क्या वकों के हेतु सूखा?
सुजनता सर्वत्र अपनी रीति होगी
सज्जनों के साथ समधिक प्रीति होगी
श्रेष्ठ निष्क्रिय भी कुटिल उद्युक्त से मैं,
सत्य से सम्बद्ध अच्छा मुक्त से मैं।''

मान्य लोमस मुनि वहाँ सहसा पधारे,
कर चुके थे तीर्थ जो दो वार सारे।
वे सुखद संवाद लाये थे त्रिदिव से,
''पा चुके हैं पार्थ पाशुपतास्त्र शिव से।
हो रहे देवायुधों में अब निपुण हैं,
साथ ही वे सीखते गन्धर्व-गुण हैं।''
कर्णगत सबके हुई ज्यों अमृत-धारा,
गर्व से सबको युधिष्ठिर ने निहारा।
फिर विनत हो अतिथि का आभार माना,
मूल्य अर्जुन के विरह का प्राप्त जाना।
सदय मुनि बोले—''रुचे तो कुछ विचर लो,
तीर्थ-यात्रा क्यों न तुम इस बीच कर लो?''
''प्राप्त यह तो पूर्ण से भी अधिक हमको,
कौन छोड़ेगा भला निज पुण्यतम को?
पूर्वजों के त्याग-तप की स्मृति वहाँ है,

चारणा है, धारणा है, धृति वहाँ है।
नियम - संयम - साधना - क्षमता - क्षमा है,
और अपनी पुण्यभूमि-परिक्रमा है।
मार्ग-दर्शक आप-सा ज्ञाता रहेगा,
विषय का विश्वस्त व्याख्याता रहेगा।
यों कहीं भी तीर्थमय हैं आप योगी,
पर किसे नव लाभ की लिप्सा न होगी?"
धर्मसुत प्रस्तुत उसी क्षण थे समुत्सुक,
पर चले शुभ योग में सब तीन दिन रुक।
गोमती में निखर सरयू में नहाये,
फिर सभी संगम-सुधार्थ प्रयाग आये।
नग्न हो काशी-सदृश शिव की दया में,
श्राद्ध करके उऋण-से उभरे गया में।
मिलन गंगा और सागर का जहाँ था,
क्षार रस भी हो उठा मधुमय वहाँ था!
एक तनु में ही न पाकर तोष गंगा,
बन गयी शततनु, सहस्र-तरंगभंगा!
दृष्टि-गति उस दृश्य ने किसकी न हर ली?
कह युधिष्ठिर ने 'अहा!' फिर आह भर ली—
"हाय जल से भी मनुज-कुल आज पिछड़ा,
जल मिला जल से, मनुज से मनुज बिछड़ा!"

घूमकर चारों दिशाओं में यथाविधि,
प्राप्त कर तप-त्याग की अनुपम कथा-निधि,
बाल्य वय-सा चाव फिर पाकर निराला,
निज अगत-गत सब उन्होंने देख डाला!
की न तीर्थों की उन्होंने मात्र यात्रा
और भी उनकी बढ़ा दी मान-मात्रा।
प्राकृतिक सौन्दर्य से वे भान भूले,
वन बसे मन में, रहे चिरकाल फूले!
देखते थे दृश्य नित्य नये नये वे,
अन्त में गिरि गन्धमादन को गये वे।
सहज था किसको वहाँ का पन्थ चलना?

घन गहन में कठिन किरणों का निकलना!
अद्रि स्वागत कर उठा हिम-हास करता,
था निसर्ग वहाँ निरन्तर वास करता।
आ गये कैसे, कहाँ से, कब, कहाँ वे,
आप अपने को विचित्र लगे वहाँ वे।
प्रकृति-पुरुष-दुर्ग-सा सम्मुख खड़ा था,
किन रहस्यों से भरा, कितना बड़ा था!
"अनुज, लगता है मुझे इस ठौर ऐसा,
मनुज का संसार है संकीर्ण कैसा?
केश क्या, निज रोम तक इसने पकाये,
काल कितने देख इसको अकचकाये।
सिद्ध योगी-सा समाधि-निमग्न है यह,
भूमि से उठ गगन से संलग्न है यह!
देवदारु-समान ऊँचे और मोटे,
वृक्ष इसके निकट छत्रक-तुल्य छोटे!
मग्न-से होकर जलद स्रोतस्वरों में,
मकड़जाल बने पड़े हैं गह्वरों में!
बाहु नभ में और पद पाताल में हैं,
प्रकट कटि-पट विटपियों के जाल में हैं।
शैलराज सहस्र शीर्षोपम बड़ा है,
वरद विभु-सा अभय-मुद्रा में खड़ा है!
सरस शत शत निर्झरों के नीर से है,
द्रवित-सा यह प्राण और शरीर से है!
ठौर अन्तर्बाह्य तृष्णा-शान्ति का यह,
है ठिकाना एक ही अक्लान्ति का यह।
डाल दरियों पर घटाओं की जवनिका,
सभ्य श्वापद भी बना इसकी अवनि का!
एक रव की गूँज कितने ठौर से है,
बन गयी वसुधा बनी इस मौर से है!
उठ तपन को यदि न शान्त किये रहे यह,
लोक उसका तेज तो कैसे सहे वह?
शून्य भरकर यह रजत-मन्दिर बढ़ा है,
मिहिर हीरक-कलश-सा इस पर चढ़ा है!
अवनि-अम्बर का यही मध्यस्थ अपना,

सुन रहा है ध्यान से हँसना-विलपना।
बहुत से अभियोग हम थे संग लाये,
पर यहाँ तो एक से अपने-पराये!
संग हैं संस्कार, हम जावें जहाँ भी,
खल रहा अपमान कृष्णा का यहाँ भी!
द्रौपदी की ही कसक है शेष मुझमें,
अन्यथा किस पर यहाँ विद्वेष मुझमें?
भीम, अपनी कुल-वधू अति मृदुलगात्रा,
कर सकेगी यह यहाँ किस भाँति यात्रा?"
भीम अग्रज से कहें कुछ ध्यान करके,
सुन पड़े तब तक वचन उनको अपर के—
"तात, अम्बा के लिए चिन्ता नहीं है,
इन दिनों उनका बड़ा बेटा यहीं है!
आ, घटोत्कच नत हुआ सहसा पदों में,
चमक बिजली-सी गयी उन गद्‌गदों में।

प्रबल पशु से थे मनुज-से अंग उसके,
और भी कुछ पुण्यजन थे संग उसके।
"वत्स, ऐसे ही हमारे प्रिय रहो तुम,
पवन से सर्वत्रगति सक्रिय रहो तुम।"
द्रौपदी सहसा लता-सी आज फूली,
प्यार कर उसको तनिक निज दुःख भूली।
"साथ क्या जननी नहीं?" "पश्चिम गयी है,
खोजती फिरती बधूटी नित नयी है!"
हँस पड़ी सुन द्रौपदी, कुछ झुक गयी वह,
आप कुछ कहने चली पर रुक गयी वह।
बात आकर रह गयी उसके नयन में—
"सफल हो वर-चयन तुल्य बधू-चयन में!"
"राजसूय-समाप्ति पर हम इधर आये,
दृश्य हिमगिरि के मुझे भरपूर भाये।
आप सब भी तीर्थ करते आ मिले हैं,
क्लान्तिवश कृश किन्तु मुख क्यों अनखिले हैं?"
"ओह! तब तुझको पता क्या, लाल मेरे,—

पकड़ कर खींचे गये हैं बाल मेरे!"
"अम्ब, तुम क्या कह रही हो? हाय! बोलो,
दीन-सी क्यों हो रही हो? भेद खोलो।"
"तात, उस दिन तू हमारे साथ रहता,
तो मुझे विश्वास है, तू तो न सहता।"
कह सकी वह कुछ न, किसने क्यों सताया,
धर्मसुत ने ही उसे सब कुछ बताया।
काठ था ही, हो उठा वह आग सुनकर,
पीस पहले दाँत बोला सीस धुनकर—
"हाय! ये दुष्कृत असम्भव दानवों से,
हम निशाचर ही भले तुम मानवों से!
तुम बँधो, मैं क्यों बँधूँ उस पाप-पण से,
तात, अब मुझको कहाँ अवकाश रण से?
माँ, डरो मत, मैं अकेला क्या करूँगा,
यदि मरूँगा, मार कर ही मैं मरूँगा।
पापियों में बल कहाँ, वे क्या लड़ेंगे?
चौंक कर सोते न सोते उठ पड़ेंगे।
रात का दुःस्वप्न मैं उनका बनूँगा,
और उनको दिन दहाड़े ही हनूँगा!"
जल रहे थे नेत्र उसके दो कुजों-से,
कस धरा उसको युधिष्ठिर ने भुजों से।
रोक पायीं कठिनता से दीर्घ बाँहें,
"वत्स, हम जो कह चुके उसको निबाहें।
युद्ध यदि अनिवार्य है तो हम करेंगे,
शूर - वीर - समान मारेंगे - मरेंगे।
तात, तेरा शौर्य-वीर्य सराहता हूँ,
द्वन्द्व भी निर्द्वन्द्वता से चाहता हूँ।
शीघ्र मध्यमतात तेरे आ रहे हैं,
तीर्थ का फल-सा उन्हें हम पा रहे हैं।
अन्ततः तब तक हमारे साथ रह तू,
और अपनी अम्बिका का भार सह तू।"

वस्तुतः सबको वहाँ उसका स्मरण था,

कष्ट-कीलक वह कवच चिन्ता-हरण था।
दीर्घ कन्धों पर चढ़ाये द्रौपदी को,
लाँघता वह सहज कुल्या कह नदी को।
"अम्ब, ऊँचे फल मुझे अब तोड़ देना,
सूँघती हो फूल तुम सो आप लेना!
श्रवण तो मैं बन गया हूँ आज आधा,
किन्तु दशरथ-बाण की है पूर्ण बाधा।"
"चुप, अरे, ऐसा विनोद भला नहीं है।"
"अम्ब, मुझमें सरल सत्य, कला नहीं है!
कौरवों के हैं सुने वे कर्म जब से,
हो रहे हैं बिद्ध मेरे मर्म तब से।
अनृत लगता है मुझे जीना जगत में,
मैं समाना चाहता हूँ शुद्ध सत में।
किन्तु माँ, यों ही नहीं यह जन मरेगा,
प्रथम, जो कर्त्तव्य है, उसको करेगा?"
"वत्स, तू तो कर रहा है बाध्य मुझको
सोचने को—क्या क्षमा ही साध्य मुझको?"
"माँ, क्षमा है दण्ड में ही पापियों की,
अन्यथा अभिवृद्धि पर-सन्तापियों की।"
"वत्स, तब जी तू इसी के अर्थ जग में
बन्धनों की मुक्ति तो है एक डग में!
देख वह मधु-चक्र तू जी तो जुड़ाना,
पर कृपा कर मक्षिकाएँ मत उड़ाना!"

मार्ग ही राक्षस न आगे थे बनाते,
कन्द मूल फलादि भी वे खोज लाते।
किन्तु देख प्रचण्ड आँधी और पानी,
एक दिन कल्पान्त ने भी हार मानी!
ले उठी थी भूमि उर्ध्वश्वास उखड़ा,
रो उठा था व्योम का प्रति रोम दुखड़ा!
घोर हाहाकार दोनों कर रहे थे,
तिमिर में सब जन्तु जीते मर रहे थे!
राक्षसों ने कोट-सा अपना बनाया,

और ज्यों त्यों कर नरों ने त्राण पाया।
आपको भी देख पाता था न कोई,
गिर स्वयं बिजली कहीं थी आज खोई?
उपल की-सी कठिन जल-धारें विषम थीं,
कंकरों की कोटि बौछारें विषम थीं।
अब महागिरि भी कहाँ तक थिर रहेगा?
दो भयों में पड़ उड़ेगा वा बहेगा?
भाग्य से ही घूम दायें और बायें
गिर रही थीं टूट कर लघु-गुरु शिलायें।
मृत्यु को थी आज सबकी प्राण-तृष्णा,
प्रथम मरने को हुई हतचेत कृष्णा।
"पुण्य-पथ में मरण भी मंगल हमारा!"
धर्मधन बोले—"यही तो धन हमारा।"
याज्ञसेनी पर उन्होंने हाथ फेरा,
अन्त में मिटने लगा उनका अँधेरा।
पौ फटी, स्थिर हो प्रकृति फिर मुसकराई,
और सबने सहज सुख की साँस पाई।
शान्ति धारण की मरुद्गण ने, वरुण ने,
स्वर्ण-पट सबको दिया आकर अरुण ने।
"तू न होता आज, क्या होता न जाने।"
"कौन माँ है, जो न बेटे को बखाने?
किन्तु तुमने आह! मेरी पीठ ठोकी!"
जो हँसी आयी घटोत्कच ने न रोकी।
बदरिकाश्रम पहुँच वे सब कष्ट भूले,
गन्धमादन के फलों के बीच फूले।

एकदा वन में वृकोदर थे विचरते—
विमन-से वे हो गये कुछ ध्यान करते।
एक अजगर ने उन्हें इस बीच घेरा,
और चौंका कर चलित-सा चेत फेरा।
निकट थे अग्रज, चिहुँक सुन दौड़ आये,
ग्रस्त उनको देख आकुल अकचकाये।
पर सँभल बोले—"सरीसृपराज, सुन लो,

भीम को दो मुक्ति वा निज मृत्यु चुन लो।
हम नहीं वे नर, जिन्हें वन जन्तु खा लें,
निहत भी हम भानु-मण्डल भेद डालें?
लाभ क्या हमको तुम्हारे मारने से?
काम है निज प्राण-धन ही धारने से।''
''साधु साधु! परम्परा मेरी बनी है,
आज उसमें धर्मनन्दन-सा धनी है।''
वत्स, तुमको देख मेरा शाप छूटा,
मैं नहुष पूर्वज तुम्हारा, पाप छूटा।
लोक में करनी रही मेरी अधूरी,
तात, करनी है तुम्हें वह आप पूरी।
नत हुए अग्रज अनुज यह सुन सजल-से!
''तात, हमको मिल गये तुम तीर्थ-फल-से।
दर्शनों का लाभ यह लेकर फिरें हम,
यों उठें, जिसमें न फिर उठ कर गिरें हम।''

धर्म-कर्म सुगांग तट पर सांग करते,
बाट में वे थे धनंजय की विचरते।
चौंक उठती द्रौपदी कुछ बात कहते,
श्रुति-नयन उसके सदा सोत्कण्ठ रहते।
घ्राण ने भी सजगता उस दिन दिखाई,
सुरभि उसको खींच गंगातीर लाई।
कमल एक सहस्रदल उसने निहारा,
रूप-गन्ध-सुवर्ण पर क्या कुछ न वारा।
प्रिय पुरोगम-सा उसे प्यारा लगा वह!
धूपमय निर्धूम दीपक-सा जगा वह।
पैठ कर जल में उसे उसने उठाया,
स्वामि-योग्य अपूर्व यह उपहार पाया।
लौट झट उसने युधिष्ठिर को दिया वह,
चकित हर्षित हो उन्होंने भी लिया वह।
''मूल सह कुछ और ऐसे फूल पाती,
तो उन्हें अपने यहाँ भी मैं लगाती!
पर न हो यह हेम-मृग ही अन्य कोई!

तो इसे लेकर न होगा धन्य कोई!"
मुसकराई द्रौपदी हँस भीम बोले–
"किन्तु क्यों प्रिय प्राप्य छोड़े जूझ जो ले!
तुम रहो निश्चिन्त, मैं बढ़ खोज आऊँ,
यत्न में ही रत्न है, तो क्यों न पाऊँ?"

भीम थे वे आप, किसका भय उन्हें था?
वे जिधर भी जायँ जय ही जय उन्हें था।
किन्तु सम्मुख कौन वह पथ में पड़ा था?
चकित थे वे, वृद्ध भी कितना बड़ा था!
"कौन नर-वानर विलक्षण है अरे तू?
मार्ग है यह, घर नहीं है, हट परे तू।"
वृद्ध ने यह सुन अलस-से पलक खोले,
और मुख से व्यंग के ही बोल बोले–
"मार्ग! पर परलोक का ही मार्ग यह तो,
क्यों स्वजीवन से उठा तू ऊब, कह तो?
तरुण है तू, लौट घर जा, भोग भव को,
नष्ट मत कर, कष्टकर माँ के प्रसव को।"
"ठहर, मैं आया नहीं उपदेश सुनने,
लाख काँटों में मुझे हैं फूल चुनने।"
"वृद्ध का अपमान, अच्छा शिष्ट है तू!
चपल यौवन से अहा! आविष्ट है तू।
कह दिया मैंने, रुचे सो कर भले तू,
अप्सरा ही इष्ट है तो मर भले तू!
किन्तु अपने गर्व को कुछ तो घटा दे,
हट नहीं पाता स्वयं मैं, तू हटा दे।"
झपट पूरा बल लगाकर ठेल-ठिलकर,
भीमसेन उसे हटा पाये न तिल भर।
"हो न हो, तब तुम स्वयं हनुमान ही हो,
हाँ, वही हो तुम, नहीं अनुमान ही हो।
मैं तुम्हारा अधम अपराधी अनुग हूँ,
देख-सा सम्मुख रहा गत-विगत युग हूँ,
अब उड़ो अथवा मुझे यों ही उड़ाओ,

किन्तु तब जानूँ, चरण तुम भी छुड़ाओ!"
"भीम, सचमुच आज मैं सुख मानता हूँ,
पर तुम्हारा दुःख भी मैं जानता हूँ।
पैर छोड़ो और मुझको भूरि भेटो,
अनुज, निज विस्तृत भुजों में भर समेटो।
है युधिष्ठिर की युगोपरि धर्मनिष्ठा,
पायगा राजत्व ही उनसे प्रतिष्ठा।
युद्ध में तो सम्मिलित अब मैं न हूँगा,
पर धनंजय के रथध्वज पर रहूँगा।
भूमि पर जब तक बनी है रामचर्चा,
ले रहा हूँ मैं उसी में आत्म-अर्चा।
रूप रहते भी लिया है नाम मैंने,
जो किया सो राम का ही काम मैंने।
मिलन भी उत्सुक भला, प्रस्थान शुभ हो,
द्रौपदी के अर्थ यह अभियान शुभ हो।
कठिन उसका व्रत, कहें कुछ क्यों न अनयी,
एक प्रभु, पति और प्रिय, दो दिव्य प्रणयी!
मार्ग दुर्गम है, इधर की ओर जाओ,
यक्ष-रक्षित धनद-सर के पद्म पाओ।"
"हम सभी कृतकृत्य और विशेष कर मैं,
सहज पा ही-सा गया अब पद्म-सर मैं।
भाग्य थे मेरे, तभी तो आज जागे।"
नत हुए फिर बढ़ गये झट भीम आगे।

विघ्न जो पथ में पड़े सचमुच बड़े थे,
तदपि वे उस पद्म-सर-तट पर खड़े थे।
बाल-रवि-से कंज कितने खिल रहे थे,
शुचि सलिल की थपकियों से हिल रहे थे।
भ्रमर उड़ उनके डिठौने हो रहे थे,
वस्तुतः वे आप टौने हो रहे थे।
भीम ने घुसकर जहाँ डुबकी लगाई,
एक पल में ही अपूर्वस्फूर्ति पाई।
यक्ष-दल ने जो उन्हें सहसा विलोका,

"कौन है तू धृष्ट!" टोका और रोका।
"नाम तो है भीम, रूप समक्ष मेरा,
पद्म चुनना ही यहाँ प्रिय लक्ष मेरा!"
"किन्तु यह क्रीड़ा-सरोवर है धनद का।"
"मान मुझको भी वही इस हृद्य ह्रद का।
गति जहाँ जिसकी, वहीं है भाग उसका,
प्राप्य है जो, मैं करूँ क्यों त्याग उसका?
अवनि-अनलानिल-सलिल-आकाश सबके,
अन्यथा सब लोक पाते नाश कबके।"
हो गयी तब एक छोटी-सी लड़ाई,
और उनको ही मिली उसमें बड़ाई।
वे जहाँ लौटे, बजे आकाश-आनक,
आ मिले सुरलोक से अर्जुन अचानक!

द्रौपदी और सत्यभामा

देवों से अजेय दैत्यों पर विजय पार्थ ने पाई,
उससे दिव्यायुध-शिक्षा की गुरु-दक्षिणा चुकाई।
तीर्थों में ही नहीं, उन्हीं के द्वारा नन्दन वन में,
विचर कृतार्थ हुए-से पाण्डव फिरे द्वैत कानन में।

उनके आने तक ही मानो वर्षा रुकी खड़ी थी,
तप के पीछे ही आ सकती ऐसी सुघर घड़ी थी।
लेकर सुख की साँस स्वस्थ थी आगतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह धनिका।
झुके घनों को लेने गाढ़ा धुआँ उठा उटजों से,
दिया अर्घ्य-सा आर्द्र विपिन ने निज प्रस्फुट कुटजों से।
छप्पर में गोधन सँभालकर वृद्ध कृषक भी गाया—
"आ जा घटा, पूर घट सबके, छा जा मेरी छाया!"
रिम झिम रिम झिम रस की बूँदें बरसीं जो ऊपर से,
उठा पुलक रोमांच आप ही एक साथ भू पर से।
उठी गन्ध-गुणमयी मेदिनी पावस के स्वागत में,
धूल झाड़ ठण्डा हो मारुत निरत हुआ निज व्रत में!
फहरीं शान्ति-ध्वजाएँ, लहरीं कल कन्दली-कदलियाँ,
खिलीं पल्लवों के हाथों में हँस कदम्ब की कलियाँ।
प्रस्तुत हुईं आम-जामुन की सजी डालियाँ-डलियाँ,
मुकुट चन्द्रिकाएँ रच लाईं नाच मयूरावलियाँ।
उग आये बोये-अनबोये धान्य धन्य धरती के,
गोरस की धारों में महके तृण विशेष परती के।
डोरे डाल फूलती-फलती बढ़ीं वीचि-सी बेलें,

चढ़ अपनी ही उपशाखाएँ उच्चस्थान न ले लें!
झड़ीं चंचला की कवरी से मोती की-सी लड़ियाँ,
जोड़ जिन्होंने दीं टूटी-सी जलाशयों की कड़ियाँ।
छूटीं नभ में बिखर वकों की झक झक कर फुलझड़ियाँ,
दौड़ी-सी आयीं नदियों की सिन्धु-मिलन की घड़ियाँ!
प्रिय से यह प्रिय लगा प्रिया को प्रिय अब जा न सकेंगे!
हुआ विरह से विषम वधू को, वर घर आ न सकेंगे।
दूर कहीं से पिक-केकी को नयी कूक उठ आयी,
चौंक, स्वप्न से भी वियोगिनी गयी हूक उठ आयी।
उठे बाँस ऊपर के जल की थाह लगा लेने को,
छिपे कन्द भी उझके अपनी चाह जगा देने को।
मग्न हुआ-सा वासर अपनी सारी सुध-बुध भूला,
धार पवन आसार-जोतियाँ झोंके लेकर झूला।
मोद-मंगलाचार हो उठे, बँधी चतुर्दिक दूबा,
पी पी कर चहकीं चातकियाँ, रस में कौन न डूबा?
चकाचौंध भरकर चपला ने जब द्रुत लय की अति की,
धीर ताल में घन-मृदंग ने तब उसकी संगति की!
अन्न-वस्त्र सब छाया में भी पुरवैया से ऊदे,
रुके जहाँ के तहाँ पथिक जन, दादुर उछले-कूदे।
भरे सलिल से बिल, किलबिल कर निकल सरीसृप डोले,
पुलक कण्टकित केतकियों ने सौरभ-सम्पुट खोले!
यौवन के कुम्भों में मद भर घनी घटाएँ घुमड़ीं,
ग्राम दिखाई दिये द्वीप-से, जल-धाराएँ उमड़ीं।
कादम्बिनी-स्पर्श से गिरि ने गैरिक धारा त्यागी,
अथवा अपना राग जताने चला अचल अनुरागी!
श्वान-शृगाल डरे चिल्लाये खड्ग भरे कौंधे से,
चरने लगे महिष-वृष पल भर होकर चकचौंधे-से।
छिपे पड़े थे झाड़ी में जो सिंह वृष्टि के कारण,
निकल पड़े घन-गर्जन सुनकर, निकट न हो वर वारण।
समतल कर दी भूमि शस्य ने लेकर लहर पवन में,
लगी पर्ण-कुटियाँ नावों-सी हरित सिन्धु-से वन में।
मार्कण्डेय सदृश ऋषियों से सुनकर पुण्य-कथाएँ,
व्रती पाण्डवों ने पूरी की ऋतु की पर्व-प्रथाएँ।

जल बरसा कर चित्राम्बर ने फिर मोती बरसाये,
भरीं उषा की नलिनांजलियाँ, गये हंस फिर आये।
पथ का पंक सूर्य ने सोखा, अमृत चन्द्र ने सींचा,
कनक कलम लेकर सुकाल का चित्र प्रकृति ने खींचा!
पांचाली झुक शेफाली के फूल चली जब चुनने,
सानुराग हँस उन जैसे ही वचन कहे अर्जुन ने—
"प्रिये, प्यार से दिये हुए वे इन्द्राणी के गहने.
क्यों न तुम्हारे अंग आज इस उत्सव के दिन पहनें?
"पर इन केशों का क्या होगा?" कहा प्रिया ने सहसा,
पर सुनने में स्वयं उसे वह लगा आज दुस्सह-सा।
"क्षमा करो प्रिय, तुमने सब कुछ मेरे लिए किया है,
मैं क्या करूँ, न जाने मेरा कैसा कठिन हिया है।"
"नहीं, भूल थी यह मेरी ही, तुमने ठीक कहा है,
अब भी समय नहीं आया वह, यद्यपि पहुँच रहा है।"
"तब तक मुझे स्वर्ग की ही कुछ बातें और सुनाओ,"
"यही स्वर्ग का गुण है, उसमें नित्य नयापन पाओ।"
"इसीलिए क्या मुझे सजाकर नया बनाते थे तुम?
निज अतृप्ति में भी करुणा-वश मुझे मनाते थे तुम?"
"तुमसे सदा अतृप्त रहूँ मैं, यही कामना मेरी।"
"इससे अधिक और क्या चाहे यह चरणों की चेरी?
किन्तु नाथ, भव तो भव ही है, वह दिव कैसे होगा?
सुन सकती हूँ क्या मैं, तुमने उसको कैसे भोगा?"
"नहीं भूलता यह मुख मुझको, चाहे जहाँ रहूँ मैं।"
"इसको निज सौभाग्य कहूँ वा निज दुर्भाग्य कहूँ मैं?
मेरे कारण रह न सके तुम सुरपुर में भी सुख से।"
"फिर भी मेरा मुख न मिले क्या प्रिये तुम्हारे मुख से?"
"किन्तु अमृत तो यहाँ नहीं है, रहो, वहीं वह छूटा,
दोष तुम्हारा ही है तुमने उसे नहीं यदि लूटा।"
"प्रिये, 'नहीं' क्यों मुझे दोष ही जब तुम लगा रही हो?
मुझे लुटेरा कहो, आपको तुम क्यों ठगा रही हो?"
"अमरी नहीं मरी हूँ मैं तो!" "समझा कसक तुम्हारी,
मान्य शची-सी ही थीं मुझको सुरांगनाएँ सारी,
किन्तु उर्वशी से मैंने वर छोड़ शाप ही पाया,
विफल हुआ जो राग जहाँ भी वहाँ द्वेष ही लाया।

पर अज्ञातवास में हमको हितकर होगा वह भी।''
स्तब्ध हुई सुन द्रुपद-नन्दिनी, सकी न वह कुछ कह भी।
फिर गद्‌गद हो स्वयं पार्थ से लिपट गयी वह कसके,
मिला स्वयं, वे रागी थे जिस परिरम्भण के रस के।
पलटा पृष्ठ उसी ने ''तुमको सुरपुर कैसा भाया?''
''ईश्वर की ईश्वर ही जानें, वहाँ अनोखी माया!''
''पर मैं पृथिवी-पुत्र, अन्त में जगती ही गति मेरी,
जहाँ साधना है इस तनु की रहे वहीं रति मेरी।''
''देवों के चरित्र में तुमने लोकोत्तर क्या पाया?''
''अग्रज के प्रति अपनी श्रद्धा मैं दुगुनी कर लाया!
उनको भी इनका गौरव है, मुझको यही लगा है।''
''तुमसे यह सुन कर मुझमें भी नूतन गर्व जगा है।''
''फिर भी अद्‌भुत एक स्वप्न था, जो यह मुझको दीखा,
गन्धर्वों का गुण भी मैंने कुछ विनोद-वश सीखा।''
''अहा! इसी में तो मेरी रुचि, नचो न कुछ, मैं देखूँ,
ताण्डव अथवा लास्य, स्वर्ग का लाभ यहीं मैं लेखूँ।''
''पहले सिंहासन आने दो, तब अनुशासन करना!''
''मैं तो सदा तुम्हारी रानी, तुम इससे न मुकरना!''
''सचमुच यह अपराध हो गया।'' ''तो कुछ दण्ड चुकाओ,
नृत्य नहीं तो आज स्वर्ग का एक गीत ही गाओ।
सुख ही सुख है जहाँ, वहाँ का तुमसे गान सुनूँ मैं,
बिना वेदना की कैसी है, कोई तान सुनूँ मैं।''
''गान स्वर्ग का किन्तु कण्ठ तो इसी कठिन धरती का,
होगा नहीं कार्य यह मेरा क्या कोरा भरती का?
किन्तु सुनो रथ-शब्द, अहा! श्रीकृष्ण आ रहे जैसे!''
उठ दोनों ही गये कुंज से आतर-उत्सुक ऐसे।

हरि के साथ सत्यभामा भी मिलने को आयी थी,
स्वागत करती हुई द्रौपदी सचमुच सकुचायी थी।
''नहीं तुम्हारे योग्य यहाँ आसन भी, फिर क्या सज्जा?
प्रस्तुत है मेरा तन मन ही लेकर कोरी लज्जा।''
''पुण्य तीर्थ-यात्रा यह मेरी, कितनी स्वच्छ कुटी है,
प्रासादों की तड़क भड़क सब इस पर आप लुटी है।

वहाँ ऊबकर ही मानो मैं तुमसे मिलने आयी,
अपनी इष्ट-सिद्धि-सी तुमको पाकर मैंने पायी।
कहा सुभद्रा ने प्रणाम है, प्रिय अभिमन्यु भला है,
अच्छे सभी तुम्हारे बच्चे, क्रम सब ठीक चला है।
अपने से पहले पाँचों का ननद ध्यान रखती हैं,
और एक ही रस में मानो वे षड्रस चखती है!''
''औरस जननी वत्सलता-वश औरों की भी धात्री,
मिला स्वयं उसको किससे क्या, वह दात्री ही दात्री।''
तुम उससे मेरी असीस कह यही सँदेसा कहना—
'टुक अपने को भी औरों के लिए देखती रहना।'—
''उनके मत में उन्हें तुम्हीं ने अपना भाग दिया है,
द्वेष-रहित अनुराग दिया है और सुहाग दिया है।
आयी हूँ मैं भी तुमसे कुछ आज माँगने को ही,
शुभे, हो उठा है मेरा मन मुझसे ही विद्रोही!''
''सखि, माधव-सा धन पाकर भी इष्ट और क्या तुमको?
तिक्त तुम्हारा मन क्यों, उनसे मिष्ट और क्या तुमको?''
''जो निधि मुझे मिला, जगती में मिलता है वह किसको,
किन्तु उसे रख सकूँ यथा विधि, नहीं जानती इसको।
अहो! एक को ही जब मानो मैंने रुष्ट किया है,
पाँच पाँच देवों को तुमने कैसे तुष्ट किया है?
कौन यातु-विद्या है ऐसी, कृपया मुझे सिखा दो,
यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादिक जो हो मेरे योग्य, लिखा दो।''
''रहो, यातु-विद्या पर तुम यों अपने को न बिकाना,
मेरी बहन हिडिम्बा है पर तुमको कहाँ ठिकाना?''
हुई सत्यभामा हतमति-सी, हँसी द्रौपदी, बोली—
''नहीं जानती थी मैं आहा! तुम हो इतनी भोली।
टुटपुँजिये हैं, जो टौने की माया पर मरते हैं,
क्या कर सकते हैं वे कायर, जो तप से डरते हैं।
मेरी तुच्छ कुटी जो तुमको सहज स्वच्छ-सी सूझी,
इसके लिए स्वकटि कसकर मैं झाड़ू लेकर जूझी।
बाहर चूर चूर होकर नर बहुधा घर आता है,
नारी का मुख वहाँ निरख वह फिर नवता पाता है।
यदि ऐसा न हुआ तो समझो दोनों बड़े अभागी,
दोनों की ही सद्गृहस्थता अब भागी तब भागी।

कच्चे-पक्के घर विभिन्न हों, पर अभिन्न हैं प्राणी,
आगे-पीछे मिलता ही है सबको भोजन-पानी।
किन्तु हमारे मधुर भाव के राव-रंक सब भूखे,
इतना भी न परोस सकें हम तो सुहाग रस सूखे!
जब बाहर आती हैं तब हम सज बज कर आती हैं,
घर भीतर ऐसी वैसी ही बहुधा रह जाती हैं।
पूरा न हो, किन्तु यह आधा उलटा चलन हमारा,
घर के वर के लिए वधू का साज बाज है सारा।
दास-दासियाँ दिखलाते हैं कोरी प्रभुता जन की,
सखि, सच्ची सँभाल हमको ही करनी है निज धन की।
अपना जितना काम आप ही जो कोई कर लेगा,
पाकर उतनी मुक्ति आप वह औरों को भी देगा।

प्रकट किया बहु करपीड़न में पौरुष-दर्प नरों ने,
उसका विनिमय मुझे दिया है मेरे पाँच वरों ने।
किया विनय पूर्वक ही निर्भय जो कुछ किया उन्होंने,
स्वयं साक्षिणी मैं, स्मरहर-सा विष यह पिया उन्होंने।
मेरी उनकी बात छोड़ दो, उसकी बड़ी कथा है,
किन्तु तुम्हारे लिए हृदय से होती मुझे व्यथा है।
फिर भी उचित मन्त्र दूँगी मैं, क्यों यह क्षोभ तुम्हें है?
कारण, अपने रूप-गुणों के फल का लोभ तुम्हें है?
नारी लेने नहीं, लोक में देने ही आती है,
अश्रु शेष रखकर वह उनसे प्रभु-पद धो जाती है।
पर देने में विनय न होकर जहाँ गर्व होता है,
तपस्त्याग का पर्व हमारा वहीं खर्व होता है।"

वन-वैभव

"तुम्हारे भाई बेचारे,
जुए में जो सब कुछ हारे,
विपिन में दीन भाव धारे,
भटकते हैं मारे मारे।
खबर लें उनकी चलो जरा,
कि वन में होगा हृदय हरा।"

"खबर की तुमने एक कही,
उचित है मामा, हमें यही।
पिता की आज्ञा किन्तु रही,
वहाँ मृगया ही मुख्य सही।"
कर्ण ने कहा—"धन्य लक्षी,
एक ढेले में दो पक्षी!"

विकट यह तीन टिकट मिल के,
हँसा फिर खिल खिल कर खिल के
हिलोरें-सी ले हिल हिल के
ताड़-से करके तिल तिल के
सफल करने अभिलाष नया,
अन्ध नृप-निकट तुरन्त गया।

कहा दुर्योधन ने—"हे तात,
लगी है कुछ सिंहों की घात।
विपिन में है उनका उत्पात,
जहाँ है अपना पशु-संघात।

करेंगे हम मृगया वन में,
घोष-यात्रा की है मन में।"

सुना भूपति ने 'हूँ' करके,
"ठीक है" कहा आह भर के।
"हेतु हैं किन्तु वहाँ डर के,
विचारो तुम्हीं ध्यान धर के।
वहीं पाण्डव भी रहते हैं,
दुःख मन ही मन सहते हैं।

देखकर तुमको सम्मुख हाय!
क्रोध उनका न कहीं जग जाय,
रहेगा तो फिर कौन उपाय?
न समझो तुम उनको असहाय,
शक्ति उनकी है सबको ज्ञात,
सुरों में भी है यश विख्यात।"

शकुनि ने कहा—"व्यर्थ यह सोच,
प्रबल हों वे वा पूरे पोच,
कहूँगा यह मैं निस्संकोच,
नहीं है उनके मन में मोच,
न हो जब तक अज्ञात निवास,
करेंगे वे न विरोधाभास।"

भूप को देकर यों सन्तोष,
साथ लेकर बहु जन, धन-कोष,
दैव का लिये अलक्षित रोष,
घोष-यात्रा का करके घोष,
जले पर नमक छिड़कने हाय,
चला वह कुरुकुल का समुदाय।

शान्त वन भी तब नगर बना,
वहाँ जब शिविर-समूह तना,
उठा कोलाहल घोर घना,

हुए सब खग-मृग भीतमना,
जिधर पाण्डव थे, वे भागे,
खबर-सी देने को आगे।

आज पाण्डव वन-वासी हैं,
पास वे दास न दासी हैं,
न भोगी हैं, न विलासी हैं,
उदासी हैं, संन्यासी हैं,
कहाँ वे विभव विलीन हुए?
देशपति जो थे, दीन हुए।

द्रुमों की छाया है गम्भीर,
बने हैं सुन्दर पर्ण-कुटीर,
निकट ही लहराता है नीर,
शान्त रहते हैं पाँचों वीर,
धर्म-धन की ही तृष्णा है,
साथ कल्याणी कृष्णा है।

हाय! वह कृष्णा कल्याणी,
शेष है बस जिसमें वाणी,
कि जो थी कभी महारानी,
स्वयं अब भरती है पानी,
किन्तु है मन में मान वही,
आन हो कि न हो, बान वही।

सती पति-सेवा करती है,
अतिथियों का श्रम हरती है,
भव्य भावों को भरती है,
धर्म्म अपना आचरती है,
किन्तु होकर क्षत्रियभार्या,
दुःख भूले क्या वह आर्या?

पार्थ ने तप कर मन भाया,
विजय-वर शंकर से पाया,

शूर वह सुरपुर हो आया,
वहाँ से दिव्यायुध लाया,
यत्न यों उनके जारी हैं,
विरत कब वे व्रतधारी हैं?

वहाँ बहु ऋषि-मुनि आते हैं,
विविध व्याख्यान सुनाते हैं।
शान्ति उनसे सब पाते हैं,
कुदिन यों कटते जाते हैं,
पुरोहित हैं उनके जो धौम्य,
कराते हैं सुयज्ञ वे सौम्य।

देखकर कौरव-दल भय-भीत,
भगे जो मृग-विहंग कलगीत,
जान निज शरण उन्हें सुविनीत,
हुए चिन्तित वे परम पुनीत,
तभी आये कुछ वनचारी,
उन्होंने कथा कही सारी।

सिहर-सा उठा अशेष समाज,
द्रौपदी बोली तब सव्याज—
"भाइयों की सुध लेने आज
पधारे हैं कौरव कुल-राज!
मिलूँगी पर मैं कैसे, हाल,
खिंचा है चीर, खुले हैं बाल!"

"उचित आतिथ्य करूँगा मैं,
हीनता सभी हरूँगा मैं।
भीम हूँ, कहाँ डरूँगा मैं,
आज सब विघ्न तरूँगा मैं,
हँसे वे, मैं मुँह तोड़ूँगा,
न जीता उनको छोड़ूँगा!"

फेर कर तब धीरज के साथ,
भाइयों की पीठों पर हाथ,
विश्व-विश्रुत गुण-गौरव-गाथ,
बोलने लगे पाण्डु-कुल-नाथ--
"शान्त हो भाई, कृष्णे, शान्त,
न हो आतुर तुम यों एकान्त।

करें तो कर लें वे उपहास,
पूर्ण हो ले अज्ञात निवास,
जायँगे तब हम उनके पास,
और फिर माँगेंगे निज न्यास,
उसे यदि देंगे वे हित मान,
क्षमा पावेंगे बन्धु-समान।

किन्तु यदि वे हठ ठानेंगे,
न्याय की बात न मानेंगे,
समझ रक्खें, तो जानेंगे,
हमें रण में पहचानेंगे।
राज्य के नहीं, धर्म के अर्थ,
उठेंगे तब निज शस्त्र समर्थ।

शान्त हो भाई, कृष्णे, शान्त;
न हो आतुर तुम यों एकान्त।
अभागा दुर्योधन है भ्रान्त,
न हो निज सहनशीलता श्रान्त।
तुम्हें है क्रोध, मुझे है खेद,
नहीं है उसे हिताहित भेद।"

इधर कौरव दल गौरव धार,
विपिन में करने लगा विहार।
गूँजने लगी गान-गुंजार,
नूपुरों की नव नव झंकार।
कहीं कुंजों में क्रीड़ा भेट,
कहीं जल-केलि, कहीं आखेट।

उसी वन में था एक तड़ाग,
जहाँ उड़ता था पद्म-पराग।
वहाँ का हरा-भरा भू-भाग,
आप उपजाता था अनुराग।
चौखटे में ज्यों हरे जड़ा,
धरा पर हो सुर-मुकुर पड़ा?

चाँदनी छिटकी थी उस रात,
विचरता था वासन्तिक वात।
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
वारि में बहु विधु थे प्रतिभात।
सरस सर की निहार शोभा,
सुरों का मानस भी लोभा।

अप्सराओं को लेकर संग,
नैश निस्तब्ध भाव कर भंग,
बहाता हुआ रास रस रंग,
चित्ररथ भरे अपूर्व उमंग,
चन्द्र-तारों को दे व्रीड़ा,
वहाँ करता था जल-क्रीड़ा।

अचानक इसी समय अनिवार
विपिन में करता हुआ विहार,
झूमता हुआ कुंजराकार,
साथ में लिये, प्रणय-परिवार,
स्वयं भी जल-विहार के हेतु,
वहाँ पर आ पहुँचा कुरु-केतु।

उसे गन्धर्वों ने टोका,
तर्जनी दिखलाई, रोका;
तनिक-सा खाकर तब झोका,
क्रोध से उसने अवलोका।
उठी जो उसकी भृकुटि कराल,
खिंची सौ तलवारें तत्काल।

हुआ गन्धर्वों पर आघात,
चित्ररथ तक पहुँची यह बात
कि कोई उद्धत मानव-जात
मचाता है आकर उत्पात।
सिन्धु से उच्चैःश्रवा-समान,
हुआ सरनिर्गत वह बलवान।

अप्सराएँ पुष्करिणी - सी,
देख भय बाधा करिणी - सी,
विकल हो हहरी हरिणी - सी,
काँपती थीं सब तरिणी - सी।
हाथ से देकर उन्हें प्रबोध,
चित्ररथ चला गया सक्रोध।

पहुँच दुर्योधन सम्मुख शूर,
घोर नेत्रों से उसको घूर,
कूकता हो ज्यों कुपित मयूर,
वचन बोला सुस्वर से कूर—
"कौन है तू, ओ उद्धत, धृष्ट,
यहाँ जो आया मरणाकृष्ट?"

सुयोधन भी बोला सक्रोध—
"ज्ञात क्या तुझको नहीं अबोध!
कि करके जिसका मार्ग-निरोध,
किया है तुमने आत्म-विरोध।
वही इस पृथ्वी का स्वामी
सुयोधन नृप हूँ मैं नामी।"

"अरे, तू ही दुर्योधन है,
दुष्ट-दाम्भिक जो दुर्जन है,
अनुज जिसका दुःशासन है,
प्रकट जिसका पामरपन है,
भाइयों को भिक्षुक करके
बना नृप उनका धन हरके?

मानता हूँ, तू है नामी,
किन्तु कुल-काल, कुपथगामी।
आज इस पृथ्वी का स्वामी
बना फिरता है तू कामी।
पकड़ रखना तू इसका हाथ,
सती होगी यह तेरे साथ!

मूढ़ तुझ-से कितने भूपाल
हुए, हैं, होंगे विपुल विशाल।
किन्तु सबसे पीछे है काल,
रहा इसका ऐसा ही हाल।
बहुत है यही, कहूँ क्या और,
तुझे भी है जो इस पर ठौर।

समय है अब भी चेत अचेत,
नहीं तो उजड़ जायगा खेत।
धर्म-पथ धर कर धैर्य समेत,
लौट जा जीवित नृपति-निकेत।
हुआ था यद्यपि मुझको रोष,
क्षमा करता हूँ तेरा दोष।"

"तुझे तो पर मैं दूँगा दण्ड,
रहे कोई भी तू पाषंण्ड!
सँभल, अब यह मेरा कोदण्ड,
छोड़ता है चंचल शर चण्ड।"
बाण यों कहते कहते जोड़
दिया द्रुत दुर्योधन ने छोड़।

किये कर्णादिक ने भी वार,
चित्ररथ सँभला किसी प्रकार।
किये उसने भी विषम प्रहार,
कर्ण ही भागा पहले हार।
वीर ने किये बिना विक्षेप,
किया सम्मोहन शर-निक्षेप।

शीघ्र उस शर का पड़ा प्रभाव,
हुआ सब कौरव-दल हतहाव।
चढ़ा तब गन्धर्वों को चाव,
उन्होंने किया विकट बर्ताव।
मुख्य रिपुओं को आ पकड़ा,
विमानों से बाँधा-जकड़ा।

कौरवस्त्रियाँ देख यह हाल,
पीटने लगीं वक्ष वा भाल।
विकल थे कौरव क्रुद्ध कराल,
सिंह ज्यों तोड़ न पाकर जाल।
हुआ कातर कोलाहल नाद,
शिविर तक पहुँचा यह संवाद।

वहाँ थे वृद्ध सचिव वा दास,
व्यर्थ था उनका रणप्रयास।
विवश होकर लेकर निःश्वास,
चले वे धर्मराज के पास।
किन्तु लज्जित थे मन मन में,
पुकारें और किसे वन में?

भाइयों सहित द्रौपदी संग,
पार्श्व में रक्खे चाप निषंग,
सुनाकर सुन्दर कथा-प्रसंग,
दिखाते हुए धर्म के अंग,
यज्ञ-वेदी के सम्मुख शान्त
युधिष्ठिर बैठे थे विश्रान्त।

अचानक हुआ करुण-चीत्कार—
"दुहाई धर्मराज के द्वार।
कहें कैसे, हे परमोदार,
बचाओ अपना कुरु-परिवार।"
चौंक कर पाण्डव खड़े हुए,
सचिव थे पैरों पड़े हुए।

"विजित हैं बन्धु आपके सर्व,
उन्हें हैं बाँध चुके गन्धर्व।
शकुनि, कर्णादिक का भी गर्व
हो गया रण में सहसा खर्व।"
शत्रुओं का सुन यों अपकर्ष,
वृकोदर बोले शीघ्र सहर्ष–

"शूर-मद था उनको भरपूर,
हुआ वह आज अचानक चूर।
चलो, हम सबके काँटे क्रूर
हुए ऊपर के ऊपर दूर!
लड़ें उनके पीछे हम क्यों?
करें प्रतिकूल परिश्रम क्यों?

कहो उनसे, अब धैर्य धरें,
विमानों में बिचरें, न डरें।
जायँ, सुरपुर में भ्रमण करें,
स्वर्ग का भी साम्राज्य हरें।
स्वर्ग यदि न भी मिलेगा हाल,
नरक कोई न सकेगा टाल!"

भीम के ऐसे भाव विलोक,
हुआ पाण्डव-पति को अति शोक।
सके वे और न मन को रोक
और यों बोले उनको टोक–
"भीम, शरणागत का अपमान?
कहाँ है आज तुम्हारा ज्ञान?

कौरवों ने जो अत्याचार
किये हैं हम पर बारम्बार,
करेंगे उनका हमीं विचार,
नहीं औरों पर इसका भार।
क्रूर कौरव अन्यायी हैं,
हमारे फिर भी भाई हैं।

जहाँ तक है आपस की आँच,
वहाँ तक वे सौ हैं, हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच,
गिने तो हमें एक सौ पाँच।
कौन हैं वे गन्धर्व गँवार,
करें जो आकर यह व्यवहार!

वीरता इसे नहीं कहते
कि हम-से पाँच पाँच रहते,
विपद में बन्धु फिरें बहते,
और हम रहें इसे सहते।
दण्ड उनको देने के अर्थ
नहीं हैं हम क्या स्वयं समर्थ।

वत्स अर्जुन, सत्वर जाओ,
और तुम उन्हें छुड़ा लाओ।
शत्रु समझो तो भी आओ,
द्विगुण जय यों उन पर पाओ।
भीम, सहदेव, नकुल, सब लोग
करो जाकर समुचित उद्योग।''

कहा अर्जुन ने—''जो आदेश,
किन्तु सब लोग करें क्यों क्लेश?
द्रौपदी, क्या है राज्य विशेष
बाँध लो चाहो तो तुम केश।
आर्य के इस सद्भाव-समक्ष
और क्या हो सकता है लक्ष?''

द्रौपदी ने शोकाश्रु पिये,
भीम थे भू पर दृष्टि दिये।
गर्व से ऊँचा शीश किये,
गये अर्जुन गाण्डीव लिये।
लिया उनको सिर पर पथ ने,
समादर किया चित्ररथ ने।

"मित्र, अच्छे आये इस काल,
देख लो, निज रिपुओं का हाल।
तुम्हारे काँटे ये विकराल
लिये हैं मैंने सभी निकाल।
मिले थे सुरपुर में हम लोग,
आज फिर आया शुभ संयोग।"

प्रेम पूर्वक बोले तब पार्थ—
"हुआ मैं आज अतीव कृतार्थ।
यहाँ है ऐसा कौन पदार्थ,
करूँ जिससे आतिथ्य यथार्थ?
किन्तु ये भाई हैं मेरे,
आप यों जिनको हैं घेरे।"

चित्ररथ बोला—"कैसी बात?
ज्ञात तो हैं इनके उत्पात?"
कहा अर्जुन ने—"सब हैं ज्ञात,
विश्व भर में हैं वे विख्यात।
किन्तु कहते हैं आर्य उदार—
'करेंगे उनका हमीं विचार।'—"

चित्ररथ बोला बाहु पसार—
"नहीं क्या मुझको यह अधिकार?"
कहा अर्जुन ने उसी प्रकार—
"युद्ध में जाऊँ जब मैं हार।"
"चाहते हो तो यही यही!—"
चित्ररथ ने यह बात कही।

कहा अर्जुन ने—"अच्छी बात,
कीजिए श्रीगणेश हे तात!
किन्तु वे दिव्यायुध विख्यात
ज्ञात हो, मुझको भी हैं ज्ञात।
समझिए मुझको प्रस्तुत ही,
वैर-युत नहीं, प्रेम-युत ही।"

अन्त में होने लगा सुयुद्ध,
नहीं था फिर भी कोई क्रुद्ध।
कार्य करते थे विनय-विरुद्ध,
किन्तु दोनों के मन थे शुद्ध।
पालने को निज पक्ष पवित्र,
तर्क-सा करते थे दो मित्र।

स्वयं वह करता जो जो वार,
पार्थ करते उसका प्रतिकार।
न होता उनका विफल प्रहार,
हुई गन्धर्वों की ही हार।
देख यह रीति लड़ाई की,
उन्होंने आप बड़ाई की।

पार्थ फिर बोले वचन विनीत–
"क्षमा करना मुझको हे मीत!
हार हो चाहे मेरी जीत,
कार्य था किन्तु न विधि-विपरीत।
भाव अब भी हैं मेरे भव्य,
कठिन ही होता है कर्त्तव्य।

हुई रक्ताक्त आपकी देह!"
चित्ररथ बोला तब सस्नेह,
"बिजलियाँ चमकीं, बरसा मेह,–
तृप्त ही हूँ मैं हे गुण-गेह!
आत्मजय तुमने पाया है,
शत्रु का शत्रु हराया है!"

लिये तब कौरव-दल को संग,
उड़ा था जिसके मुँह का रंग,
फिरे अर्जुन ज्यों मत्त मतंग;
पीठ पर डुलता चला निषंग।
पहुँच कर पाण्डवराज-समीप
प्रणत वे हुए पाण्डु-कुल-दीप।

झुका दुर्योधन का भी भाल,
अंक में भर उसको तत्काल
युधिष्ठिर बोले आँसू डाल—
"कुल व्रत पालो हे कुल-पाल!"
किन्तु दुर्योधन का वह मौन,
कहेगा सम्मति सूचक कौन?

दुर्योधन का दुःख

''हँसा गया मैं, हँसने गया था,
अदृष्ट ने आ मुझको रुलाया!
कैसे सहूँ मैं यह घोर लज्जा?
हा! मृत्यु अच्छी इसकी अपेक्षा।
जीना यहाँ इष्ट किसे नहीं है?
मैं जूझता था उसके लिए ही।
परन्तु हो जीवन में व्यथा ही,
तो कौन मानी उसको मनावे?
लो तात दुःशासन राज्य मेरा,
जो हो, भले हो, मरके बचूँ मैं।''
आगे न दुर्योधन बोल पाया,
हुआ रुआँधा वह रुद्धकण्ठ।
दुःखार्त्त दुःशासन ने कहा यों—
''स्वयं तुम्हीं अग्रज, राज्य मेरे।
समाप्ति में ही सुख जो तुम्हें है
तो क्यों न मैं भी निज भाग पाऊँ?
मैंने न तो धर्म न कर्म जाना,
माना सदा जीवन में तुम्हीं को।
पीछे तुम्हारे यह देह आया।
परन्तु होगा अब अग्रगामी।
इच्छा तुम्हारी अविचारणीया
होती नहीं, तो फिर सोचता मैं—
खींचूँ न खींचूँ बल से सभा में
दुकूल किंवा कच द्रौपदी के।
कहे मुझे, जो कुछ लोक चाहे,

तो भी इसे कौन नहीं कहेगा—
भाई नहीं किंकर मैं तुम्हारा,
मैं चाहता राज्य नहीं, तुम्हें ही।
मैंने किया हो अपराध कोई,
तो दण्ड दो, मैं फिर शुद्ध होऊँ।
आदेश कोई सुन लूँ तुम्हारा,
मुझे सदा एक यही प्रतीक्षा।
गन्धर्व जो बाँध सके हमें थे,
माया न थी क्या वह किन्नरों की?
जो पाण्डवों ने हमको छुड़ाया,
तो क्या प्रजाधर्म न वे निभाते?
राधेय चाहे रण से हटा हो,
मैं किन्तु क्या साथ न था वहाँ भी?
मुझे भले ही तुम तात, त्यागो,
मैं तो तुम्हें त्याग नहीं सकूँगा।
वे आ रहे मातुल और कर्ण,
क्या भाग लूँ मैं इस मन्त्रणा में।
मैंने कहा, जो कहना मुझे था,
मैं अन्त का निश्चय ही सुनूँगा।"
स्वज्येष्ठ के छूकर पैर दोनों
गया भरा-सा भभरा कनिष्ठ।
आके किया प्रश्न नवागतों ने—
"क्या बात है, क्यों तुम उन्मना यों?"
"क्या बात मैं और नयी बताऊँ?
कठोर दुःशासन चाहता है—
मैं आज के-से अपमान में भी
जीता रहूँ और सहूँ तुषाग्नि!"
"अरे, हुआ सो यह हो गया है,
जीना तुम्हें दूभर हो रहा क्यों?
जीते रहो तो फिर जीत होगी,
मरा प्रतीकार कहाँ करेगा?
मनुष्य का जीवन खेल-सा है,
पासे पड़ेंगे यदि हाथ में हैं।
लेखा लगेगा यह अन्त में ही;

क्या हार, क्या जीत हुई हमारी?
निराश तो जीवित ही मरा है,
उत्साह ही जीवन का प्रतीक।
बाधा जहाँ, साहस भी वहीं है,
असज्ज के अर्थ अवश्य लज्जा।''
''मामा, सभी मैं यह जानता हूँ,
परन्तु आशा अब क्या करूँ मैं?
जाता नहीं हूँ मरने वृथा ही,
मैं जा रहा हूँ नव जन्म लेने।''
''क्या हो गया है यह जन्म व्यर्थ?''
राधेय बोला बढ़ पास जाके—
''आशा स्वतः प्रस्तुत में न हो तो
भविष्य का ही फिर क्या भरोसा?
ऐसा हुआ ही करता यहाँ है,
हुआ तुम्हें ही कुछ क्या अनोखा?
खाना पड़ा हो जिसको न खट्टा,
मीठा उसे क्या रस दे सकेगा?
हटा न था जीवन के लिए मैं,
निवृत्ति में नव्य प्रवृत्ति मेरी।
इसे तुम्हारा मन जो न माने,
तो व्यर्थ है और प्रयास मेरा।
धिक्कार, मेरे रहते हुए भी
दीखे तुम्हें जीवन में अँधेरा!
रहो, तभी राजस भोग भोगूँ,
आगे तुम्हें दिग्विजयी बनाऊँ।''
विनम्र-सा कौरवराज बोला—
''मुझे तुम्हारे बल का भरोसा।''
रहा न तो भी वह स्वस्थता से,
खाये बिना ही उस रात सोया।
हुआ उसे स्वप्न, सुरारि आये
तथा मिले वे उसकी चमू में।
अभद्र भी भद्र लगे उसे वे,
थी आसुरी ही उसकी प्रवृत्ति।

वन-मृगी

"अब हम काम्यक वन चलें" युधिष्ठिर बोले,
वे सजल प्रात के मूर्त्त रूप उठ डोले।
"देखा है मैंने स्वप्न रात हे भ्राता,
आकर रोई वन मृगी—'तुम्हीं हो त्राता।'
पीछे शावक था, किन्तु शुष्क-से स्तन थे,
असि का-सा पानी धरे विशाल नयन थे।
कृष्णा-सी कातर करुण दृष्टि थी उनमें,
अति उपालम्भ की भाव-सृष्टि थी उनमें।
'हे देव, देखते वंश-नाश ये दृग हैं,
आखेट आपके हुए हमारे मृग हैं।
जो बीज मात्र कुछ रहे, उन्हें रहने दें,
हम भी प्राणी हैं, आप मुझे कहने दें।
हममें भी है अनुभूति और अभिलाषा,
पर कहाँ यहाँ वह आप सरीखी भाषा।
भावज्ञ आप हैं, यही भरोसा भारी,
हे वाग्मि, न तो हम मुखर न मिथ्याचारी।
इससे तो अच्छा, हमें हिंस्र पशु खा लें,
अक्षम्य नहीं वे, यदि न अहिंसा पालें।
पर दया-धर्म के धाम आप नरवर हैं,
उनके खूँटों से प्रखर आपके शर हैं।
मरना सबको है यहाँ, मरेंगे हम भी,
पर वंश मेटता नहीं किसी का यम भी।
हम मरें आपके अर्थ, अवश्य मरेंगे,
पर शेष रहेंगे तभी न शुल्क भरेंगे?
हम तृण भखते हैं, आप हमें चखते हैं,

सब अपना जीवन इसी भाँति रखते हैं।
जग के जीवों में परम जन्तु मानव हैं,
इनमें दोनों आ मिले देव-दानव हैं।
मैं आज देव के चरण-शरण आयी हूँ,
पितृहीन दीन शिशु शेष भेंट लायी हूँ।
इसकी बलि से निज तृप्ति आप कर लीजे,
इसके से कुछ जो अन्य, उन्हें वर दीजे।
शिशु चरणों पर आ गिरा अनाथ-अभागा,
मैं सिहर उठा तत्काल चौंक कर जागा।
पद अब भी उसका परस पा रहे दोनों,
वे मुझे देखते दृष्टि आ रहे दोनों!
सीमित शुभ सबकी ह्रास-वृद्धि, नर की भी,
अपनी चिन्ता के साथ उचित पर की भी।
काटें ही काटें वृक्ष, उन्हें न लगावें,
तो हम मृग-जल की मरुस्थली ही पावें।
आमिष भोजी पशु अन्न छोड़ जाते हैं,
हम नर उनका भी अंश मार खाते हैं।
मेरा मन है, मैं कन्दमूल-फल खाऊँ,
जीवन को भोजन-लक्ष कभी न बनाऊँ।
रसना के रहते सहज नहीं रस-वर्जन,
तब भी इस वन का करो अवश्य विसर्जन।
पलकर जब तक शिशु हरिण हरित मृदु तृण से
हो जायँ तरुण ही नहीं, मुक्त पितृ-ऋण से।
आशीष न दें तो त्रास टला वे मानें,
सम्प्रति निज जीवन यहाँ सुरक्षित जानें।
वे सुख से विचरें-चरें, उछलकर कूदें,
उठते सींगों से घने घनों को हूदें!"

पाकर नरवर कुछ पुलक और कुछ व्रीड़ा,
दृग मूँद देखने लगे मृगों की क्रीड़ा।
अनुगत कृष्णा युत अनुज संग थे उनके,
जब चले, शकुन वे ही कुरंग थे उनके।

जयद्रथ

सभी कहीं व्रज की राधा निज धन का ध्यान लगाये,
भवन भवन में वन वन में है उत्सुक अलख जगाये।
जहाँ राम की बाट, वहाँ भी रावण आ जाता है,
बार बार मरकर भी पापी पुनर्जन्म पाता है!

आश्रम में कृष्णा कदम्ब की शाखा धरे खड़ी थी,
मानो किसी कुशल शिल्पी ने मन की मूर्ति गड़ी थी।
ढँक न पा रही थीं आँखों को ढली हुई भी पलकें,
प्राण-प्रतिष्ठा का प्रमाण-सा देती थीं उड़ अलकें।
पाण्डव कहीं गये थे, सहसा वहाँ जयद्रथ आया,
उसने पथ में पड़ी हुई-सी पाई मन की माया।
"प्रेयसि कृष्णे!" भिन्न कण्ठ से सुनकर कृष्णा चौंकी,
मानो मीठी छुरी किसी ने आकर उर में भौंकी।
झटपट पट सँभाल कर उसने देख उसे पहचाना,
हँस भ्रू-चाप उतार लिया जो अभी अभी था ताना।
"ओहो! तुम तो ननदेऊ हो, यहाँ अचानक कैसे?
आओ, किसे पता था, मेरे भाग्य आज हैं ऐसे।
स्वामी आते होंगे, तब तक अर्घ्य-पाद्य मैं लाऊँ।"
"रहो, रहो, यह रस खोकर क्यों कोरा पानी पाऊँ?"
"ननद दुःशला तो अच्छी है, जो हम सबकी प्यारी?"
"अच्छी है, पर क्या तुम जैसी? तुम्हीं कहो सुकुमारी!"
"आज हँसी के योग्य नहीं मैं, यद्यपि तुम अधिकारी।"
"सखि, सचमुच रोना आता है यह गति देख तुम्हारी!
फूल वही जो काँटों में भी पथ निकाल लेता है,

धिक अन्धड़ को, तोड़ धूलि में उसे डाल देता है।
लाक्षा-रस से रत्न-पीठ को जो रंजित करते थे,
जिनके नूपुर कल हंसों का मद गंजित करते थे,
वे पद, उन्हें चूम लूँ आहा! मैं आँखों से धोकर,
काँटों में रह रहे रक्त के आँसू अब रो रोकर!
चूड़ामणि-विहीन रूखे-से रहे न जो घुँघराले,
उतरी गुरियों के उरगों की समता करने वाले!
अपने इन उलझे केशों से, होकर भी वर वामा
शैवलपूर्ण ग्रीष्म-सरिता-सी तुम हो क्षीणा-क्षामा।
पण्य बनाकर जिन क्रूरों ने यह दिन तुम्हें दिखाया,
क्या उनकी करनी का तुमने लेखा उन्हें लिखाया?
विस्मय, उन्हीं अगण्यों को तुम अब भी यों भजती हो,
कापुरुषों को लक्ष्मी-सी क्यों त्वरित नहीं तजती हो?
यही कुटी क्या योग्य तुम्हारे, सुनो, न भृकुटी तानो,
सिन्धुराज्य का मणि-सिंहासन अब भी अपना जानो।"
"तब दुःशला कहाँ जावेगी? वह कुछ नहीं कहेगी?"
"मैं कहता हूँ, सदा तुम्हारी दासी बनी रहेगी।"
"आर्या को दासी करते हो, जाति तुम्हारी जानी,
मेरे प्रभु रखते हैं अब भी मुझे बनाकर रानी।
अपने को—मुझको भी हारे, धर्म नहीं वे हारे,
पंचतत्वमय इस तनु के हैं प्राणों से भी प्यारे।
सावधान, मैं सुन न सकूँगी बात और अब आधी,
अपनी चिन्ता करो, न हो तुम औरों के अपराधी।"
"नर ही अपराधी होता है, निरपराध है नारी।"
"स्वयं सिद्ध यह सत्य, भले तुम व्यंग्य करो कुविचारी।"
"यह भी अंगीकार मुझे है, यदि मैं तुमको पाऊँ,
दोषी बनूँ और फिर भी क्या कोरा ही रह जाऊँ?"
सहसा दोनों हाथ दुष्ट ने उसकी ओर बढ़ाये,
एक. कपोती पर मानो दो दुर्द्धर विषधर धाये।
करके तब तनु लता संकुचित कुंचित भृकुटी वाली,
पीछे हट, झोंका-सा खाकर बोली यों पांचाली—
"ठहर अनार्य दस्यु, तू मेरा नहीं, मृत्यु का कामी,
दूर नहीं, मैं देख रही हूँ लौट रहे हैं स्वामी।"
आकर जो कर धरा ढीठ ने, देकर झट से झटका,

उसे छुड़ा पद रज में उसको पांचाली ने पटका।
झपट जयद्रथ बना बाघ-सा उसे मृगी-सी धरके,
रथ में डाल त्वरित तस्कर-सा भागा पर-धन हरके।
"आओ, अहो! बचाओ कोई, घातक ने गो घेरी,
जो कोई भी पुरुष पास हो, उसे लाज है मेरी।"
यह पुकार की डोर खींच-सा पाण्डु-सुतों को लाई,
"याज्ञसेनि, मत डरो आ गये हम ये पाँचों भाई।
उत्सुक हुई मृत्यु यह सहसा किसके सिर नचने को?"
रथ से उसे उतार जयद्रथ भगा निकल बचने को।
कोड़े के प्रहार से दौड़े व्यर्थ वेग से घोड़े,
अर्जुन के बाणों से जीवित जा सकते थे थोड़े?
सहसा रथ रुकने से गिरकर उठा सँभल खल ज्यों ही,
गिरा भीम के पदाघात से फिर मुँह के बल त्यों ही।
"दया करो, मत मारो मुझको, मैं हूँ दास तुम्हारा,
अभी युवा हूँ, सूख न जावे यों ही जीवन-धारा।
मैंने देखा-सुना अभी क्या, मुझे और जीने दो,
जला रहा है स्वयं पाप-विष, पुण्यामृत पीने दो।
वही दया का भी अधिकारी दण्डनीय जो दोषी,
तुम्हें तोष देने का मैं क्या यत्न करूँ हे रोषी!"
भीम गदा ताने थे, उनको धर्मराज ने रोका—
"मरने से डरता है पापी!" कह उसको अवलोका।
"भीम, एक अवसर दो इसको, तुम निज रोष पचा दो,
एक बार दुःशला बहन के कारण इसे बचा दो।"
"जाय जयद्रथ, नहीं किसी को दास बनाते हैं हम,
अपनी-सी सबकी स्वतन्त्रता सदा मनाते हैं हम।"
तब रुक कहा भीम ने उससे—"जा हट, भाग अभागे,
पर मुझको थोड़ा लगता है, जो न करे तू आगे।"

हुई जयद्रथ को दुर्गति से आत्मग्लानि भयंकर,
जाकर किया कठिन तप उसने, प्रकट हुए प्रलयंकर।
उसको यह वर दिया उन्होंने—"जब अवसर आवेगा,
अर्जुन-बिना पाण्डवों पर तू एक विजय पावेगा।"

अतिथि और आतिथेय

पाकर दुर्योधन से तोष,
दुर्वासा तनुधारी रोष,
तोड़ दया-माया के तन्तु,
हुए युधिष्ठिर के आगन्तु।
मुनि थे और शिष्य-समुदाय,
असमय में हो कौन उपाय?
केवल मधुर वचन थे हाय,
जो स्वागत में हुए सहाय।
शिष्य न थे गुरु जैसे क्रूर,
वे लज्जित ही थे भरपूर।
बोला प्रमुख–"सिद्ध हो भोग,
तब तक स्नान करें हम लोग।"
"अच्छा!" बोले गुरु गम्भीर,
गये सभी सरिता के तीर।
इधर द्रौपदी हुई अधीर,
भर आया नयनों में नीर।
टूट गया साहस का बाँध,
"दूँ मैं अपना आमिष राँध,
सरे कहीं उससे यह काज,
कैसे रहे हमारी लाज?
नहीं शाप का उतना त्रास,
यह गार्हस्थ्य धर्म का ह्रास।
हम हैं अभिशापों के लक्ष्य,
मिले किन्तु भूखों को भक्ष्य।
रक्षक धर्म रक्ष्य भी आप,

मुझे उसी का है सन्ताप।
नहीं आज घर में कण शेष,
चिर बाधा का यह विद्वेष!
रिक्त हो चुका मेरा पात्र,
प्रस्तुत शेष मात्र यह गात्र।
अब क्या होगा मेरे राम!
बरसा दो कुछ हे घनश्याम!"
"कृष्णे, भय की है क्या बात!
जाओ तुम चारों हे तात!
लाओ जो कुछ हो द्रुत लब्ध,
छिपा नहीं अपना प्रारब्ध।
क्रोधी हों, पर मुनि क्या मूढ़?
ज्ञात उन्हें वह भी, जो गूढ़।
आज दैन्य में ही हम दृप्त,
करें उन्हें श्रद्धा से तृप्त।"
उधर शिष्य-समुदाय समग्र,
था गुरु की लघुता से व्यग्र।
उसमें चुने चतुर दो चार
मिल कर करने लगे विचार।
"निश्चय ही यह निर्घृण पाप,
करने चले जिसे हम आप।"
"करके आतिथेय को नष्ट,
अतिथि-धर्म भी होगा भ्रष्ट।"
"देख हमारा दुर्व्यवहार,
अवश गृही पर अत्याचार,
कौन करेगा किसी प्रकार,
आगत का स्वागत सत्कार?
सफल न हो दुर्योधन दुष्ट,
और न हों गुरुवर भी रुष्ट,
निभें युधिष्ठिर-से नर-रत्न,
एक साथ हैं तीन प्रयत्न।
आया समझ हमें स्वच्छन्द,
हुआ उन्हें जो परमानन्द,
रहा उसी का उनको बोध,

भूल गये वे काल-विरोध।
देख हमें असमय समवेत,
हुआ द्रौपदी का मुख श्वेत।
दीखा फिर लज्जा से लाल,
झुका भार-सा पाकर भाल!
सान्ध्य प्रकृति प्रतिपल के संग
पलट शून्य में जैसे रंग,
छिपे अन्त में निज मुख ढाँप,
भीतर गयी गेहिनी काँप!
जिनको सारा भूतल भोग्य,
क्या वे इस संकट के योग्य?
धिक दुर्योधन, धिक हम लोग,
धिक यह अक्षेमंकर योग।
इस खोटी करनी से ऊब
मरें भले हम जल में डूब।"
किन्तु मग्न होकर निश्छद्म
उभरे वे ज्यों प्रस्फुट पद्म।
बोले–"क्या विस्मय व्यापार,
हुआ स्नान में ही आहार!"
"सचमुच, सचमुच।" कह दो बार
ली गुरु ने भी एक डकार।
"दिया कृष्ण ने जिन्हें प्रसाद,
दूँ उनको क्या आशीर्वाद?
कह आओ कोई यह बात–
'स्वयं तृप्त हम सब हे तात!'–"

यक्ष

"आहा मेरी अरणि-मथानी!"
गूँजी वटु की व्याकुल वाणी—
"यह देखो, वह हरिण अभागा
सींगों में उलझाकर भागा।"
सुनकर सब पाण्डव घबराये,
धनुर्बाण लेकर उठ धाये।
मृग था माया मृग-सा सीखा
कहाँ जा छिपा दीखा-दीखा?
पाँचों उसे खोज थक हारे,
फिरे गहन में मारे मारे।
देख एक वट भूले भटके,
वहाँ साँस लेने को अटके।
रोम रोम से बहा पसीना,
चाहा सबने पानी पीना।
देख प्रथम पादप पर चढ़कर
गये नकुल जल लेने बढ़कर।
हुआ परन्तु विफल उनका श्रम,
अन्य अनुज भी गये यथा क्रम।
होकर चिन्ता से अति अस्थिर,
चले अन्त में आप युधिष्ठिर।
जब तड़ाग-तट पर वे आये,
मृत-से अनुज उन्होंने पाये।
हुए स्वयं भी जड़ वे शव-से
और दग्ध मन के वन-दव से।
फिर भी धीर भाव की दीक्षा,

लेने-देने चली परीक्षा।
आकृति बिगड़ी न थी किसी की,
उनको आशा बँधी इसी की।
बढ़े वीर पानी लेने को,
उन सबको छींटे देने को।
शब्द हुआ—"जल पीछे लेना,
पहले मुझको उत्तर देना।
न हो अन्यथा अनुजों की गति,
देख रहे हो तुम जो सम्प्रति।"
"भाई, कह तू कौन कहाँ है!"
"समझो यक्ष अलक्ष यहाँ है।"
"तो क्या इष्ट अन्य गति मुझको?
किन्तु पूछना है क्या तुझको?
यथा बुद्धि मैं उत्तर दूँगा,
तात, त्वरा कर, उपकृत हूँगा।
तेरी वाणी में जो गुण है,
रूप दिखाता वह दारुण है।
किन्तु दीखता मुझे हृदय है,
निश्चय ही वह करुणामय है।"
गुह्यक गिरा सौम्य हो आयी,
करका ने ज्यों द्रवता पायी।
किये प्रश्न उसने मन भाये,—
आप उत्तरों में वे आये।

"विविध श्रुति-स्मृतियाँ कल्याणी,
भिन्न भिन्न मुनियों की वाणी।
गूढ़ धर्म गति, पूछूँ किससे,
पथ वह गये महाजन जिससे।
सबसे निश्चित यही बात है—
काल लगाये हुए घात है।
कर्मों का ही वहाँ भरोसा,
यहाँ जिन्हें है पाला-पोसा।
नित्यप्रति बहु जन मरते हैं,

तदपि मृत्यु से हम डरते हैं।
इससे अधिक कौन विस्मय है,
जो निश्चित है, उससे भय है!
उर्वी से गुर्वी है माता,
पिता व्योम से ऊँचा जाता।
गृहिणी से है गृह की गृहता,
सुख है शील, शान्ति निःस्पृहता।
लोभ-हानि हीं लाभ-वृद्धि है,
सत्संगति ही लोक-सिद्धि है।
स्थिर वह, जिसे नहीं कुछ देना,
सन्तोषी को है क्या लेना?
अग्नि बिना है क्रोध जलाता,
परहित परम तृप्ति का दाता।
कुल तो है चारित्र्य हमारा,
अविचल क्या है, चलती धारा।
क्या है भिन्न गुणों की निजता,
शूद्र शूद्रता, द्विज की द्विजता!
व्यर्थ विशुद्धि गर्व है किसको?
जातिवर्ण कहते हैं जिसको!
काम धर्म से युक्त वहाँ है,
पति-पत्नी-व्रत एक जहाँ है।
दया-दान में अर्थ-शुद्धि है,
मोह नहीं तो विमल बुद्धि है।
अविश्वस्त भी जो है प्यारा,
वह जन का जीवन ही न्यारा।
तप है, जो निज कर्म करें हम,
सत्य-अहिंसा धर्म धरें हम।"
"साधु, तुम्हारे शुभ विवेक को?
चारों में तुम चुनो एक को।
उस जन को मैं अभी जिला दूँ,
स्फुरित हृदय से हृदय मिला दूँ।"
यह सुन पल भर रुके युधिष्ठिर,
गद्गद से होकर बोले फिर—
"जगे नकुल दीपक-सा घर का,

प्रिय प्रतिबिम्ब श्यामसुन्दर का!"
"भूल भीम-अर्जुन-से भाई,
तुम्हें नकुल की सुध क्यों आयी?
कहाँ समर्थ भीम-सा भ्राता?
और कौन अर्जुन-सा त्राता?
हुए शोक से नष्टस्मृति तुम,
फिर से करो विचार सुकृति तुम।"
"तात, विचार लिया है मैंने,
अनुचित नहीं किया है मैंने।
दीखे चाहे मुझे अँधेरा,
पर आत्मीय धर्म ही मेरा।
भीमार्जुन से भी वह पहले,
उसकी हानि कौन जन सहले?
धर्म-हेतु जीवित मैं जग में,
मर भी सकूँ उसी के मग में।
रक्षक वही रक्ष्य इस जन का,
लक्षक और लक्ष्य जीवन का।
मेरी दो माताएँ विश्रुत,
जीवित हूँ मैं कुन्ती का सुत।
जिये नकुल यह माद्री-नन्दन,—
मेरे तप्त चित्त का चन्दन।"
"जय भारत, जब दृढ़ता-दीक्षित,
हुए तात, तुम सफल परीक्षित।
चारों ही प्राणों से प्यारे,
अभी उठेंगे अनुज तुम्हारे।
आओ, तब तक मुझको भेटो,
मन की दुश्चिन्ताएँ मेटो।
मैंने ही था मृग-तनु धारा,
मूर्त्त धर्म मैं तात, तुम्हारा।"

अज्ञात वास

पल पल कर होते युग व्यतीत,
कटते हैं सब तप और शीत।
सुख-दुःख-दिवस पल-युग-समान
हैं अस्त-हेतु ही भासमान।

आया समाप्ति पर जब उदास
बारह वर्षों का विपिन-वास,
दीखा उससे भी सुदुर्द्धर्ष,
अज्ञात वास का एक वर्ष।
साथी थे जो कर कठिन टेक,
मुनि धौम्य सहित ऋत्विज अनेक,
अब छूटेंगे वे भी समस्त;
हो गये युधिष्ठिर व्यग्र-व्यस्त।
"जब गया दैव तक हमें त्याग,
तब भी अपनाकर सानुराग,
जो दिया आप सबने प्रसाद,
वह अतुलनीय है निर्विवाद।
हम थे यद्यपि धन-विभव-हीन,
फिर भी मानो चिर-यज्ञ लीन।
यह कृपा आपकी ही उदार,
लघु हुआ हमारा भूरि भार।
चिर संग-वास में सहज चूक,
बन जाय वही फिर क्यों न हूक।
पर भूल हमारे सुलभ दोष,

दिखलाते आये आप तोष।
जन रहे कहाँ तक सावधान,
हम तो थे विमना विगतमान।
अक्षम्य न हो यदि विनय-भंग,
चिर वांछनीय यह साधु-संग।
हम जिनसे पाते रहे शक्ति,
साहस-श्रद्धा-विश्वास-भक्ति,
दे चले उन्हें भी आज पीठ,
जैसे कोई अकृतज्ञ ढीठ।"
हो गया युधिष्ठिर-कंठरोध,
तब दिया उन्हें सबने प्रबोध।
"सच्चे हैं यदि व्रत-नियम-धर्म
तो वही तुम्हारे त्राण-वर्म।
नर-रूप तुम्हारे जो अरिष्ट,
उनके प्रति भी तुम साधु-शिष्ट।
ध्रुव जाने जिनकी बात शत्रु,
तुम-से तुम आप अजातशत्रु।
तुम धर्म-भीरु हो दृढ़-प्रतिज्ञ,
जिज्ञासु-रूप में तत्त्व-विज्ञ।
स्वर तुल्य, एक ही सद्विचार,
सुन सकते हो तुम बार बार।
बहुतों को है इतिवृत्त-बोध,
ऐसे भी हैं जो करें शोध।
तुम हो परन्तु वे पुरुष भव्य,
रचते हैं जो इतिहास नव्य?
छिप अवतारों में आप विष्णु,
होते हैं लीलाशील जिष्णु।
होगे तुम भी विजयी विनीत,
अवशेष एक तप, एक शीत।
तुम से, जिनके प्रिय पद्मनाभ,
पाया हमने भी सुकृत-लाभ।"
छूकर कराग्र से नम्र शीस
द्विज गये उन्हें देकर असीस।

तब किया युधिष्ठिर ने विचार,
"दीपक के नीचे अन्धकार।
हम दूर न जाकर रहें पास,
शुभ है विराट नृप-गृह-निवास।
रखकर मैं अपना नाम कंक,
हूँगा नृप का पण्डित अशंक।"
हँस कहा वृकोदर ने विचार—
"मैं बना बनाया सूपकार।"
अर्जुन बोले—"रख अनर वेष,
बन वृहन्नला नर्त्तक विशेष,
पूरा करके उर्वशी-शाप,
काटूँगा मैं अज्ञात पाप।
यदि राज-सुता कृतकृत्य मान
सीखेंगी मुझसे नृत्य-गान,
तो पाकर स्वयं निरोध-वास,
मैं निभ जाऊँगा अनायास!"
बोले माद्री माँ के प्रतीक—
"हम अश्वपाल-गोपाल ठीक।"
कृष्णा बोली—"हा भाग्य भोग्य!
तुम सब क्या ऐसे कष्ट योग्य?
तुम पर भी ऐसी भीर आज,
तो मैं क्यों बनूँ अधीर आज।
रानी की दासी बन सहर्ष
काटूँगी मैं भी एक वर्ष।"
"कृष्णे, सह लो यह शेष ताप,
सक्षम हो तुम, अक्षम न आप।
निर्दय हो चाहे सदय देव,
रक्खें स्वधर्म हम सब सदैव।"
यह निश्चय करके उसी रात
हो गये वहाँ से वे प्रयात।
आश्रम यों सूना था प्रभात,
ज्यों प्राण रहित रह जाय गात!

सैरन्ध्री

जब विराट के यहाँ वीर पाण्डव रहते थे,
छिपे हुए अज्ञात वास-बाधा सहते थे,
एक बार तब देख द्रौपदी की शोभा अति,
उस पर मोहित हुआ नीच कीचक सेनापति।
यों प्रकट हुई उसकी दशा दृगोचर कर रूपवर,
होता अधीर ग्रीष्मार्त्त गज ज्यों पुष्करिणी देखकर।

यद्यपि दासी बनी, वसन पहने साधारण,
मलिनवेश द्रौपदी किये रहती थी धारण।
वसन-वह्नि-सी तदपि छिपी रह सकी न शोभा,
उस दर्शक का चित्त और भीं उस पर लोभा।
अति लिपटी भी शैवाल में कमल-कली है सोहती,
घन-सघन-घटा में भी घिरी चन्द्रकला मन मोहती।

सतियाँ पति के लिए सभी कुछ कर सकती हैं,
और अधिक क्या, मोद मान कर मर सकती हैं।
नृप विराट की विदित सुदेष्णा थी जो रानी,
दासी उसकी बनी द्रौपदी परम सयानी।
थी किन्तु देखने में स्वयं रानी की रानी वही,
कीचक की, जिसको देखकर, सुध-बुध सब जाती रही।

कीचक मूढ़, मदान्ध और अति अन्यायी था,
नृप का साला तथा सुदेष्णा का भाई था।
भट-मानी वह मत्स्यराज का था सेनानी,
गर्व सहित था सदा किया करता मनमानी।

रहते थे स्वयं विराट भी उससे सदा सशंक-से,
कह सकते थे न विरुद्ध कुछ अधिकारी आतंक से।

तृप्त न होकर रम्य रूप-रस की तृष्णा से,
बोला वह दुर्वृत्त एक दिन यों कृष्णा से—
"सैरन्ध्री, किस भाग्यशील की भार्या है तू?
है तो दासी, किन्तु गुणों से आर्या है तू।
मारा है स्मर ने शर मुझे तेरे इस भ्रू-चाप से,
अब कब तक तड़पूँगा भला विरहजन्य सन्ताप से।"

"सावधान हे वीर, न ऐसे वचन कहो तुम,
मन को रोको और संयमी बने रहो तुम।
मेरा भी है धर्म उसे क्या खो सकती हूँ?
अबला भी चंचला कहाँ मैं हो सकती हूँ?
मैं दीना-हीना हूँ सही, किन्तु लोभ-लीना नहीं,
करके कुकर्म संसार में मुझको है जीना नहीं।

मेरे प्रभु हैं पाँच देव प्रच्छन्न निवासी,
तन-मन-धन से सदा उन्हीं की हूँ मैं दासी।
बड़े भाग्य से मिले मुझे ऐसे स्वामी हैं,
धर्म-रूप वे सदा धर्म के अनुगामी हैं।
इसलिए न छेड़ो तुम मुझे, सह न सकेंगे वे इसे;
श्रुत भीम-पराक्रम-शील वे मार नहीं सकते किसे?"

कीचक हँसने लगा और फिर उससे बोला—
"सैरन्ध्री, तेरा स्वभाव है सचमुच भोला।
तुझसे बढ़कर और पुण्य का फल क्या होगा!
जा सकता है यहीं स्वर्ग-सुख तुझसे भोगा।
भय रहने दे, जय बोल तू, मेरा कीचक नाम है,
तेरे प्रभु-पंचक से मुझे चिन्त्य पंचशर काम है।

मैं तेरा हो चुका, तू न होगी क्या मेरी?
पथ-प्रतीक्षा किया करूँगा कब तक तेरी?
आज रात में दीप शिखा-सी तू आ जाना,

दृष्टि-दान कर प्राण-दान का पुण्य कमाना।
जो मूर्ति हृदय में है बसी, वही सामने हो खड़ी,
आ जावे झटपट वह घड़ी यही लालसा है बड़ी।''

यह कहकर वह चला गया उस समय दम्भ से,
कृष्णा के पद हुए विपद-भय-जड़-स्तम्भ-से।
जान पड़ा वह राजभवन गिरि-गुहा सरीखा,
उसमें भीषण हिंस्र जन्तु-सा उसको दीखा।
वह चकित मृगी-सी रह गयी आँखें फाड़ बड़ी बड़ी,
पर कटी पक्षिणी व्योम को देखे ज्यों भू पर पड़ी।

बड़ी देर तक खड़ी रही वह हिली न डोली,
फिर अचेत-सी अकस्मात चिल्लाकर बोली–
''है क्या कोई, मुझे बचाओ, करो न देरी,
मैं अबला हूँ आज लाज लुट जाय न मेरी।
ऊपर नीचे जो भी सुनें, मेरी यही पुकार है–
जिसको सद्धर्म विचार है, उस पर मेरा भार है।''

भीगी कृष्णा इधर आँसुओं के पानी से,
कीचक ने यों कहा उधर जाकर रानी से–
''सैरन्ध्री-सी सखी कहाँ से तुमने पायी?
बहन, कहो यह कौन कहाँ से कैसे आयी?
देवी-सी दासी रूप में दीख रही यह भामिनी,
बन गयी तुम्हारी सेविका मेरे मन की स्वामिनी!''

सुन भाई की बात बहन ठिठकी, फिर बोली–
''ठहरो भैया ठीक नहीं इस भाँति ठठोली।
भाभी हैं क्या यहाँ, चिढ़ें जो यह कहने से,
और मोद हो तुम्हें, विनोद-विषय रहने से।
अपमान किसी का जो करे, वह विनोद भी है बुरा,
यह सुनकर ही होगी न क्या सैरन्ध्री क्षोभातुरा?

मैं भी उसको पूर्णरूप से नहीं जानती,
एक विलक्षण वधू मात्र हूँ उसे मानती।

सुनो, कहूँ कुछ वृत्त कि वह है कैसी नारी,—
उस दिन जब अवतीर्ण हुई, सन्ध्या सुकुमारी,
बैठी थी मैं विश्रान्ति से सहचरियों के संग में,
होता था वचन-विलास कुछ हास्य-पूर्ण रस-रंग में।

वह सहसा आ खड़ी हुई मेरे प्रांगण में,
जय-लक्ष्मी प्रत्यक्ष खड़ी हो जैसे रण में!
वेश मलिन था, किन्तु रूप आवेश भरा था,
था उद्देश्य अवश्य, किन्तु आदेश भरा था।
मुख शान्त दिनान्त समान ही, निष्प्रभ किन्तु पवित्र था,
नभ के अस्फुट नक्षत्र-सा, हार्दिक भाव विचित्र था।

मुझ पर आदर दिखा रही थी, पर निर्भय थी,
अनुनय उसमें न था, सहज ही वह सविनय थी।
नेत्र बड़े थे, किन्तु दृष्टि थी सूक्ष्म बड़ी ही,
सबके मन में पैठ बैठ वह गयी खड़ी ही!
वह हास्य बीच में ही रुका, सन्नाटा-सा छा गया,
मेरे गौरव में भी स्वयं कुछ घाटा-सा आ गया!

मुद्रा वह गम्भीर देख सब रुकीं, जकीं-सी,
और दृष्टियाँ एक साथ सब झुकीं, थकीं-सी।
काले काले बाल कन्धरा ढके खुले थे,
गुँथे हुए-से व्याल मुक्ति के लिए तुले थे।
दृक्पात न करती थी तनिक सौध-विभव की ओर वह,
क्या कहूँ, सौम्य वा घोर थी, कोमल थी कि कठोर वह!

सहसा मैं उठ खड़ी हुई उठ खड़ी हुईं सब,
पर नीरव थीं, भ्रान्त भाव में पड़ी हुईं सब।
किया ससम्भ्रम प्रश्न अन्त में मैंने ऐसे
'भद्रे, तुम हो कौन और आयी हो कैसे?'
उसके उत्तर के भाव का लक्ष्य न जाने था कहाँ?
'मैं? हाँ मैं अबला हूँ तथा आश्रयार्थ आयी यहाँ।''

इस पर निकला यही वचन तब मेरे मुख से,
'अपना ही घर समझ यहाँ ठहरो तुम सुख से,'
आश्रयार्थिनी नहीं, वस्तुतः अतिथि बनी वह,
नहीं सेविका, किन्तु हुई मेरी स्वजनी वह।
अनुचरियों को साहस नहीं, समझें उसे समान वे;
रह सकती नहीं किये बिना उसका आदर-मान वे।

बहुधा अन्यमनस्क दिखाई पड़ती है वह,
मानो नीरव आप आपसे लड़ती है वह।
करती करती काम अचानक रुक जाती है,
करके ग्रीवा-भंग झोंक-से झुक जाती है।
बस भर सँभाल कर चित्त को श्रम से वह थकती नहीं,
पर भूल करे तो भर्त्सना मैं भी कर सकती नहीं।

कार्य-कुशलता देख देख उसकी विस्मय से,
इच्छा होती है कि बड़ाई करें हृदय से।
किन्तु दीर्घ निःश्वास उसे लेते निहार कर,
रखना पड़ता मौन भाव ही स्वयं हार कर।
कुछ भेद पूछने से उसे होता मन में खेद है,
अति असन्तोष है पर उसे यांचा से निर्वेद है।

ऐसी ही दृढ़ जटिल-चरित्रा है वह नारी,
दुखिया है, पर कौन कहे उसको बेचारी।
जब तब उसको देख भीति होती है मन में,
तो भी उस पर परम प्रीति होती है मन।
अपना आदर मानो दया करके वह स्वीकारती,
पर दया करो तो वह स्वयं, घृणा भाव है धारती?

वृक्ष-भिन्न-सी लता, तदपि उच्छिन्न नहीं वह,
मेरा सद्व्यवहार देख कर खिन्न नहीं वह।
जान सकी मैं यही बात उस गुणवाली की,
आली है वह विश्व-विदित उस पांचाली की,
जो पंच पाण्डवों की प्रिया प्रिय-समेत प्रच्छन्न है,
बस इसीलिए वह सुन्दरी सम्प्रति व्यग्र-विपन्न है।

किन्तु तुम्हें यह उचित नहीं जो उसको छेड़ो,
बुनकर अपना शौर्य-यशःपट यों न उधेड़ो।
गुप्त पाप ही नहीं, प्रकट भय भी है इसमें,
आत्म-पराजय मात्र नहीं, क्षय भी है इसमें।
सब पाण्डव भी होंगे प्रकट, नहीं छिपेगा पाप भी,
सहना होगा इस राज्य को अबला का अभिशाप भी।''

''बहन, किसे यह सीख सिखाती हो तुम,—मुझको?
किसे धर्म का मार्ग दिखाती हो तुम,—मुझको?
व्यर्थ, सर्वथा व्यर्थ, सुनूँ-देखूँ क्या अब मैं,
सारी सुध-बुध उधर गँवा बैठा हूँ जब मैं।
उस मृगनयनी की प्राप्ति ही, है सुकीर्ति मेरी, सुनो।
चाहो मेरा कल्याण तो, कोई जाल तुम्हीं बुनो।''

वह कामी निर्लज्ज नीच कीचक यह कह कर,
चला गया, मानो अधैर्य-धारा में बह कर।
उसकी भगिनी खड़ी रही पाषाण-मूर्ति-सी,
भ्राता के भय और लाज की स्वयं पूर्ति-सी।
देखा की डगमग चाल वह उसकी अपलक दृष्टि से,
जो भीग रही थी आप निज, घोर घृणा की वृष्टि से।

''राम-राम! यह वही बली मेरा भ्राता है,
कहलाता जो एक राज्य भर का त्राता है।
जो अबला से आज अचानक हार रहा है,
अपना गौरव, धर्म, कर्म, सब वार रहा है।
क्या पुरुषों के चारित्र्य का, यही हाल है लोक में?
होता है पौरुष पुष्ट क्या, पशुता के ही ओक में?

सुन्दरता यदि विधे, वासना उपजाती है,
तो कुल-ललना हाय! उसे फिर क्यों पाती है?
काम-रीति को प्रीति नाम नर देते हैं बस,
कीट तृप्ति के लिए लूटते हैं प्रसून-रस।
यदि पुरुष जनों का प्रेम है पावन नेम निबाहता,
तो कीचक मुझ-सा क्यों नहीं, सैरन्ध्री को चाहता?

सैरन्ध्री यह बात श्रवण कर क्या न कहेगी,
वह मनस्विनी कभी मौन अपमान सहेगी?
घोर घृणा की दृष्टि मात्र वह जो डालेगी,
मुझको विष में बुझी अनी-सी वह सालेगी।
ऐसे भाई की बहन मैं, हूँगी कैसे सामने।
होते हैं शासन-नीति के दोषी जैसे सामने।

किन्तु इधर भी नहीं दीखती है गति मुझको,
उभय ओर कर्त्तव्य कठिन है सम्प्रति मुझको।
विफलकाम यदि हुआ हठी कीचक कामातुर,
तो क्या जाने कौन मार्ग ले वह चिर निष्ठुर।
राजा भी डरते हैं उसे, वह मन में किससे डरे,
क्या कह सकता है कौन, वह जो कुछ भी चाहे, करे।

इससे यह उत्पात शान्त हो तभी कुशल है,
विद्रोही विख्यात बली कीचक का बल है।
नहीं मानता कभी क्रूर वह कोई बाधा,
राज्य-सैन्य को युक्तियुक्त है उसने साधा।
सैरन्ध्री सम्मत हो कहीं, तो फिर भी सुविधा रहे,
पर मैं रानी दूती बनूँ, इसे हृदय कैसे सहे?"

मन ही मन यह सोच समय को देख सयानी,
सैरन्ध्री से प्रेम सहित बोली यों रानी—
"इतने दिन हो गये यहाँ तुझको सखि, रहते,
किन्तु न देखी गयी स्वयं तू कुछ भी कहते।
क्या तेरी इच्छा-पूर्ति की पा न सकूँगी प्रीति मैं?
विस्मित होती हूँ देखकर, तेरी निस्पृह नीति मैं।"

सैरन्ध्री उस समय चित्र-रचना करती थी,
हाथ तुला था और तूलिका रँग भरती थी।
देख पार्श्व से मोड़ महा ग्रीवा, कुछ तन कर,
हँस बोली वह स्वयं एक सुन्दर छवि बन कर—
"मैं क्या माँगूँ जब आपने, यों ही सब कुछ है दिया?
आज्ञानुसार वह दृश्य यह, लीजे, मैंने लिख लिया।"

"क्रिया सहित तू वचन-विदग्धा भी है आली,
है तेरी प्रत्येक बात ही नयी, निराली।"
यह कह रानी देख द्रौपदी को मुसकाई,
करने लगी सुचित्र देख कर पुनः बड़ाई।
"अंकित की है घटना विकट, किस पटुता के साथ में,
सच बतला जादू कौन-सा है तेरे इस हाथ में?"

कुछ पुलकित कुछ चकित और कुछ दर्शक शंकित,
नृप विराट युत एक ओर थे छवि में अंकित।
एक ओर थी स्वयं सुदेष्णा चित्रित अद्भुत,
बैठी हुई विशाल झरोखे में परिकर युत।
मैदान बीच में था जहाँ, दो गज मत्त असीम थे,
उन दृढ़दन्तों के बीच में, वल्लव रूपी भीम थे।

यही भीम-गज युद्ध चित्र का मुख्य विषय था,
जय निश्चय के साथ साथ ही सबको भय था।
पार्श्वों से भुजदंड वीर के चिपट रहे थे,
उनमें युग करि-शुंड नाग से लिपट रहे थे।
गज अपनी अपनी ओर थे उन्हें खींचते कक्ष से,
पर खिंचे जा रहे थे स्वयं, भीम संग प्रत्यक्ष-से।

निकल रहा था वक्ष वीर का आगे तन कर,
पर्वत भी पिस जाय, अड़े जो बाधक बन कर।
दक्षिण पद बढ़ चुका वाम अब बढ़ने को था,
गौरव-गिरि के उच्च श्रृंग पर चढ़ने को था।
मद था नेत्रों में दर्प का, मुख पर थी अरुणच्छटा,
निकला हो रवि ज्यों फोड़ कर, युगल गजों की घन घटा।

रानी बोली—"धन्य तूलिका है सखि तेरी,
कला-कुशलता हुई आप ही आकर चेरी।
किन्तु आपको लिखा नहीं तूने क्यों इसमें?
वल्लव की प्रत्यक्ष जयश्री रहती जिसमें?
उस पर तेरा जो भाव है, मैं उसको हूँ जानती,
हँसती है लज्जा युक्त तू, तो भी भौंहें तानती।

द्वेष जताने से न प्यार का रंग छिपेगा,
सौ ढोंगों से भी न कभी वह ढंग छिपेगा।
विजयी वल्लव लड़ा वन्य जीवों से जब जब,
सहमी सबसे अधिक अन्त तक तू ही तब तब।
फल देख युद्ध का अन्त में बची साँस-सी ले अहा,
तेरे मुख का वह भाव है, मेरे मन में बस रहा।

कह तो लिख दूँ उसे अभी इस चित्र-फलक पर,
बात नहीं जो मुकर सके तू किसी झलक पर।
कह तो आँखें लिखूँ, नहीं जो यह सह सकती,
न तो देख सकती न बिना देखे रह सकती।
ना लिखूँ कनौखी दृष्टि वह, विजयी वल्लव पर पड़ी,
नीचे मुख की मुसकान में मुग्ध हृदय की हड़बड़ी?

वल्लव फिर भी सूपकार, साधारण जन है,
और उच्च पद-योग्य धन्य यह यौवन धन है।''
कृष्णा बोली—''देवि, आप कुछ कहें भले ही,
मुझको संशय-योग्य समझती रहें भले ही।
पर करती नहीं कदापि हूँ, कोई अनुचित कर्म मैं,
दासी होकर भी आपकी, रखती हूँ निज धर्म मैं।

लड़ता है नर एक क्रूर पशुओं से डट कर,
कौतुक हम सब लोग देखते हैं हट हट कर।
उस पर तदपि सहानुभूति भी उदित न हो क्या,
और उसे फिर जयी देख मन मुदित न हो क्या?
यदि इतने से ही मैं हुई, संशय योग्य कुघोष से,
तो क्षमा कीजिए, आप भी बचेंगी न इस दोष से।

पद से ही मैं किन्तु मानती नहीं महत्ता,
चाहे जितनी क्यों न रहे फिर उसमें सत्ता।
स्थिति से नहीं, महत्त्व गुणों से ही बढ़ता है,
यों मयूर से गीध अधिक ऊँचे चढ़ता है।
वल्लव सम वीर नलिष्ठ का, पक्षपात किसको न हो,
क्या प्रीति नाम में ही प्रकट काम-वासना है अहो!''

रानी ने हँस कहा—"दोष क्या तेरा इसमें,
रहती नहीं अपूर्व गुणों की श्रद्धा किसमें?
स्वाभाविक है काम-वासना भी हम सबकी,
और नहीं तो सृष्टि नष्ट हो जाती कब की?
मेरा आशय था बस यही तू उस जन के योग्य है,
अच्छी से अच्छी वस्तु इस भव की जिसको भोग्य है।

रहने दे इस समय किन्तु यह चर्चा, जा तू,
कीचक को यह चारु चित्र जाकर दे आ तू।
भाई के ही लिए इसे मैंने बनवाया,
वल्लव का यह युद्ध बहुत था उसको भाया।
मेरा भाई भी है बड़ा, वीर और विश्रुत बली,
ऐसे कामों से ही सदा, खिलती है उसकी कली।"

तनकर त्योरी बदल गयी कृष्णा की सहसा,
रानी का यह कथन हुआ उसको दुस्सह सा।
पालक का जी पली सारिका यथा जला दे,
हाथ फेरते समय अचानक चोंच चला दे!
वह बोली—"क्या यह भूमिका, इसीलिए थी आपकी?
यह बात 'महत्पद' के लिए है कितने परिताप की?"

कहा सुदेष्णा ने कि "अरी, तू क्या कहती है,
अपने को भी आप सदा भूली रहती है?
करती हूँ सम्मान सदा स्वजनी सम तेरा,
तू उलटा अपमान आज करती है मेरा।
क्या मैंने आश्रय था दिया, इसीलिए तुझको, बता,
तू कौन और मैं कौन हूँ, इसका भी कुछ है पता?"

रानी के आत्माभिमान ने धक्का खाया,
सैरन्ध्री को भी न कार्य अपना यह भाया।
"क्षमा कीजिए देवि, आप महिषी मैं दासी,
कीचक के प्रति न था हृदय मेरा विश्वासी।
इसलिए न आपे में रही, सुनकर उसकी बात मैं,
सहती हूँ लज्जा युक्त हा! उसके वचनाघात मैं।

होकर उच्च पदस्थ नीच पथगामी है वह,
पापदृष्टि से मुझे देखता, कामी है वह।
नर होकर भी हाय सताता है नारी को,
अनाचार क्या कभी उचित है बलधारी को?
यों तो पशु-महिष-वराह भी, रखते साहस सत्व हैं,
होते परन्तु कुछ और ही, मनुष्यत्व के तत्व हैं।

मुझे न उसके पास भेजिए, यही विनय है,
शील धर्म के लिए वहाँ जाने में भय है।
रखिए अबला-रत्न, आप अबला की लज्जा,
सुन मेरा अभियोग कीजिए शासन-सज्जा।
हा! मुझे प्रलोभन ही नहीं, कीचक ने भय भी दिया,
मर्यादा तोड़ी धर्म्म की, और असंयम भी किया।"

रानी कहने लगी—"शान्त हो, सुन सैरन्ध्री,
अपनी धुन में भूल न जा, कुछ गुन सैरन्ध्री!
भाई पर तो दोष लगाती है तू ऐसे,
पर मेरा आदेश भंग करती है कैसे?
क्या जाने से ही तू वहाँ, फिर आने पाती नहीं,
होती हैं बातें प्रेम की, सफल भला बल से कहीं।

तू जिसकी यों बार बार कर रही बुराई,
भूल न जा, वह शक्ति-शील है मेरा भाई।
करता है वह प्यार तुझे तो यह तो तेरा
गौरव ही है, यही अटल निश्चय है मेरा।
तू है ऐसी गुण-शालिनी, जो देखे, मोहे वही,
फिर इसमें उसका दोष क्या, चिन्तनीय है बस यही।

तू सनाथिनी हो कि न हो उस नर-पुंगव से,
उदासीन ही रहे क्यों न वैभव से, भव से।
पर तू चाहे लाख गालियाँ दीजो मुझको,
मैं भाभी ही कहा करूँगी अब से तुझको।
जा, दे आ अब यह चित्र तू जाकर अपनी चाल से।"
हो गयी मूढ़-सी द्रौपदी, इस विचित्र वाग्जाल से।

बोली फिर "आदेश आपका शिरोधार्य है,
होने को अनिवार्य किन्तु कुछ अशुभ कार्य है।
पापी जन का पाप उसी का भक्षक होगा,
मेरा तो ध्रुव धर्म सहायक, रक्षक होगा।"
चलते चलते उसने कहा, नभ की ओर निहार के,
"द्रष्टा हो दिनकर देव, तुम, मेरे शुद्धाचार के।"

ठोका उसने मध्य मार्ग में आकर माथा,
"रानी करने चली आज है मुझे सनाथा।
विश्वनाथ हैं तो अनाथ हम किसको मानें?
मैं अनाथ हूँ वा सनाथ, कोई क्या जानें?
मुझको सनाथ करके स्वयं, पाँच गुना संसार में,
हे विधे, बहाता है बता, अब तू क्यों मँझधार में?

हठ कर मेरी ननद चाहती है वह होना,
आवे इस पर हँसी मुझे वा आवे रोना?
पहले मेरी ननद दुःशला ही तो हो ले?
बन जाते हैं कुटिल वचन भी कैसे भोले?
मैं कौन और वह कौन है, मैं यह भी हूँ जानती।"
कर आप अधर-दंशन चली कृष्णा भौंहें तानती।

"आ, विपत्ति, आ, तुझे नहीं डरती हूँ अब मैं,
देखूँ बढ़ कर आप कि क्या करती हूँ अब मैं।
भय क्या है, भगवान भाव ही में है मेरा,
निश्चय, निश्चय जिये हृदय, दृढ़ निश्चय तेरा।
मैं अबला हूँ तो क्या हुआ? अबलों का बल राम है,
कर्मानुसार भी अन्त में शुभ सबका परिणाम है।"

सैरन्ध्री को देख सहज अपने घर आया,
कीचक ने आकाश-शशी भू पर-सा पाया।
स्वागत कर वह उसे बिठाने लगा प्रणय से,
किन्तु खड़ी ही रही काँप कर कृष्णा भय से।
चुपचाप चित्र देकर उसे ज्यों ही वह चलने लगी,
त्यों ही कीचक की कामना उसको यों छलने लगी—

"सुमुखि, सुन्दरी मात्र तुझे मैं समझ रहा था,
पर तू इतनी कुशल, बहन ने ठीक कहा था।
इस रचना पर भला तुझे क्या पुरस्कार दूँ?
तुझ पर निज सर्वस्व बोल मैं अभी वार दूँ?"
बोली कृष्णा मुख नत किये "क्षमा कीजिए बस मुझे;
कुछ पुरस्कार के काम में, नहीं दीखता रस मुझे।

रचना के ही लिए हुआ करती है रचना।"
कृष्णा चुप हो गयी कठिन था तब भी बचना।
बोला खल—"पर दिखा चुका जो ललित कला यह,
क्या चूमा भी जाय कुशल-कर वर न भला वह?
सैरन्ध्री, कहूँ विशेष क्या, तू ही मेरी सम्पदा;
मेरे वश में यह राज्य है, मैं तेरे वश में सदा।

हे अनुपम आनन्द-मूर्ति, कृशतनु, सुकुमारी,
बलिहारी यह रुचिर रूप की राशि तुम्हारी!
क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बनकर चेरी,
सुध-बुध जाती रही देख कर तुमको मेरी।
इन दृग्बाणों से बिद्ध यह मन मेरा जब से हुआ,
है खान पान शयनादि सब विष समान तब से हुआ।

अब हे रमणीरत्न, दया कर इधर निहारो,
मेरी ऐसी प्रीति नहीं कि प्रतीति न धारो।
मैं तो हूँ अनुरक्त; तनिक तुम भी अनुरागो,
रानी होकर रहो, वेश दासी का त्यागो।
होती है यद्यपि खान में किन्तु नहीं रहती पड़ी;
जाती है मणि तो अन्त में राजमुकुट में ही जड़ी।"

"अहो वीर बलवान, विषम विष की धारा-से,
बोलो ऐसे वचन न तुम मुझ पर-दारा से।
तुम जैसे ही बली कहीं अनरीति करेंगे,
तो क्या दुर्बल जीव धर्म का ध्यान धरेंगे?
नर होकर इन्द्रिय-वश अहो! करते कितने पाप हैं,
निज अहित-हेतु अविवेकि जन होते अपने आप हैं।

राजोचित सुख-भोग तुम्हीं को हों सुख-दाता,
कर्मों के अनुसार जीव जग में फल पाता।
रानी ही यदि किया चाहता मुझको धाता,
तो दासी किस लिए प्रथम ही मुझे बनाता?
निज धर्म सहित रहना भला, सेवक बनकर भी सदा,
यदि मिले पाप से राज्य भी, त्याज्य समझिए सर्वदा।

इस कारण हे वीर, मुझे तुम यों न निहारो,
फणि-मणि पर निज कर न पसारो, मन को मारो।
प्रेम करूँ मैं बन्धु, मुझे तुम बहन विचारो,
पाप-गर्त्त से बचो, पुण्य-पथ पर पद धारो।
अपने इस अनुचित कर्म के लिए करो अनुताप तुम,
मत लो मस्तक पर वज्र-सम सती-धर्म का शाप तुम।"

"रहने दो यह ज्ञान-ध्यान ग्रन्थों की बातें,
फिर फिर आती नहीं सुयौवन की दिन-रातें।
करिए सुख से वही काम, जो हो मनमाना,
क्या होगा मरणोपरान्त, किसने यह जाना?
जो भावी की आशा किये वर्त्तमान सुख छोड़ते,
वे मानो अपने आप ही निज हित से मुँह मोड़ते।"

कहकर ऐसे वचन वेग से बिना विचारे,
आतुर हो अत्यन्त, देह की दशा विसारे।
सहसा उसने पकड़ लिया कर पांचाली का,
मानो किसलय गुच्छ नाग ने नत डाली का।
कीचक की ऐसी नीचता देख सती क्षोभित हुई,
कर चक्षु चपल गति से चकित शम्पा-सी शोभित हुई।

जो सकम्प तनु-यष्टि झूलती रज्जु सदृश थी,
शिथिल हुई निर्जीव दीख पड़ती अति कृश थी,
आहा! अब हो उठी अचानक वह हुंकारित;
ताव-पेंच खा बनी कालफणिनी फुंकारित।
भ्रम न था रज्जु में सर्प का उपमा पूरी घट गयी,
कीचक के नीचे की धरा मानो सहसा हट गयी।

"अरे नराधम, तुझे नहीं लज्जा आती है?
निश्चय तेरी मृत्यु मुण्ड पर मँडराती है।
मैं अबला हूँ, किन्तु न अत्याचार सहूँगी,
तुझ दानव के लिए चंडिका बनी रहूँगी।
मत समझ मुझे तू शशि-सुधा खल, निज कल्मष राहु की,
मैं सिद्ध करूँगी पाशता अपने वामा बाहु की।

होता है यदि पुलक हमारी गलबाहों में;
तो कालानल नित्य निकलता है आहों में!"
यों कहकर झट हाथ छुड़ाने को उस खल से,
तत्क्षण उसने दिया एक झटका अति बल से।
तब सहसा मुँह के बल वहाँ मदोन्मत्त वह गिर पड़ा,
मानो झंझा के वेग से पतित हुआ पादप बड़ा।

तब विराट की न्याय सभा की नींव हिलाने,
उस कामी को कुटिल कर्म का दण्ड दिलाने।
केशों के ही भूरि-भार से खेदित होती,
गयी किसी विध शीघ्र द्रौपदी रोती रोती।
पीछे से उसको मारने उठकर कीचक भी चला;
उस अबला द्वारा भूमि पर गिरना उस खल को खला।

कृष्णा पर कर कोप शीघ्र झपटा वह ऐसे,
थकी मृगी की ओर तेंदुआ लपके जैसे।
भरी सभा में लात उसे उस खल ने मारी,
छिन्न लता-सी गिरी भूमि पर वह सुकुमारी।
पर सँभला कीचक भी नहीं निज बल वेग विशेष से;
फिर मुँह की खाकर गिर पड़ा दुगुने विगलित वेष से।

धर्मराज भी कंक बने थे वहाँ विराजे;
लगा वज्र-सा उन्हें मौलि पर घन-से गाजे।
सँभले फिर भी किसी भाँति वे 'हरे, हरे!' कह,
हुए स्तब्ध-से सभी सभासद 'अरे, अरे!' कह।
करके न किन्तु दृक्पात तक कीचक उठा, चला गया;
मानो विराट ने चित्त में यही कहा कि 'भला गया'।

सम्बोधन कर सभा मध्य तब मत्स्यराज को,
बोली कृष्णा कुपित सुनाकर सब समाज को।
मधुर कण्ठ से क्रोध पूर्ण कहती कटु वाणी,
अद्‌भुत छवि को प्राप्त हुई तब वह कल्याणी।
ध्वनि यद्यपि थी आवेग मय, पर वह कर्कश थी नहीं,
मानो उसने बातें सभी वीणा में होकर कहीं।

"भय पाती है जहाँ राजगृह में ही नारी,
होता अत्याचार यथा उस पर है भारी।
सब प्रकार विपरीत जहाँ की रीति निहारी,
अधिकारी ही जहाँ आप है अत्याचारी,
लज्जा रहनी अति कठिन है कुल-वधुओं की भी जहाँ,
हे मत्स्यराज, किस भाँति तुम हुए प्रजा-रंजक वहाँ?

छोड़ धर्म की रीति, तोड़ मर्यादा सारी,
भरी सभा में लात मुझे कीचक ने मारी।
उसका यह अन्याय देख कर भी भयदायी,
न्यायासन पर मौन रहे तुम बनकर न्यायी।
हे वयोवृद्ध नरनाथ, क्या यही तुम्हारा धर्म है?
क्या यही तुम्हारे राज्य की राजनीति का मर्म है?

तुममें यदि सामर्थ्य नहीं है अब शासन का,
तो क्यों करते नहीं त्याग तुम राजासन का?
करने में यदि दमन दुर्जनों का डरते हो,
तो छूकर क्यों राजदण्ड दूषित करते हो?
तुमसे निज पद का स्वाँग भी भली भाँति चलता नहीं,
अधिकार-रहित इस छत्र का भार तुम्हें खलता नहीं?

प्राणसखी जो पंच पाण्डवों की पांचाली,
दासी भी मैं उसी द्रौपदी की हूँ आली।
हाय! आज दुर्दैव विवश फिरती हूँ मारी,
वचन-बद्ध हो रहे वीरवर वे व्रतधारी।
करता प्रहार उन पर न यों दुर्विधि यदि कर्कश कशा,
तो क्यों होती मेरी यहाँ इस प्रकार यह दुर्दशा?

अहो दयामय धर्मराज! तुम आज कहाँ हो,
पाण्डु-वंश के कल्पवृक्ष, नरराज, कहाँ हो?
बिना तुम्हारे आज यहाँ अनुचरी तुम्हारी,
होकर यों असहाय भोगती है दुख भारी।
तुम सर्व गुणों के शरण यदि विद्यमान होते यहाँ,
तो इस दासी पर देव, क्यों पड़ती यह विपदा महा?

तुम-से प्रभु की कृपा-पात्र होकर भी दासी,
मैं अनाथिनी-सदृश यहाँ जाती हूँ त्रासी।
जब अजातरिपु, बात याद मुझको यह आती,
छाती फटती हाय! दुःख दूना मैं पाती।
कर दी है जिसने लोप-सी नाग-भुजंगों की कथा,
हा, रहते उस गाण्डीव के हो मुझको ऐसी व्यथा?

जिस प्रकार है मुझे यहाँ कीचक ने घेरा,
होता यदि वृत्तान्त विदित तुमको यह मेरा।
तो क्या दुर्जन, दुष्ट, दुराचारी यह कामी,
जीवित रहता कभी तुम्हारे कर से स्वामी।
तुम इस दारुण अन्याय को देख नहीं सकते कभी,
हे वीर! तुम्हारी नीति की उपमा देते हैं सभी।

क्रूर दैव ने दूर कर दिया तुमसे जिसको,
संकट मुझको छोड़ और पड़ता यह किसको?
यह सब है दुर्दृष्ट-योग, इसका क्या कहना,
मेरा अपने लिए नहीं कुछ अधिक उलहना।
पर जो मेरे अपमान से तुम सबका अपमान है,
हे कृतलक्षण, मुझको यही चिन्ता महा महान है।"

सुन कर निर्भय वचन याज्ञसेनी के ऐसे,
वैसी ही रह गयी सभा, चित्रित हो जैसे।
कही हुई सावेग गिरा उसकी विशुद्ध वर,
एक साथ ही गूँज उठी सब ओर वहाँ पर।
तब ज्यों त्यों करके शीघ्र ही अपने मन को रोक के,
यों धर्मराज कहने लगे उसकी ओर विलोक के–

"हे सैरन्ध्री, व्यग्र न हो तुम, धीरज धारो,
नरपति के प्रति वचन न यों निष्ठुर उच्चारो।
न्याय मिलेगा तुम्हें लौट अन्तःपुर जाओ,
नृप हैं अश्रुतवृत्त, दोष उनको न लगाओ।
शर-शक्ति पाण्डवों की किसे ज्ञात नहीं संसार में;
पर चलता है किसका कहो, वश विधि के व्यापार में।"

धर्मराज का मर्म समझ कर नत मुख वाली,
अन्तःपुर की चली गयी तत्क्षण पांचाली।
किन्तु न तो वह गयी किसी के पास वहाँ पर,
और न उसके पास आ सका कोई डर कर।
वह रही अकेली भीगती दीर्घ दृगों के मेह में,
जब हुई नैश निस्तब्धता गयी भीम के गेह में।

आँखें मूँदे हुए वृकोदर जाग रहे थे;
पड़े पड़े निःश्वास बड़े वे त्याग रहे थे।
बाट उसी की देख रहे थे धीरज खोकर,
वे भी सारा वृत्त सुन चुके थे हत होकर।
हो गयी अधीरा और भी उन्हें देख कर द्रौपदी।
हिम-राशि पिघल रवि तेज से बढ़ा ले चले ज्यों नदी।

"जागो, जागो अहो! भूल सुध सोने वाले!
ओ अपना सर्वस्व आप ही खोने वाले!"
उठ बैठे झट भीम, उन्होंने लोचन खोले,
और "देवि, मैं जाग रहा हूँ" वे यों बोले।
"जब तक तुम हो सर्वस्व भी अपना अपने संग है,
सो नहीं रहा था मैं प्रिये, निद्रा तो चिर भंग है।"

"मैं तो ऐसा नहीं समझती" कृष्णा बोली—
"करो सजगता की न नाथ, तुम और ठठोली।
आज आत्म-सम्मान तुम्हारा जाग रहा क्या?
अब भी तन्द्रा शौर्य-वीर्य वह त्याग रहा क्या?
आघात हुए इतने तदपि नहीं हुआ प्रतिघात कुछ,
आती है मेरी समझ में नहीं तुम्हारी बात कुछ!

भोगा सब जिस धर्म-भीरुता पर मर जी कर,
कोसूँ कैसे उसे न मैं पानी पी पी कर?
गिना चलूँ मैं कहो सहा है मैंने जो जो,
सिद्ध करूँ सब सत्य, कहा है मैंने जो जो।
सहने को अत्याचार जो बाध्य करे, वह धर्म है,
तो इस निर्मम संसार में और कौन दुष्कर्म है?

भोजन में विष दिया जिन्होंने और जलाया,
राज-पाट सब लूट लाट वन-पथ दिखलाया,
माथा ऊँचा किये रहें वे, छिपे फिरें हम,
राज्य करें वे, दास्य-गर्त्त में हाय! गिरें हम।
फिर भी कहते हो तुम कि मैं जगता हूँ, सोता नहीं,
अच्छा होता हे नाथ, तुम सोते ही होते कहीं!

कहते हो सर्वस्व मुझे तुम, मैं जब तक हूँ,
रहने दो यह वचन-वंचना, मैं कब तक हूँ?
नंगी की जा चुकी प्रथम ही राज-भवन में,
हरी जा चुकी हाय! जयद्रथ से फिर वन में।
अब कामी कीचक की यहाँ गृध-दृष्टि मुझ पर पड़ी,
सहती हूँ मृत्यु बिना अहो! ये विडम्बनाएँ बड़ी!

जिसके पति हों पाँच पाँच ऐसे बलशाली,
सुरपुर में भी करे कीर्ति जिनकी उजियाली,
काली हो अरि-कान्ति देख कर जिनकी लाली,
सहूँ लांछना प्रिया उन्हीं की मैं पांचाली?"
कहती कहती यों द्रौपदी रह न सकी मानो खड़ी,
मूर्च्छित होकर वह भीम के चरण शरण में गिर पड़ी।

"धिक है हमको हाय! सहो तुम ऐसी ज्वाला,"
कहते कहते उसे भीम ने शीघ्र सँभाला।
दीखी वह यों अतुल अंक आश्रय पा पति का,
विटपि-कांड पर पड़ी ग्रीष्म दग्धा ज्यों लतिका।
"जागो, जागो प्राणप्रिये, बतलाओ मैं क्या करूँ?
यदि न करूँ तो संसार के सभी पाप सिर पर धरूँ।"

जल सिंचन कर, और व्यजन कर, हाथ फेर कर,
किया भीम ने सजग उसे कुछ भी न वेर कर।
फिर आश्वासन दिया और विश्वास दिलाया,
वचनामृत से सींच सींच हत हृदय जिलाया।
प्रण किया उन्होंने अन्त में कीचक के संहार का,
फिर दोनों ने निश्चय किया साधन सहज प्रकार का।

पर दिन कृष्णा सहज भाव से दीख पड़ी यों,
घटना कोई वहाँ घटी ही न हो बड़ी ज्यों।
कीचक से भी हुई सहज ही देखा-देखी,
मानो ऐसी सन्धि ठीक ही उसने लेखी।
"सैरन्ध्री" कीचक ने कहा—"अब तो तेरा भ्रम गया?
मेरे विरुद्ध देखा न सब निष्फल तेरा श्रम गया?

अब भी मेरा कहा मान हठ छोड़ हठीली,
प्रकृति भली है सरल और तनु यष्टि गठीली।"
सुन कर उसकी बात द्रौपदी कुछ मुसकाई,
मन में घृणा, परन्तु वदन पर लज्जा लाई।
कीचक ने समझा अरुणिमा आयी है अनुराग की,
मुँह पर मल दी है प्रकृति ने मानो रोली फाग की।

बोली वह—"हे वीर, मनुज का मन चंचल है,
किन्तु सत्य है स्वल्प, अधिक कौशल वा छल है।
प्रत्यय रखती नहीं इसी से मेरी मति भी,
भूल गये हैं मुझे अचानक मेरे पति भी।
अब तुम्हीं कहो, विश्वास मैं रक्खूँ किसकी बात पर?
अँधेरे में एकाकिनी रोती हूँ बस रात भर।

रहता कोई नहीं बात तक करने वाला,
तिस पर शयनस्थान मिला है मुझे निराला।
कहाँ उत्तरा की सुदीर्घ तौर्यत्रिक शाला,
उसका वह विश्रान्ति वास दक्षिण दिशि वाला।
कोई क्या जाने काटती कैसे उसमें रात मैं?
पागल-सी रहती हूँ पड़ी सह कर शोकाघात मैं।"

कीचक बोला—"अहा! आज मैं आ जाऊँगा,
प्रत्यय देकर तुझे प्रेयसी पा जाऊँगा।"
"अँधेरे में कष्ट न होगा?" कह कर कृष्णा,
मन्दहास में छिपा ले गयी विषम वितृष्णा।
"रौरव में भी तेरे लिए जा सकता हूँ हर्ष से।"
बोली 'तथास्तु' वह, खल गया मानो विजयोत्कर्ष से!

यथा समय फिर यथा स्थान वह मद्यप आया,
सैरन्ध्री के ठौर भीम को उसने पाया।
पर वह समझा यही कि बस यह वही पड़ी है,
बड़े भाग्य से मिली आज यह नयी घड़ी है।
झट लिपट गया वह भीम से चपल चित्त के चाव में,
आ जाय वन्य पशु आप खिंच ज्यों अजगर के दाव में।

पल में खल पिस उठा भीम के आलिंगन से,
दाँत पीस कर लगे दबाने वे घन घन से।
चिल्लाता क्या, शब्द-सन्धि थी किधर गले की?
आ जा सकी न साँस उधर से इधर गले की।
मुख, नयन, श्रवण, नासादि से शोणितोत्स निर्गत हुआ,
बस हाड़ों की चड़ मड़ हुई, यों वह उद्धत हत हुआ।

लेता है यम प्राण, बोलता है कब शव से?
पटक पिण्ड-सा उसे भीम बोले नव रव से—
"याज्ञसेनि, आ, देख यही था वह उत्पाती?
किन्तु चूर हो गयी आह! मेरी भी छाती।"
हँस बोले फिर वे—"बस प्रिये, छोड़ मान की टेक दे,
आकर अपनी हृदयाग्नि से अब तू मुझको सेक दे।"

देख भीम का भीम कर्म भीमाकृति भारी,
स्वयं द्रौपदी सहम गयी भय-वश सुकुमारी।
कीचक के भी लिए खेद उसको हो आया,
कहाँ जाय वह सदय हृदय की ममता माया?
हो चाहे जैसा ही प्रबल, यह अति निश्चित नीति है,
मारा जाता है शीघ्र ही करता जो अनरीति है।

बृहन्नला

त्रास पूर्ण अज्ञातवास जब पूरा होने को आया,
पाप-मुक्त होने का-सा सुख वीर पाण्डवों ने पाया।
दुर्योधन के विफल चरों ने दिया लौटकर यह सन्देश–
"मरे नहीं तो परदेहों में पाण्डुपुत्र कर गये प्रवेश।
हुआ नहीं इस बीच कहीं कुछ जो निगूढ़ हो जन-मति से,
एक मत्स्य-सेनापति कीचक निहत हुआ अति दुर्गति से।"
"यह भी सुसंवाद!" सहमति से कुरुपति-द्रोण-कर्ण-कृप की
हरी सुशर्मा ने बहु गायें चिर वैरी विराट नृप की।
मत्स्यराज पर विपद देखकर निज कर्त्तव्य सोच मन में,
करने को उनकी सहायता गये युधिष्ठिर भी रण में।
सज्जन निज उपकारों का ज्यों विनिमय स्वयं नहीं लेते,
प्रत्युपकार-रूप ऋण त्यों ही प्राणों से भी हैं देते।
गये भीम, सहदेव, नकुल भी, करके अस्त्र-शस्त्र धारण,
पर अर्जुन जाते किस मुँह से, नर्त्तक होने के कारण।
हाव-भाव दिखला सकते हैं, बातें भी गढ़ सकते हैं,
कहीं नाचने गाने वाले क्लीव समर चढ़ सकते हैं?
"जन जिस उत्तरकुरु-विजयी को हैं जगदेक वीर कहते,
अबला बना छिपा बैठा है वही उसी बल के रहते।
इच्छा और शक्ति रखकर भी मैं हूँ आज अवश अनुपाय,
अरे दैव! क्या यह दुर्गति भी शेष और थी मेरी हाय!
अच्छा, क्यों न चला जाऊँ मैं अपने आप रणस्थल में,
पर पहचान नहीं लेंगे क्या प्रतिपक्षी मुझको पल में।
पूर्ण हुआ अज्ञातवास जब फिर डर ही क्या है इसका,
चाहे जो हो, पर अर्जुन को भू-मण्डल में भय किसका?
समय कौन-सा मुझे मिलेगा प्रकटित होने का ऐसा,

मिलता नहीं सुयोग सर्वदा जग में जैसे को तैसा।
रोवें पीछे बैठ क्यों न, जो आगे का अवसर खोवें,
मैं सोता-सा जाग उठा, अब अरि चिर-निद्रा में सोवें।''
निश्चय करते हुए सोच यों जाने को सत्वर रण में,
अस्थिर अर्जुन घूम रहे थे नाट्य-भवन के प्रांगण में।
उसी समय पुत्री विराट की, उनकी प्रिय शिष्या भोली,
आकर उनके निकट उत्तरा बाला यों उनसे बोली—
''वृहन्नले, इस समय राज्य पर सहसा संकट आया है,
गोधन लूट त्रिगर्त्तराज ने अति उत्पात मचाया है।
हुआ न अक्षत आज यहाँ पर वह कीचक मामा मेरा,
इस दुर्दान्त लुटेरे का मुँह फिर फिर जिसने था फेरा।
सुन रहस्य मय मरण उसी का यह अलज्ज फिर आया है,
दुष्ट कौरवों की सेना की सहायता भी लाया है।
गये ससैन्य पिता लड़ने को, उत्तर भैया जा न सके,
उन्हें दुःख है सुयश-योग्य यह अवसर पाकर पा न सके।
कुछ दिन हुए अचानक उनका मारा गया सूतवर विज्ञ,
सैरन्ध्री कहती है, तू भी इस गुण में है अतुल अभिज्ञ।
बहुधा तेरे कर-कौशल से बढ़ा पार्थ का शर-बल है,
कर भैया की भी सहायता यदि तू मुझ पर वत्सल है।''
सुन याचना उत्तरा की यह हुए अयाचित पुलकित पार्थ,
मानो उन्हें बिना माँगे ही मनमाना मिल गया पदार्थ।
किन्तु हर्ष को प्रकट न करके बोले वे कुछ सकुचाते,
धीरों के गम्भीर हृदय के भाव नहीं ऊपर आते।
''भला नाचने गाने वाले क्या जानें ऐसी बातें?
विषम ताल पर यहाँ थिरकती प्राणों के पण की घातें!
पर जब और उपाय नहीं है, यह सम भी पालूँगा मैं,
बेटी, यह अनुरोध तुम्हारा डरकर क्या टालूँगा मैं?''
खिली कली-सी भली उत्तरा, छाई मुख पर छटा नयी,
तितली-सी उड़कर तुरन्त फिर वह उत्तर के निकट गयी।
उद्यत हुआ युद्ध करने को इस प्रकार वह राजकुमार,
प्रकट हो गया कठिन भूमि पर मूर्तिमन्त मानो मृदु मार।
तब कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से सैरन्ध्री की ओर निहार,
वृहन्नला भी प्रस्तुत होकर करने चला अभीष्ट विहार।
देख उसे विपरीत रीति से कवच पहनते हुए विशाल,

उससे कहने लगी उत्तरा हँसकर उसकी भूल सँभाल—
"वृहन्नले, संगर में जाकर तू मुझको न भूल जाना,
दुष्ट दस्युओं को परास्त कर उनके वसन छीन लाना।
उनसे वर्ण वर्ण की गुड़ियाँ मैं सानन्द बनाऊँगी,
और खेलती हुई उन्हीं से मैं तेरा गुण गाऊँगी।"
सुनकर उसके वचन धनंजय उसे देख कुछ मुसकाये,
उत्तर दिये बिना ही फिर वे स्यन्दन शीघ्र सजा लाये।
कहते नहीं महज्जन पहले, करके ही दिखलाते हैं;
कार्य सिद्ध करने से पहले बातें नहीं बनाते हैं।
रथारूढ़ होकर फिर दोनों समर भूमि को चले सहर्ष,
चकित हुआ उत्तर मन ही मन देख पार्थ-पाटव उत्कर्ष।
पुर से निकल शीघ्र पहुँचे वे उसी शमी पादप के पास,
शस्त्र छिपा रक्खे थे जिस पर पाण्डुसुतों ने बिना प्रयास।

इन्द्र-धनुष-सम विविध वर्णमय वीरों के वस्त्रों वाली,
चपल चंचला के प्रकाश-सम चमकीले शस्त्रों वाली।
पवन-वेग-मय वाहन वाली, गर्जन करती हुई बड़ी,
उन्हें निकट ही घन-माला-सी कौरव सेना दीख पड़ी।
सूर्योदय होने पर दीपक हो जाता निष्प्रभ जैसे,
उसे देखकर उत्तर का मुँह उतर गया सहसा वैसे।
क्षण भर में ही उसका पहला साहस सारा लुप्त हुआ,
जगा हुआ उत्साह आप ही भीति जगाकर सुप्त हुआ।
बोला तब कातर होकर वह भूल यशोलिप्सा सारी—
"देखो, देखो वृहन्नले, यह सेना है कैसी भारी!
इसे देखकर धैर्य छूटता, अंग काँपते हैं, थकते,
मैं क्या, इसे स्वयं सुरगण भी रण में नहीं हरा सकते।
मैं किस भाँति लड़ूँगा इससे, मोड़ो रथ के अश्व अभी,
हँसें लोग तो हँसें, व्यर्थ क्या प्राण गँवाना योग्य कभी?
बिन्दु और सागर की समता हो सकती है भला कहीं?
गुरुतम गिरि से गज-शावक को टक्कर लेना योग्य नहीं।"
"यह क्या राजकुमार, अभी से पड़ते हो तुम कैसे मन्द?
सावधान! चंचल होकर यों मत देना अरि को आनन्द।
किसी कार्य को देख प्रथम ही शंकित होना ठीक नहीं,

यश विशेषता में ही अंकित है यह बात अलीक नहीं।
जैसा निश्चय कर आये हो, तुम वैसा ही काम करो,
धैर्य धरो, मत डरो, कीर्ति को वरो बढ़ो, निज नाम करो।
जो कुछ गर्व जना आये हो वह यों ही खो जाय नहीं,
करो भूलकर काम न ऐसा, सिर नीचा हो जाय कहीं।''
इस प्रकार अर्जुन ने बहु विध दिया उसे उत्साह बड़ा,
पर भय के कारण उस पर कुछ उसका कहाँ प्रभाव पड़ा।
बोला वह—''चाहे जो हो, पर इनसे लड़ न सकूँगा मैं,
वृहन्नले तू रथ लौटा दे, तुझे बहुत धन दूँगा मैं।''
अर्जुन को यों उत्तर देकर उत्तर रथ से उतर भगा,
तव वे उसे पकड़ने दौड़े मन में कुछ कुछ क्रोध जगा।
तत्क्षण विपक्षियों के दल में अट्टहास यों भास हुआ,
चंचल करता हुआ जलधि को मानो इन्दु-विकास हुआ!
''क्षत्रिय होकर रण से डरते, तुम्हें लाख धिक्कार अरे!''
यों कह धावित हुए पार्थ जब, उड़े केश-पट पवन भरे।
कच-कलाप जा पकड़ा उसका असित पाट का-सा लच्छा,
कहा उन्होंने—''इस जीने से मर जाओ तुम, सो अच्छा!
अहो! तुच्छ तन पर भी तुमको मानाधिक ममता मन में,
हँसते हँसते हुत होते हैं धीर धर्म के साधन में।
क्षत्रिय होकर पीठ दिखाना, निश्चय ही यह है दुर्दैव,
क्या कर्त्तव्य-विमुख होकर भी जी सकते हो कहो, सदैव?
दशा अभी से जब है ऐसी, तब आगे कैसा होगा,
वृद्ध-काल क्या कभी किसी का युवा-काल जैसा होगा।
कीर्तिमान जन मरा हुआ भी अमर हुआ जग में जीता,
मरे हुए से भी जीते जी है अपगीत गया बीता।
डरो नहीं, तुम युद्ध न करना, सबसे स्वयं लड़ूँगा मैं,
बनो सारथी ही तुम मेरे, आँच न आने दूँगा मैं।
होता कहीं सुभद्रानन्दन यदि अभिमन्यु यहाँ इस काल,
तो यह अभी जान लेते तुम, कितना साहस रखते बाल।''
यों कहकर अर्जुन ने अपना सच्चा परिचय दिया उसे,
चकित, विनीत और फिर निर्भय इस प्रकार से किया उसे।
उसी शमी-पादप के नीचे फिर वे उसको ले आये,
और उन्होंने अपने आयुध उसे चढ़ाकर उतराये।

वेष बदलने लगे पार्थ तब अरिदल भ्रमित हुआ भ्रम से,
धूलि-धूसरित रत्न शाण पर लगा चमकने क्रम क्रम से!
आक्रामक की भ्रामक आशा मिट्टी में मिल गयी वहीं,
होता है परिणाम कहीं भी बुरे काम का भला नहीं।

उद्योग

जाना विराट नृप ने जब पाण्डवों को,
सम्मान पूर्वक युधिष्ठिर से कहा यों–
"मैं भूल-चूक अपनी पहले मनाऊँ,
वा दूँ तुम्हें सुकृति, निष्कृति की बधाई?
छूटे नहीं तुम स्वयं भय से अकेले,
औदार्य पूर्वक मुझे तुमने छुड़ाया।
देखी यही प्रकृति है पुरुषार्थियों की,
तारे बिना तर नहीं सकते तरस्वी।"
बोले युधिष्ठिर–"न लज्जित कीजिए यों,
आभार है प्रथम ही भरपूर मेरा।
थे आपके हम भले जब भृत्य मात्र,
रक्खा हमें स्वतनु-सा तब आपने ही।"
"सन्तोष किन्तु इससे मुझको कहाँ है?
मैंने नहीं, सदुपकार किया तुम्हीं ने।
मेरी सुता सुत-बधू बनती तुम्हारी,
तो मैं अवश्य निज में कृतकृत्य होता है।"
"सौभाग्य क्या अधिक है इससे हमारा?
जो याचनीय वह दान करे स्वयं ही!
है उत्तरा प्रथम ही दुहिता हमारी,
हो आपका सुत नया अभिमन्यु प्यारा।"

सम्बन्ध सुस्थिर हुआ सुनके सुदेष्णा
पैरों पड़ी विनय पूर्वक द्रौपदी के।
बोली उठाकर उसे हँस याज्ञसेनी–

"दासी सखी बन गयी पद-वृद्धि पाके!"
"ऐसा कहो न तुम पाण्डव-राजरानी,
बारी अहो! अब वही स्वयमेव मेरी।
शिष्या यहाँ बन गयी गुरु-दक्षिणा भी,
ली पार्थ ने सुत-बधू करके, निभी मैं।"

पांचालराज तब कृष्ण समेत आये,
कृष्णातनूज, अभिमन्यु तथा सुभद्रा।
वे थे भले चिर अभिन्न, लगे नये-से,
ये भी उन्हें, प्रणय विस्मय-से भरा था।
माँ से मिली मृदुलता, दृढ़ता पिता से,
उत्साह-साहस मिले निज जन्म से ही।
दी प्रीति पूर्ण वरता वर उत्तरा ने,
सौभद्र को अमर कीर्ति मिली स्वयं ही।
पूरा हुआ परिणयोत्सव सांग ज्यों ही,
बोले युधिष्ठिर सभा कर मन्त्रणा की—
"जैसे हुई कुगति पूर्ण हुई हमारी,
मार्गप्रदर्शन करें अब आप आगे।"
"ऐसी विपत्ति तुमने" बलराम बोले—
"कैसे सही, जन जिसे कह भी न पावें!
तो भी सुयोधन नहीं भय से दबेगा,
माने भले विनय से वह एक मानी।"
"तो उत्तमर्ण अधमर्ण बने स्वयं क्या?"
आवेशयुक्त उठ सात्यकि ने कहा यों—
"ये लोग थे अविनयी कब, सो सुनूँ मैं?
वे नीच तो विनय को भय मान लेंगे।
था अन्त का पण यही वनवासवाला,
पूरा किया जिस प्रकार हुआ इन्होंने।
सौंपे न राज्य अब भी इनका इन्हें वे,
तो दण्ड्य दस्यु-सम निष्ठुर न्यासहारी।
हाली नहीं, प्रिय हली कृपया न भूलें,
वे पक्षपात कर न्याय नहीं करेंगे।
भ्राता स्वयं हरि उपस्थित हैं उन्हीं के,

मैं मन्त्र-तुल्य इनका मत मान लूँगा।''
श्रीकृष्ण ने तब कहा—''सब और पीछे,
आगे सभी समझ लो उस पक्ष को भी।
पांचालराज जिसको उपयुक्त जानें,
वे हस्तिनापुर उसे अविलम्ब भेजें।''
''आशा नहीं अब मुझे कुछ कौरवों से,
तो भी''—कहा द्रुपद ने—''यह ठीक ही है,
मेरे पुरोहित वहाँ उपयुक्त होंगे।''
भेजा बुलाकर तुरन्त उन्हें उन्होंने।

सम्मान अन्ध नृप ने करके सुधी का,
पूछा स्वयं कुशल-मंगल पाण्डवों का।
''राजेन्द्र, मैं कुशल-मंगल की कहूँ क्या,
आदेश में निहित है वह आपके ही।
यों सन्धि-विग्रह-समर्थ विरोग हैं वे,
पूरा तभी न निज धर्म निभा सके हैं।
उत्क्रान्ति का भय नहीं उनमें किसी को,
तो भी युधिष्ठिर समर्थक शान्ति के ही।
'हा तात, गोद वह क्या अब भी वही है?
क्या स्थान शेष अब भी उसमें हमारा?'
मैं प्रश्न लेकर यही उनका चला हूँ,
आगे गला भर गया उनका स्वयं ही।''
''मानो युधिष्ठिर स्वयं यह बोलता है,
भाषा द्विजोत्तम, अहा! यह है उसी की।
तो आपका श्रम करूँ दुगुना वृथा क्यों?
मैं भेज आप अपना प्रतिवाक्य दूँगा।''
''श्रीमान ने सदय होकर जो कहा है,
हूँगा कृतार्थ कहके उनसे वही मैं।
आधार एक उससे उनको मिलेगा,
आशा किये कुछ रुके जिससे रहें वे।''

लौटा पुरोहित परन्तु निराश-सा ही,

पीछे गया सचिव संजय भी उसी के।
उत्थान देकर लिया सब पाण्डवों ने,
औत्सुक्य पूर्वक समीप उसे बिठाया।
जो थे अभिन्न, अब थे कुछ दूर मानो,
सोत्कण्ठ होकर परस्पर देखते थे।
आलाप शिष्ट, फिर भी उपचार-सा था,
संकोच था उभय ओर कहें-सुनें क्या?
पूछे बिना गति न थी, न कहे बिना भी,
पूछा ससंशय युधिष्ठिर ने व्यथा से—
"विख्यात संजय कथा सबको हमारी,
श्रीतात का तुम निदेश, हमें सुनाओ।"
"खोया निदेश-अधिकार स्वयं उन्होंने,
अक्षुण्ण है सहज शील भले तुम्हारा।
कैसे करें विनय भी तुमसे, बड़े वे,
सामर्थ्यवान फिर भी निरुपाय-से हैं।
वात्सल्य से विवश वे, यह क्या कहूँ मैं,
प्रार्थी परन्तु मन से शुभ शान्ति के ही।
'हो वा न हो कठिन सन्धि,' कहा उन्होंने—
'सद्वंश-विग्रह न हो, वह ध्वंसकारी'।"
"तो वंश-विग्रह हमीं कब चाहते हैं?
न्यायी नृपाल पहले फिर वे पिता हैं।
वात्सल्य से विवश हैं यदि सत्य ही वे,
तो क्या अपत्य उनके हम भी नहीं हैं?
संकल्प मात्र कर दे यदि कार्य पूरा,
तो कौन व्यर्थ श्रम-कष्ट यहाँ उठावे?
जो शान्तिपूर्वक स्वयं निज प्राप्य पावे,
संघर्ष में वह पड़े, जड़ कौन ऐसा?
स्वस्थान मात्र जग में हम चाहते हैं,
पावें वही न यदि, तो किस हेतु आये?
कोई कहे, अघ किया हमने यहाँ क्या,
जो आत्मघात कर लें हम आप यों ही?
खोके यहाँ सब, वहीं हम पायँगे क्या?
वे मूढ़, जो हरण को निज त्याग मानें।"
आच्छन्न-सा सचिव संजय हो रहा था,

बोला अनेक पल नीरव ही बिताके—
"जो सत्य है सहज, कौन उसे न माने?
वे हो तुम्हीं, कठिन धर्म निभा सके जो।
हिंसा किसी कलह की सबसे कराला,
सौ सौ मरें, उदर पूर्ति न एक की भी!
माना, अहिंसक नहीं नर का पसारा,
जो इन्द्र-प्रस्थ वह खाण्डव-चैत्य भी है।
तो भी न हो जन स्वयं जन का निहन्ता,
क्या घोर हिंस्र पशु भी निज जाति-घाती?
अक्षम्य सानुज सुयोधन-कर्ण, तो भी,
क्या द्रोण-भीष्म-वध भी तुमको रुचेगा?
जो अंस आसन बने बरसों तुम्हारे,
क्या खड्ग से तुम स्वयं उनको हनोगे?"
"वे भी अनीति-वध क्या उनका सहेंगे,
पाला जिन्हें सतत, जो निज धर्मधारी?
वे हैं अधीन उपजीव्य अधर्मियों के,
स्वीकार निर्णय हमें फिर भी उन्हीं का।
सीधे कहो न तुम जो कुछ चाहते हो,
क्या दीन भिक्षुक बनें हम हीन होंगे?"
"कैसे कहूँ कि यह भी उससे भला है,
रक्ताक्त राज्य-धन जो रण से मिलेगा।"
साश्चर्य धर्मसुत ने हरि ओर देखा,
बोले मुकुन्द—"बुध संजय, ठीक तो है,
ये पाण्डुराज-सुत धार्मिक हैं कहाँ के,
जो छोड़ क्षात्र कुल-धर्म न हों भिखारी!"
"हा विश्ववन्द्य! जितना अपराध मेरा,
क्या है विशाल उतनी यह बुद्धि मेरी?
किंवा जनार्दन, इसी लघु बुद्धि जैसी
क्या क्षुद्र है वह क्षमा-क्षमता तुम्हारी?
सौ दोष दुष्ट जन के तुमने भुलाये,
सद्भाव के वश हुई यह भूल मेरी!
दुर्भाग्य से फिर यही कहना मुझे है—
श्रीराम तापस बने तज राज-लक्ष्मी।"
"सद्भाव संजय, असंशय है तुम्हारा,

जो खेदखिन्न पर क्रुद्ध नहीं इसी से।
जो जानते, तुम पुनः कहते वही हो,
छोटा नहीं, यह बड़ा गुन है तुम्हारा।
श्रीराम ने पितर-शुल्क स्वयं चुकाया,
ये खेल के वचन भी अपने न भूले।
तो भी कहो भरत कौन वहाँ, सुनूँ मैं?
हाँ, केश-कर्षक अवश्य प्रजावती के!
जो दे रहे तुम इन्हें हित की दुहाई,
वे योग्य पात्र उसके इनकी अपेक्षा।
वैसे अघी अधम राज्य हरें, मरें ये,
तो न्याय-धर्म-सुख-शान्ति बनी रहेगी?
हा! एक दुष्ट जन को तुम तो न त्यागो,
ये हार मान उससे मन मार जावें।
जो एक त्याज्य पर सर्व समाज डूबे,
तो डूब जाय, नव सृष्टि नहीं रुकेगी।
यों भी न कौरव न पाण्डव ही रहेंगे,
क्या एक हिंस्र शठ का हठ ही रहेगा?''

''हे देव, दीख पड़ता मुझको यही है,
बोले नहीं तुम स्वयं यह दैव बोला।''
बोले युधिष्ठिर—''कहूँ तब और क्या मैं?
सद्भाव व्यक्त करना सबसे हमारे।
सन्देश केवल यही कहना सभी से—
'सद्धर्म की विजय ही जय है हमारी'।''

निष्कान्त संजय हुआ तब कृष्ण बोले—
''विद्वेष का विषय प्रेम-विवाह में क्यों?
आये अभी हम यहाँ जिस कार्य से थे,
पूरा हुआ वह विसर्जित हों घरों को।''

विदुर-वार्त्ता

अदर्शी राजा से न निज सुत तो शासित हुए,
खरे भी खोटे-से बुध विदुर निष्कासित हुए।
चिकित्सा ऐसी क्या शमन करती शल्य उनका?
बढ़ा आगे से भी विषमतम वैकल्य उनका।
अगत्या लौटा के प्रिय अनुज को अन्ध नृपति,
व्यथा से बोले—"मैं गति-रहित हूँ सम्प्रति अति।
गयी आधी यामा, अवश तब भी मैं जग रहा,
कहाँ भूली निद्रा, तिमिर दुगुना-सा लग रहा।"
"फिरे काँटों वाली विकट अटवी में भटकती,
सपत्नी चिन्ता के निकट कब निद्रा फटकती।
तुम्हें क्या चिन्ता है?"—जन विदुर ने उत्तर दिया।
"मुझे" राजा बोले—"कुल-कलह ने है धर लिया।"
"महा निद्रा ही तो निकट अपने और सबके!
ठिकाना कोई भी नरवर, नहीं अन्य अब के।
नहीं होगी रक्षा उस मरण से भी सहज ही,
रहेगी सोने की इस अवनि में शेष रज ही।"
कहा राजा ने—"मैं किस विध करूँ शान्त मन को,
दिखाई दे क्यों हा! निज निधन भी अन्ध जन को?
बहाता वीरों को तृण-सम, घनों-सा उमड़ता,
मुझे क्या जाने क्यों, प्रलय-जल ही दीख पड़ता।
नहीं आँखें तो भी युग पलक मैं मूँद लुठता,
मुझे चौंका दे जो, वह विकट चीत्कार उठता।
उठाता-बैठाता शिशु-सम वही कान धरके,
पढ़ूँ क्या पट्टी मैं, अब तुम कहो ध्यान धरके।"
"पढ़ाई पूरी हो, तदपि सबका शेष गुनना,

तुम्हें औरों का ही अब उचित है पाठ सुनना।
सुनाता हूँ मैं भी स्मरण मुझको जो रह गया,—
रहें रक्खे को ही हम सब, गया सो बह गया।
नहीं आया है जो पढ़कर मुझे, सो सुन तुम्हें,
लगा है तो भी हा! विषम ममता का घुन तुम्हें।
सभी को सालेगा सब समझ के भी न करना,
दिखाई देता है निविड़तम में स्पष्ट मरना!
स्वयं ही छूटेगा यह भव, न छोड़ें हम भले,
रहेगा थोड़े ही अघ-विभव जोड़ें हम भले।
दबा लेगा बोझा बनकर वृथा गौरव हमें,
न हो जीते जी तो सहन करना रौरव हमें।
रहे रागों में भी प्रकृत गति का ज्ञान हमको,
तने तो भी तानें हत न कर दें ताल-सम को।
सुनेंगे आ आके सुखकर नरालाप सुर भी,
विवादी होते ही सुर खटकता है मधुर भी।
दबा दूँ धीरे से यदि दुख रहा तात-तन है,
मनोबाधा का तो निज दमन में ही शमन है।
नहीं लाठी लेके हनन करता काल जन का,
मिटा देता है सन्तुलन मति के संग मन का।
वही तो बातें हैं, कब तक कहें वा हम सुनें?
भली चर्चा भी क्या, जब तक उसे चित्त न चुनें।
चलें चाहे जैसे हम सब, हमें किन्तु चलना,
जहाँ ऊँची यात्रा, सरल चलने से फिसलना।
अकेला है न्यायी, स्वजन उसके हों सब कहीं,
अकेला भी सच्चा सबल किसके सम्मुख नहीं?
कथा औरों की क्या, तनु तक नहीं आप अपना,
तपस्या थोड़े है तरल मन का ताप तपना?
सुखी हो सोने का अति कठिन क्या यत्न इतना,
बुला के दे दो जो विषय जिसका प्राप्य जितना।
भले ही दुष्टों की सहमति न हो शिष्ट-विधि से,
बनो सच्चे राजा ऋत-सुकृत से, न्याय-निधि से।
करेंगे क्या सोचो, शठ शकुनि कर्णादिक वहाँ,
खड़े हैं धर्मात्मा नर सहित नारायण जहाँ।
डुबाने आये हैं अहित तुमको मित्र बनके,

न बैठो हे स्वामी, चुप तुम यहाँ चित्र बनके।''
''कहूँ मैं क्या भाई विदुर, तुम हो ठीक कहते,
यहाँ मेरे ऐसे हतविधि वृथा दुःख सहते।
नहीं छोड़ा जाता समझ कर भी मोह मुझसे,
किये बैठा मेरा अवश मन ही द्रोह मुझसे।
पितृद्वेषी भी क्या कुछ कह बना दूँ तनय को?
बढ़ा दूँ क्या मैं ही उस अविनयी के अनय को?
रहे राजा होना, निज सुत-पिता ही रह सकूँ,
मनाओ हे भाई, सिर पर पड़े सो सह सकूँ।''

रण-निमन्त्रण

घन और भस्म-विमुक्त भानु-कृशानु-सम शोभित नये,
अज्ञातवास समाप्त करके प्रकट पाण्डव हो गये।
होकर कुमति-वश कौरवों ने प्रबलता की भ्रान्ति से,
रण के बिना देना न चाहा राज्य उनको शान्ति से।
निज बल बढ़ाकर तब परस्पर विजय की आशा किये,
होने लगे वे प्रकट प्रस्तुत युद्ध करने के लिए।
सब ओर, अपनी ओर के राजा बुलाने को वहाँ,
भेजे गये युग पक्ष से द्रुत दक्ष दूत जहाँ तहाँ।
जाकर त्वरित श्रीकृष्ण को लेने इसी उपलक्ष में,
देने उन्हें रण का निमन्त्रण आप अपने पक्ष में,
आधार लेकर एक से सम्बन्ध के अधिकार का,
दैवात् सुयोधन और अर्जुन संग पहुँचे द्वारका।

मध्याह्न भोग समाप्त कर सुख-शयन में भगवान थे,
गम्भीर-नीरव-शान्त-सुस्थिर श्याम-सिन्धु-समान थे।
ओढ़े मनोहर पीत पट वे दिव्य रूप-निधान थे,
प्रत्यूष-आतप-युक्त यमुना-ह्रद-सदृश सुविधान थे।
यों लग रहे उनके निमीलित नेत्र युग्म ललाम थे,
भीतर मधुप मूँदे हुए ज्यों सुप्त सरसिज श्याम थे।
वर वाल मुख-मण्डल-सहित यों सोहते अभिराम थे,
घेरे हुए ज्यों सूर्य को घन सघन शोभा-धाम थे।
नीलारविन्द समान तनु की अति मनोहर कान्ति थी,
गलहार के गज मौक्तिकों में नीलमणि की भ्रान्ति थी!
यों चिह्न कन्धों में खचित थे कुण्डलों के सोहते,

माया-लिखित मानो वशीकर मन्त्र थे मन मोहते।
निःश्वास नैसर्गिक सुरभि यों फैल उनकी थी रही,
ज्यों सुकृत-कीर्ति गुणी जनों की फैलती है लहलही।
किसलय-कुसुम-सा पाणि-तल था पीठ कान्त कपोल का,
वा शेष-फण पर भार था श्यामल सरस भूगोल का!
उन अंगरागों से सुशोभित अंग उनके पीन थे,
शय्यावसन-संघर्ष से जो हो रहे अब क्षीण थे।
मानो शरद के चित्रघन के विरल खण्डों से खिली,
निर्मल सुनील नभस्थलों को सात्विकी शोभा मिली।
था शयन-पाटाम्बर अरुण, झालर लगी जिसमें हरी,
उस पर तनिक तिरछे पड़े थे पीत-पट ओढ़े हरी।
वह दिव्य सुषुमा देखने से ज्ञात होता था यही,
मानो पुरन्दर-चाप सुन्दर खींच लायी है मही।
ऐसे समय में शीघ्रता से पहुँच दुर्योधन वहाँ,
वैकुंठ के बैठा सिराने, उच्च आसन था जहाँ।
कुछ ही क्षणों में पहुँच कर अर्जुन, बिना कुछ भी कहे,
हरि के पदों की ओर निश्चल नम्रता से स्थित रहे।
उन युग्म योधों के सहित शोभित हुए अति विष्णु यों,
कन्दर्प और वसन्त सेवित सो रहे हों जिष्णु ज्यों।
पर वे परस्पर दूसरे को विघ्न मन में लेखते,
ज्यों त्यों रहे प्रभु-जागरण की बाट दोनों देखते।
दोनों अतिथियों के मनों में भाव बहु उठने लगे,
पर कह सके कुछ भी न वे जब तक न पुरुषोत्तम जगे।
आते हुए अभिमुख सलिल के दो प्रवाह बहे बहे,
मानो मनोरम शैल से थे बीच में ही रुक रहे।

कुछ बेर में जब भक्तवत्सल देवकीनन्दन जगे,
तब देख सम्मुख पार्थ को बोले वचन प्रियता पगे—
"भारत, कुशल तो है? कहो यों आज भूल पड़े कहाँ?
जो कार्य मेरे योग्य हो, प्रस्तुत सदा मैं हूँ यहाँ।"
कहते हुए यों सेज पर निज पूर्व-तनु के भाग से,
उठ बैठ तकिये के सहारे, देखकर अनुराग से,
सस्मित अविस्मित पार्थ को निज वचन कहने के लिए,

अविलम्ब उनकी ओर हरि ने नेत्र युग प्रेरित किये।
तब देख उनकी ओर हँसकर कुछ विचित्र विनोद से,
नत भाल पर कर रख किरीटी ने कहा यों मोद से,—
"होते सुलभ सब भोग जिससे, भागते भवरोग हैं,
जिन पर तुम्हारी वह कृपा, सकुशल सदा हम लोग हैं।
यह जन जनार्दन, स्वार्थ-वश ही आज आया है यहाँ,
निज पक्ष में रण का निमन्त्रण मात्र लाया है यहाँ।"
सब गर्व उच्च-स्थान का कुरुराज का यों हृत हुआ,
कुछ अप्रतिभ-सा पहुँच वह भी सामने उपकृत हुआ।
"आया प्रथम गोविन्द, मैं हूँ आपके शुभ-धाम में,
पहले मुझे ही प्राप्य है साहाय्य इस संग्राम में।
मैं और अर्जुन आपको दोनों सदैव समान हैं,
पर पूर्व आये को अधिकतर मानते मतिमान हैं।"
हरि ने कहा—"हे वीर, तुम बोले सुवाक्य विवेक से,
तुम और पाण्डव हैं हमारे स्वजन दोनों एक से।
है प्रथम आने की तुम्हारी बात तात, यथार्थ ही,
पर प्रथम दृग्गोचर हुए मुझको यहाँ पर पार्थ ही।
जो हो, करूँगा युद्ध में सहयोग दोनों ओर मैं,
पालन करूँगा यह किसी विध स्वकर्त्तव्य कठोर मैं।
दूँगा चमू नारायणी निज एक ओर सशस्त्र मैं,
केवल अकेला ही रहूँगा एक ओर निरस्त्र मैं।
दो भाग निज सहयोग के इस भाँति मैंने हैं किये,
चुन लें प्रथम ये पार्थ दो में एक जो भी चाहिए।
विस्तृत चमू निज पक्ष से रण में लड़ेगी सब कहीं,
पर युद्ध की तो बात क्या, मैं शस्त्र भी लूँगा नहीं।"
सुनकर वचन यों पार्थ ने स्वीकार माधव को किया,
कुरुनाथ ने नारायणी सुविशाल सेना को लिया।
तब पार्थ से हँसकर वचन कहने लगे भगवान यों—
"स्वीकृत मुझे तुमने किया है त्याग कटक महान क्यों?"
गम्भीर होकर पार्थ ने उनको यही उत्तर दिया—
"करना मुझे जो चाहिए था, है वही मैंने किया।
सेना रहे, मुझको जगत भी तुम बिना स्वीकृत नहीं,
श्रीकृष्ण रहते हैं जहाँ सब सिद्धियाँ रहती वहीं।"

अनाहूत

अक्षौहिणी एक अनीकिनी ले,
श्रीकृष्ण का श्याल नृपाल रुक्मी
मिला स्वयं आकर पाण्डवों से,
लिया उसे आदर से उन्होंने।
संकोच से वे जब थे दबे-से,
कहा रथी ने हँस पार्थ से यों–
"अन्यान्य आमन्त्रण चाहते हैं,
आया अनाहूत अनन्य-सा मैं।
सेना तुम्हारी लघु कौरवों से,
शंका करो किन्तु न, आ गया मैं,
कहो, हरा के सब शत्रुओं को
मैं ही अकेला तुमको जिताऊँ?"
"शंका?" उठा ले फण नाग जैसे
ऊँचा किया मस्तक फाल्गुनी ने।
श्रीकृष्ण की ओर सुदृष्टि डाली
तथा नवागन्तुक से कहा यों–
"शंका तथा अर्जुन को किसी की–
देखी किसी ने कब है कहीं भी?
लो योग्य आतिथ्य, न तर्ष खाओ,
जो मान चाहो, तुम मान रखो।
श्रीकृष्ण को तो तुम जानते हो,
यही अकेले जय-मूल मेरे।
जीतूँ तुम्हारे बल से कहीं मैं,
तो जूझने से मुझको मिला क्या?"
भौंहें चढ़ा के तब रुक्मि बोला–

"तो व्यर्थ ही मैं इस ओर आया।
मैं पूर्व ही कौरव-पक्ष लेता,
तो क्यों दिखाते तुम दर्प ऐसा?
हाँ, जानता हूँ रणछोड़ को मैं,
भला इन्हें कौन कहाँ न जाने?
रुके नहीं ये दधि ही दुरा के,
भागे चुरा के भगिनी मदीया!
भला यही था मिल कौरवों से,
मैं वैर लेता इनसे पुराना।
परन्तु मेरी यह भूल भारी
सुधार दी है तुमने, कृपा की!"
हँसा किये नीरव चक्रपाणि,
परन्तु धर्मात्मज ने कहा यों—
"रूठो न आहा तुम बन्धु मेरे!
दुर्भाव से अर्जुन ने कहा क्या?
श्रीकृष्ण ही जो पर हैं तुम्हारे,
तो शूर, सोचो, निज कौन होगा?
उबारते ये न पुकार पा के,
तो रुक्मिणी आज अनाथ होती।
सम्बन्ध से केशव के सदा ही,
अभिन्न साथी तुम हो हमारे।
यथार्थ को भी तुम भूल मानो,
तो चूक मैं ही तुमसे मनाऊँ।
जीतो अकेले तुम कौरवों से,
शंका करें क्यों उनसे किरीटी?
मानो इन्हें जो निज तो कहो, क्यों
आत्मीयता से न इन्हें सराहो?"
गया मनाया इस भाँति तो भी,
रुका नहीं रुक्मि, तुरन्त लौटा।
लिया उसे क्या कुरुराज ने भी?
भूखा जहाँ जाय, समूल सूखा!
"जो हैं तुम्हारे अपने, उन्हीं ने
त्यागा तुम्हें, मैं किस भाँति रक्खूँ?"
मिला उसे उत्तर यों टका-सा,

जका-थका-सा रुक रुक्मि बोला—
"जो शत्रु का शत्रु सखा वही तो,
मारी गयी है मति ही तुम्हारी।
जो हो तुम्हारा उनका, भले हो,
मैं क्यों पड़ूँ झंझट में किसी की?
यही भला है, घर लौट जाऊँ,
तटस्थ हो कौतुक दूर देखूँ।
पीछे कुधी कौरव-पाण्डवों के
साम्राज्य भी तो यह देखना है!"

मद्रराज

"पाण्डव जैसे पुरुष, नहीं क्या वैसे ही हम लोग,
सफल हमारा ही है उनसे अधिक युद्ध उद्योग।
फिर भी गुरुजन समझ रहे हैं, होगी मेरी हार,
मातुल, जिन पर खड़े विपक्षी, क्या उनके पद चार?"
"निश्चय उनकी पूँछ बड़ी है! ठीक है न वसुसेन?
पर विस्फोट देख फूटेगा उनके मुँह पर फेन।"
कर्ण न हँसा, बन्धु से बोला—"तुमने सन्धि-विचार
किया यथारुचि, अब विग्रह का लेता हूँ मैं भार।"
"तुम्हें जीतना है जिसको, वह अर्जुन ही है एक,
देखूँगा मैं भीमसेन के गदा-युद्ध की टेक।
उन दोनों को छोड़ करेगा और कौन संग्राम?
दीक्षक उनके हरि तो शिक्षक मेरे भी बलराम।
रहें निहत्थे हरि को लेकर पार्थ भले सन्तुष्ट,
नारायणी चमू से मेरा पक्ष हुआ परिपुष्ट।
'आप च्या करेंगे?' सुन मुझसे बोले कृष्ण सहास—
'गोचारक के लिए अल्प क्या रथ-तुरगों की रास।'—"
"निश्चय सूत-लाभ में मुझसे अर्जुन का साफल्य,
एक और है कुशल सारथी मद्र-महीपति शल्य।
सगा नकुल का मातुल है वह, लेगा पाण्डव-पक्ष,
किन्तु सारथी नहीं रथी ही विद्ध करेगा लक्ष।"
"यह यथार्थ है, सखे, तुम्हारा अद्भुत है उत्साह,
तुम्हें भरोसा है अपना ही, नहीं और की चाह।"
यह कहकर भी दुर्योधन कुछ करने लगा विचार,
फिर उद्योगी हुआ शीघ्र निज निश्चय के अनुसार।

शल्य आ रहा था ससैन्य जब पाण्डुसुतों की ओर,
देख पड़ावों का प्रबन्ध तब वह हो गया विभोर।
बोला—"किया जिन्होंने मेरा यों स्वागत-सत्कार,
मैं अपना सर्वस्व समर में दूँगा उन पर वार।
धन्य युधिष्ठिर, तुमने मेरा रक्खा इतना ध्यान!"
"यहाँ 'युधिष्ठिर' कहाँ? 'सुयोधन' कहिए कृपानिधान!"
कहा प्रमुख परिचारक ने जब नत करके निज भाल,
"क्या? क्या?" कहते हुए शल्य ने तानी भृकुटि कराल।
था कुरुराज निकट ही, उसने आकर किया प्रणाम,
अनुगृहीत मैं आर्य, सफल हैं अब मेरे सब काम।
थोड़ा-सा प्रबन्ध जो मैंने किया आपके अर्थ,
उसकी यह स्वीकृति ही सब कुछ है सम्मान्य समर्थ!"
सन्न हो गया शल्य जानकर उस आदर का भेद,
पर वह जो कह चुका, उसे तो लौटा सका न खेद।
"साधु सुयोधन! हुई तुम्हारी मुझ पर पहली जीत,
वंचित होकर भी मैं कैसे होऊँ अब अप्रीत?
कह आने दो धर्मराज से मुझको अपनी हार,
वचन पलटने को न कहेंगे वे निष्कपट उदार।"

वंचित मद्रराज यों पहुँचा धर्मराज के पास,
उस पर जो बीती थी सुनकर सब हो गये उदास।
कहा युधिष्ठिर ने तब लेकर एक दीर्घ निःश्वास—
"करना नहीं चाहता मन इस विघटन पर विश्वास?
दुर्योधन के लिए किन्तु है इसमें भी औचित्य,
करता आया है ऐसे ही कपट-कृत्य वह नित्य।
आर्य, आपकी मनोव्यथा है हम सब पर सुस्पष्ट,
अप्रिय करने की अधीनता देगी किसे न कष्ट।
पूर्ण कीजिए आप धैर्य धर गये वचन जो हार,
हम निज धर्म-विजय कहकर ही करें उसे स्वीकार।"
"हाय! नकुल-सहदेव भले ही रह जावें मन मार,
किन्तु दे रहा है मेरा ही मन मुझको धिक्कार।
यदि जीवित होती, क्या कहती माद्री मुझसे आज,"
शल्य-विद्ध-सा विकल हो गया विवश शल्य नरराज।

"करते हैं अपने मातुल पर गर्व आज हम लोग,
करें भाग्य पर भले शकुनि के भागिनेय अभियोग।
अम्बा की चिन्ता न कीजिए, वे कर गयीं स्वकर्म,
बने एक दृष्टान्त आपका यह अति मार्मिक धर्म।"
"वत्स वत्स? तुम दोनों मुझसे कहते भी क्या और?
उस कपटी के सिर न बँधेगा कभी विजय का मौर।
धर्मराज, निश्चय यह मेरे किसी पाप का दोष,
क्या करके तुमको अपने को दूँ मैं कुछ सन्तोष।
किया गया हूँ मुख्य कर्ण के कारण मैं अभिभूत
पर अभिशप्त सफल होगा क्या मुझे बनाकर सूत?"
"तात, यही आश्वासन मेरे लिए आज क्या अल्प,
पूरा हो वा न हो किन्तु है मेरा सत्संकल्प।"
अर्जुन बोले—"आर्य, कर्ण से क्या मदर्थ हैं त्रस्त?"
कहा युधिष्ठिर ने—"भैया, मैं अन्य भाव से ग्रस्त।
लगता है, राधेय और हम रहे कभी अविभिन्न,
किसी भूल से रूठ हुआ है वह हमसे विच्छिन्न।"

केशों की कथा

जब पूर्ण दोनों ओर सज्जा हो उठी संघर्ष की,
निज रक्त में बहने चली सब शक्ति भारतवर्ष की,
तब भी क्षमा के भाव जिनके सदय मन में थे जगे,
ज्ञानी युधिष्ठिर निज सभा में कृष्ण से कहने लगे—
"दुर्योधनादिक ने हमारे साथ जो कुछ है किया,
जैसे बना, हमने उसे चुपचाप विष-ऐसा पिया।
फिर सन्धि के सम्बन्ध में उत्तर उन्होंने जो दिया,
हे श्रुतिनिधे, तुमने उसे भी खेदपूर्वक सुन लिया।
कर्तव्य करने को तुम्हारी इष्ट है अनुमति हमें,
रण के बिना अब दीखती है दूसरी क्या गति हमें।
जब सन्धि करना चाहते हैं वे बिना कुछ भी दिये,
कैसे कहूँ मैं, वे नहीं सन्नद्ध विग्रह के लिये।
कब तक अनादृत हो मुझी से मानिनी मेरी रमा,
हो जाय मर्यादा-रहित क्या आज इस जन की क्षमा?
फिर भी अवश-से हम न हों आवेग के उन्मेष से,
पक्षी विहग बनते नहीं हैं एक पक्ष विशेष से।
अधिकार-रक्षा हेतु हम संघर्ष से डरते नहीं,
क्षत्रिय समर में काल से भी भय कभी करते नहीं।
पर व्यर्थ वंश-विनाश की बाधा मुझे है रोकती,
निज रीति-नीति सभीति मेरी ओर है अवलोकती।
कौरव हमारा राज्य निश्चय रोक तो सकते नहीं,
आश्चर्य, फिर भी पाप करने से तनिक थकते नहीं।
हम भी समर से क्यों डरें, जिनके सहायक तुम बने,
पर मन नहीं करता इसे, हम आप अपनों को हनें।
सब शूर देश-विदेश के लड़कर परस्पर कट मरे,

तो त्रिदिव क्यों न बसे, धरा हो जायगी ऊजड़ हरे!
असमय मरण का वरण करके स्वर्ग भी क्यों चाहिए,
यदि सर्व-हित साधन रहे, अपवर्ग भी क्यों चाहिए।
तनु है यहीं तक, क्यों न उससे लोग पूरा काम लें,
जब काल आवे सहज गति से शान्ति से विश्राम लें।
अरि भी जियें नय से, भले ही मनुज मूढ़ कहें मुझे,
कोई सहे न सहे, तुम्हारे शुभ कटाक्ष सहें मुझे।
सौभाग्य से है प्राप्त देवों की हमें अनुकूलता,
पर दैत्य-मद से मत्त हो प्रतिपक्ष है पथ भूलता।
रोकें नहीं यदि हम उसे, तो हानि है यह धर्म की,
विधि ही बिलटती दीखती है नियत नरकुल-कर्म की।
बनता हमारा धर्म भी क्या ही कठोर कभी कभी,
करना हमें पड़ता यहाँ आघात घोर कभी कभी।
पर अन्य गति हो तो कहाँ आश्रय उचित है युद्ध का,
क्या शुद्ध बुद्धि-विवेक रह पाता समर-संक्रुद्ध का।
बनने चली प्रत्येक शाला श्वापदों की-सी दरी,
हो जाय मरघट में न विघटित पुण्यभूमि हरी-भरी।
गूँजे न निज नन्दन विपिन में घोर क्रन्दन नाद ही,
छा जाय इस उन्माद के पीछे न हाय! विषाद ही।
निज दर्प से ही हत हुओं की गृहिणियों की गर्हणा,
डस ले न शेष समाज को भी बन विषम विषधर-फणा।
आचार भी ऊँचे घरों के पतित होने जा रहे,
रक्षक गये, भक्षक चतुर्दिक दाब चढ़ते आ रहे।
सुनते नहीं वे किन्तु मेरे कान मानो फट रहे,—
'पानी अरे पानी, यहाँ हम रक्त देकर कट रहे!'
मैं सुन रहा हूँ रात दिन धर्षित शवों के ध्वान ये,
'किस पर लड़े हम, हाय! हम पर लड़ रहे हैं श्वान ये।'
वे अन्ध हैं, पर दीखता सब ओर मुझको स्पष्ट है,
एकत्र क्षत्र समाज सब निश्चेष्ट नष्टभ्रष्ट है।
सबको डुबाती जा रही नर-रक्त की खर धार है,
हम पाँच की ही नाव तुमसे जा लगी उस पार है।
तृण-तुल्य भी गिनते नहीं हैं जो किसी को गर्व से,
सहसा बिखरते गिर रहे हैं टूट तारक खर्व-से।
ननु-नच-बिना नुच गृध-पक्षों की पड़े हैं छाँह में,

बल आप उठने का बचा है किस बली की बाँह में?
सौ सौ शिवाएँ झपटती हैं, और चीलें टूटती,
रस-पुष्ट अंग पड़े भटों के वे जिन्हें हैं लूटती।
हतभाग्य जितने नर निहत क्रव्याद भी उतने कहाँ?
शत गन्ध-लिप्तों से स्वयं उठती सड़ाँध जहाँ तहाँ?
गतिशील काल, परन्तु घर घर घोर काली रात है,
जन-शून्य-बिन्दु बना अरुण रवि प्रज्वलित प्रतिभात है।
रह रह सिहरता वायु विधवा-वृन्द के चीत्कार से,
सन्देश करता है वहन किसके दयित का प्यार से।
सब सृष्टि धूमिल हो हरे! निस्तब्ध जड़-सी रह गयी,
निज दिव्य जनपद की कहाँ चिर चेतना वह बह गयी?
देती प्रतिध्वनि भी नहीं यह गर्जना यह तर्जना,
संहार पूरा हो गया, तब भी कहाँ नव सर्जना।
हे देव, जन के रक्त से रंजित न जन के हाथ हों,
मधु-मूर्ति बालक और बधुएँ व्यर्थ ही न अनाथ हों।
पाते यहाँ यों तुच्छ तृण भी ठौर रहने के लिए,
तो भी रहे अक्षत हमारा स्वत्व कहने के लिए।
करता न मेरा धर्म मुझको बाध्य लड़ने के लिए।
तो क्या समन्वय-योग्य हम सब हैं झगड़ने के लिए।
भाई सभी कौरव हमारे, भाव उनके भिन्न हों,
ममता कहाँ जावे हमारी, हम भले ही खिन्न हों।''
यों कह युधिष्ठिर भाव-गद्गद, मौन होकर नत हुए,
अभिभूत से भीमादि भी उनसे स्वयं सहमत हुए।
हरि ने कहा—''भवदीय भाषा भाव भद्र सदैव ही,
पर देखता हूँ मैं, यहाँ बाधक बना है दैव ही।
जो हो, इसी उद्देश्य से मैं ही वहाँ जाऊँ न क्यों?
फिर एक बार स्वयं उन्हें परिणाम समझाऊँ न क्यों?
इससे न होगा और कुछ तो अल्प होगा क्या यही,
निर्दोषता तो जान लेगी आपकी सारी मही।''
बोले युधिष्ठिर फिर—''करोगे कष्ट तुम इतना अहा!
मैं आप अपनी ओर से तो हूँ यहाँ तक कह रहा।
यदि गाँव केवल पाँच ही दे दें हमें वे प्रेम से,
तो ठीक, सारा राज्य भोगें वे यथाविधि क्षेम से।''

सहसा सभा की भाव-गति में एक भन्नाटा हुआ,
झंझागमन के पूर्व का-सा घोर सन्नाटा हुआ।
तत्काल बिजली-सी चमक चौंकी वहाँ कृष्णा कृशा,
फिर टूट मानो वह पड़ी निज लक्ष पर लोहित दृशा!
"यह भाइयों पर भाइयों का त्याग आहा! धन्य है,
इस पर भला वह क्या कहेगा, जो अभागा अन्य है।
फिर भी अहो दानव-दलन, कुछ धृष्टता मैं कर रही,
मुझ पर तुम्हारी जो कृपा, कारण यहाँ केवल वही।
अथवा तुम्हें अविदित कहाँ जन के हृदय की बात है?
पर शब्द उठता है स्वयं होता जहाँ आघात है।
भाई अहा! ऐसे कहाँ देखे गये चिरकाल से,
जो भाइयों को मुक्त कर दें इस विषम भव-जाल से!
धिक्कार है, जीती रही मैं भोग कर मन की व्यथा,
निर्लज्ज इस तन के लिए क्या रोग भी कोई न था।
मैं किन्तु भूल नहीं सकी अपमान अपना यत्न से।
तो शान्ति होने से रही यह, हार मान सपत्न से!
कर्तव्य करते हैं कृती, फल का वहाँ क्या ध्यान है?
पर सुन रही हूँ मैं जिसे, यह दूसरा ही ज्ञान है।
यह नाश हम अथवा उपस्थित कर रहे हैं आप वे?
हमसे मरें तब भी करेंगे आत्म-हत्या पाप वे!
हम काल के प्रतिकूल जाकर देश रख सकते नहीं,
उन्मत्त कुत्ते मनुज का मख-भाग भख सकते नहीं।
पापी प्रकट निज पाप का प्रतिफल न पावेगा यहाँ,
तो कष्ट करके पुण्य-पथ से कौन जावेगा यहाँ?
उन दुष्कृतों की प्रकृति पलटी जायगी ऐसे कहीं,
जो कर चुके हैं वे, करेंगे फिर उसे कैसे नहीं?
इस जन्म में निज दण्ड से बच जायँगे यदि दुष्ट वे,
उस जन्म तक तो क्या न होंगे और भी परिपुष्ट वे?
आश्चर्य है, कृतकर्म उनके आज विस्मृत-से हुए,
चेतन जहाँ जड़-सा हुआ जीवित वहीं मृत-से हुए।
तब तो अधीर अनाथ-सी निरुपाय मैं हूँ रो रही,
आशा किये थी अन्त में जो, आज वह भी खो रही।
सुनकर न सुनने योग्य ही इस सन्धि के प्रस्ताव को,
यह चित्त मेरा हो रहा है प्राप्त जैसे भाव को,

कैसे उसे वर्णन करूँ मैं दग्ध-हृदया परवशा?
हरि, जान सकते हो तुम्हीं जन के मथित मन की दशा।
क्या दस्युओं पर यह दया ही मात्र दिखलाई गयी,
दौर्बल्य का दृष्टान्त रख दुर्नीति सिखलाई गयी।
चलते बड़े जन आप हैं जिस रीति से संसार में,
करते उन्हीं का अनुसरण हैं अन्य जन व्यवहार में।
यह रक्त निकला आज हा! पंचाननों के घाव से!
निज पर तथा पर निज यहाँ देखे गये बर्ताव से।
ये कुछ कहें, पर 'डर गये पाण्डव' कहेंगे जो अहो,
उनके मुखों पर कौन अपना हाथ रख लेगा कहो?
सब सह चुके ये, शेष क्यों रह जाय यह अपमान भी!
मेरे सदय दयनीय बनकर भूल बैठे मान भी।
होता सदा है मानियों को मान प्यारा प्राण से,
यश के धनी हैं जो उन्हें अपयश कराल कृपाण से।
हा! दिग्विजय कर इन्द्र-सा वैभव विलसते जो रहे,
वे पाँच गाँवों के भिखारी आज यों ही हो रहे।
तन से अधिक मन का हरे, जन-दैन्य मरण-समान है,
निज राज-लक्ष्मी का इन्हें अपहरण वरण-समान है!
यह आह, यह उच्छ्‌वास, यह कम्पस्फुरण सब ठीक है,
पर देखती थी मैं जिसे, वह स्वप्न आज अलीक है।
जानें यही गन्तव्य निज, मैं तो सदा अनुगामिनी,
पर क्या करूँ विधि ही बना बैठा मुझे जब वामिनी।
किंवा कथन कुछ व्यर्थ अब, जब दी गयी उनको क्षमा,
क्या बन्धुओं के बीच में बोले बधू अधमाधमा!
मैं किन्तु दासी ही नहीं, यदि मन्त्रिणी भी हूँ कभी,
तो आज मैं कैसे भुला दूँ आप अपनी सुध सभी।
पतिवर अमर मेरे, सहज ये विष विशेष पचा गये,
डूबे न जल में, अनल से भी सबल अंग बचा गये।
मैं ही मरण माँगूँ न क्यों, क्या दीन अब देखूँ इन्हें,
उन तीन तीन परीक्षणों का श्रेय फिर भी दूँ किन्हें?
पर पाँचों गाँवों के धनी ये, दीन क्यों कहलायँगे?
निज बन्धुओं का चित्त चौसर खेल कर बहलायँगे?
फिर झेलना क्या दुःख, सुख से झूलना ही झूलना,
भूले भले भोले सभी ये, तात, तुम मत भूलना।

मृगचर्म पहने देख इनको विकल वन में डोलते,
तुमने कहा था जो स्वयं आक्रोश पूर्वक बोलते,
जो रोष इनके भाइयों पर था तुम्हें उस दिन हुआ,
क्या आज भी उसके स्मरण ने मन तुम्हारा है छुआ?
देखे गये जो दक्ष केवल अक्ष-पण के खेल में,
क्या जुग जुड़ेगा पाण्डवों का कौरवों से मेल में!
उस वार जो घटना घटी, क्या भूल ये वह भी गये,
अथवा विचार विभिन्न इनके हो गये हैं अब नये।
क्या वे प्रतिज्ञाएँ वृथा ही की गयी थीं क्रोध में?
क्या वह विषम वन वन भटकना था इसी की शोध में?
क्या दिव्य अस्त्रों के लिए वह कठिन तप था स्वाँग ही?
क्या सिद्धि उन सब साधनों की थी अहो! यह माँग ही?"
फिर दुष्ट दुःशासन हुआ था तुष्ट जिनको खींच के,
वे केश लेकर वाम कर में अश्रु-जल से सींच के,
हृदयस्थ दक्षिण कर किये, शरविद्ध हरिणी-सी हता,
कहने लगी वह मानिनी वा चू उठी पावक-लता!
"करुणा-सदन तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो,
चिन्ता-व्यथा सब पाण्डवों की शान्त कर हरने लगो,
हे तात, तब इन मलिन मेरे कृष्ट केशों की कथा,
मैं और क्या विनती करूँ, भूले तुम्हें न यथा-तथा।"
बाधा-विकृत मुख मूँद कर चिर सुन्दरी रोने लगी,
नत निर्झरी-सी पाद्य लेकर प्रभु-चरण धोने लगी।
होकर स्वयं भी द्रवित-से सुन प्रार्थना करुणा भरी,
देने लगे निज कर उठा कर सान्त्वना उसको हरी।—
"भद्रे, न रो हा! शान्त हो, यह सोच सब मन से हटा,
तू जान ले, अविलम्ब अपना कष्ट-काल कटा कटा।
वैभव-सहित रिपु-रहित पाण्डव शीघ्र ही हो जायँगे,
निज क्रूर कर्मों का कुफल प्रत्यक्ष कौरव पायँगे।
सौभाग्यवति, तू रो रही है आज पद-परिणति बिना,
रोंती फिरेंगी कौरवों की नारियाँ कल पति-बिना।
उनकी व्यथा भी, जानता हूँ मैं, तुझे कलपायगी,
सुख-दुःख दोनों एक-से ही बहन, तब तू पायगी।
प्रिय ज्येष्ठ पाण्डव की प्रतिष्ठा मान्य मुझको ज्ञान में,
पर आत्म-निष्ठा ही अटल तेरे अतुल आख्यान में।

होगा अधिष्ठित फिर महाभारत अखिल संसार में,
पर जीत तेरी ही रहेगी आज सबकी हार में।
निज साधना से अधिक नरकुल को युधिष्ठिर में मिला,
क्या स्वर्ग में भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला।
तो भी समय के पूर्व मानो ये कृपा कर आ गये,
इस द्वन्द्व-मध्य अजातरिपुता आप अपनी पा गये।''
''हरि, वह तुम्हारा ही दिया जो भी यहाँ जन को मिले,
झेलो न तुम तो आप अपना भार भी किससे झिले।
जीवन, यशस्, सम्मान, धन, सन्तान, सुख सब मर्म के।
मुझको परन्तु शतांश भी लगते नहीं निज धर्म के।''

शान्ति-सन्देश

सजी हस्तिनापुरी, बजे स्वागत के बाजे,
राज-सभा में सजे-बजे सब सभ्य विराजे।
उसमें सात्यकि-संग आज श्रीकृष्ण पधारे,
वे वक्ता थे, मौन समुत्सुक श्रोता सारे।
सुस्निग्ध धीर-गम्भीर रव नीरद-सा था छा रहा,
सुन सुन दुर्योधन का हृदय-हंस उड़ा-सा जा रहा।

'प्रज्ञाचक्षो महाराज, मैं हूँ आभारी,
अभ्यर्थना विशेष यहाँ की गयी हमारी।
अब यदि दोनों ओर हो सके कुछ निबटारा,
तो मेरा श्रम सफल और सौजन्य तुम्हारा।
अन्यथा द्रोण भीष्मादि के दर्शन भी थोड़े नहीं,
सन्तोष एक उसको सदा जो अवसर छोड़े नहीं।''

कहा भीष्म ने—''हरे, कृपा यह स्वयं तुम्हारी,
कुण्ठित-सी ही यहाँ हमारी गति है सारी।
मानो हम जी रहे मृत्यु से मुँह न मोड़ कर,
वन को भी जा सके न सम्मुख समर छोड़ कर!
क्षत्रिय-समाज का किन्तु अब काल पक गया दीखता,
दुर्योधन सीधा पाठ सुन उसे उलट कर सीखता!''

हरि हँस बोले—''बाण नहीं छूटा है अब भी,
प्रकटा पावक किन्तु नहीं फूटा है अब भी।
अब भी कुल का राहु-केतु यह झुक सकता है,
सुनिए, अब भी प्रलयकाण्ड वह रुक सकता है।

कुछ और नहीं, केवल यहाँ कुल का गौरव चाहिए,
पुरु के कुरु के अनुरूप ही पौरव-कौरव चाहिए।

था अपनों के लिए राज्य का त्याग जहाँ पर,
अपनों का ही हरा जाय क्या भाग वहाँ पर?
तात, प्रगति का द्वार तनिक नीचा पड़ता है,
उद्धत नर का वहाँ सहज ही सिर लड़ता है।
वह अहं हमीं हम तो नहीं, हम भी उसका अर्थ है,
जो सबको लेकर चल सके, सच्चा वही समर्थ है।

हटने से बढ़ किसी कुपथ में हेठी माने,
परम भीरु वह, भले वीर अपने को जाने।
यह दुर्वलता उचित नहीं है दुर्योधन में,
सच्चा साहस यहाँ आप अपने शोधन में।
जो जन अविनीत नहीं, उसे भीत समझना भूल है,
वह ठूँठ लचेगा क्या भला, सूखा जिसका मूल है।

काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह से पड़े न कच्चा,
निज बल का विश्वास वही कर सकता सच्चा।
लड़ भिड़ कर जो काम चलावे, मुँड़चीरा है,
लाख चमक ले काँच, और ही कुछ हीरा है।
कैतव से परधन मूस कर धनी नहीं बनते बली,
औरों को पीछे, आपको पहले छलता है छली।

पाण्डु-सुतों ने भला कौन-सा पाप किया है?
यही एक क्या, इसी वंश में जन्म लिया है।
यह कुल इतना पतित हो गया है सचमुच क्या?
इसमें कुछ भी नहीं रह गया है बच-खुच क्या?
पाण्डव क्या अरि हैं इसलिए, वे आत्मीय सभी कहीं,
मिल बैठे अर्थ-अनर्थ तो पर भाई भाई नहीं?

रहा धर्म के लिए आपका वंश प्रशंसित,
उसमें ऐसा अनाचार है अति ही अनुचित।
इसका कुछ प्रतिकार आप यदि नहीं करेंगे,

तो निश्चय ही बन्धु-करों से बन्धु मरेंगे।
अब भी न आप होंगे सजग, तो पीछे पछतायँगे,
निज दुर्बलता-वश अन्त में कुछ भी शेष न पायँगे।

हो सकती है शान्ति, आप चाहें तो अब भी,
रुक सकती है क्रान्ति, आप चाहें तो अब भी।
भ्रान्त सुतों को क्षान्त कीजिए आप यहाँ पर,
शान्त करूँ विक्रान्त पाण्डवों को मैं जाकर।
निज का औरों का भी यही करने में कल्याण है,
अति अकल्याण है अन्यथा, नहीं किसी का त्राण है।

पाण्डव ही हैं, प्रथम दिग्विजय किया जिन्होंने,
फिर भी उसका सुयश आपको दिया जिन्होंने।
राजसूय में निखिल नृपों से कर चुकवाया,
और आपके निकट उन्हें लाकर झुकवाया।
पर तो भी उन पर आपका अत्याचार घटा नहीं,
उस क्रूर कर्म को देखकर किसका हृदय फटा नहीं।

उन अपनों को आप समझते रहे पराया,
बल से जब कुछ बना न, छल से उन्हें हराया।
राजपाट से ही न तृप्ति करके तृष्णा की,
सभा-मध्य की गयी चरम दुर्गति कृष्णा की।
जिसके कहने में आज भी जकड़ा जाता है गला,
सुन उसको भावी पीढ़ियाँ हमें क्या कहेंगी भला।

सीमा फिर तो एक क्षमा की भी होती है,
प्रतिहिंसा का बीज अन्त में वह बोती है।
तदपि आप पर उन्हें अभी अप्रीति नहीं है,
इसका हेतु अशक्ति और कुछ भीति नहीं है।
अविकृत अजातरिपु आप पर रखते अब भी भार हैं,
सेवा कराइए वा समर, प्रस्तुत सभी प्रकार हैं।

नोचें गृध्र-शृगाल, इसी के लिए मनुज क्या?
रण में अक्षत रहे किसी के अनुज-तनुज क्या?

यहाँ हार पर जीत, जीत पर हार मिलेगी,
जेता से भी सहज न अपनी हानि झिलेगी।
सिन्दूर नहीं अंगार क्या हमने सतियों को दिया,
सर्वस्व जिन्होंने प्यार कर अपने पतियों को दिया।

उभय पक्ष के क्षेम भाव-से आया हूँ मैं,
और शान्ति-सन्देश यहाँ पर लाया हूँ मैं।
अधिकारों का विषय कभी सामान्य नहीं है,
जीवन मरण-विधान समझिए आज यही है।
जल जाय न यह जनपद कहीं अबलाजन की आह में,
बह जाय महाभारत न यह रण के रक्त-प्रवाह में।

आया हूँ मैं, दोष न फिर कोई दे पावे,
रुकना हो तो यह अनर्थ अब भी रुक जावे।
न हों व्यर्थ विध्वंस, ग्रहण-सा सबका छूटे,
सन्धि-शान्त हो जाय, सहज सम्बन्ध न टूटे।
भाई भाई मिल कर यहाँ प्रेमामृत से पुष्ट हों,
अपने अपने अधिकार में आकर सब सन्तुष्ट हों।

'पीछे कुछ हो, राज्य भोग जीते जी कर लें',
यह विचार कर भले अभागे जन मन भर लें।
फिर जो होगा लोग उसे तो न निहारेंगे,
जिला जिला कर किन्तु उन्हें फिर फिर मारेंगे।
जो जग में नाम डुबायँगे, भाग कहाँ बच पायँगे,
क्या जानें, अपने राज्य का कितना मूल्य चुकायँगे।

फूटेगा पथ खोज कहीं न कहीं से पानी,
पहले ही नालियाँ न हों तो घर की हानी।
घुस आते हैं यहाँ उन्हीं से कभी सरीसृप,
गेह-तुल्य ही देह-दशा भी कही गयी नृप!
इन्द्रिय-रन्ध्रों से आ घुसे विष-विचार जो चित्त में,
द्रुत उन्हें दूर कर हूजिए रत कल्याण निमित्त में।

ढले मिलन की स्वर्ण-मूर्ति यदि इसी ताव से,
तो फिर क्या अप्राप्य पाण्डवों के प्रभाव से!
पुत्र-तुल्य फिर उन्हें आप यदि अपना लेंगे,
तो नर क्या, सम्मान आपको सुर भी देंगे।
तब उनके बल से आपको दुर्लभ कौन पदार्थ है?
कहिये तो उस परमार्थ के आगे क्या यह स्वार्थ है?—''

''आहा! यह परमार्थ-कथन है कैसा भोला!''
दुर्योधन सक्रोध बीच में ही उठ बोला—
''यदि वे ऐसे कृती, भयातुर होते हैं क्यों?
होकर भी दिवमान्य धरा पर रोते हैं क्यों?
पाता इस सन्धिमहत्त्व में लघु-बल का प्राधान्य मैं,
बहु जन हैं मेरे पक्ष में, बहुमत से भी मान्य मैं।''

''कहने को था स्वयं सुयोधन, कुछ मैं तुमसे,
तुम पहले ही डोल उठे झंझा के द्रुम से।
यह भी अच्छा हुआ, बच गया मैं उस श्रम से,
फिर भी भूलो भद्र, न तुम बहुमत के भ्रम से।
इस आतुरता के मूल में उनकी सदय वदान्यता,
आश्चर्य, आप कहनी पड़ी तुमको अपनी मान्यता।

बहुजन-बल की बात ज्ञात है मुझे तुम्हारी,
सचमुच ऐसी बड़ी सफलता की बलिहारी!
मेरी ही सब चमू इधर, मैं उधर अकेला,
उनके मातुल शल्य तुम्हारे हैं इस वेला।
बहुमत का तुमको गर्व है तो उसकी भी जाँच हो,
मैं हूँ पाँचों की ओर से, कहाँ साँच को आँच हो।

जाओ क्यों तुम दूर, यहीं गुरुजन मत ले लो,
यह पण वह पण नहीं, समझ कर ही कुछ खेलो।
लड़ने को जो विवश बँधे-से युद्ध तुम्हारा,
सैन्य-सदृश यह भार उन्हीं पर रख दो सारा।
यदि कह दें ऐसे मान्य जन झूठा पाण्डव-पक्ष है,
तो मैं कहता हूँ, रण बिना सिद्ध तुम्हारा लक्ष है।

हो जाती है साथ बिना जाने भी जनता,
पात्र-योग्य मत-दान कहाँ बहुतों से बनता।
बहु जन जिनको यहाँ जानते हैं नामों से,
उनको कितने कहाँ समझते हैं कामों से?
बहु मत रखने को मान्य भी रहते बहुधा बाध्य हैं,
बन जाते हीन चरित्र भी मत-संग्रह में साध्य हैं!

बहु जनमत से जिन्हें प्राप्त होती है सत्ता,
करनी पड़ती प्रकट उन्हें भी यों मतिमत्ता—
'जन साधारण नहीं समझते हैं निज हित ही,
हम यह कडुआ घूँट उन्हें दे रहे उचित ही!'
पर बहुमत की है बात क्या तुम जैसों को सोहती,
है अहंमन्यता ही जिन्हें मुग्ध बना कर मोहती?"

"किन्तु कलह का मुख्य एक निर्णायक रण ही,
विजय-हेतु अनिवार्य सदा प्राणों का पण ही।
दूत बने तुम आज कहोगे सो सुन लूँगा,
सबका उत्तर समर-भूमि में ही मैं दूँगा।"
प्रभु बोले—"सीधी अगति ही होगी इस अपघात से,
थोड़ा ही कहना शेष्र अब मुझे तुम्हारे तात से।

एक स्वजन को त्याग करे कुल-कष्ट-निवारण,
ग्राम-हेतु कुल तजे, ग्राम जनपद के कारण।
जनपद-जगती सभी तजे आत्मा के हित में,
निरत न हों नरनाथ, आप इस असत-अचित में।
सब मरें व्यर्थ ही जूझकर यह अनर्थ क्यों कीजिए,
चुन अर्जुन का प्रतिभट स्वयं जय-निर्णय कर लीजिए।"

"मैं प्रस्तुत हूँ!" खड़ा हो गया कर्ण तमक कर,
चरण-भार से सुदृढ़ धरा कँप गयी धमक कर।
नृप ने उससे कहा—"कर्ण, ऐसा न कहो तुम,
चुनना तुमको नहीं, मुझे है, मौन रहो तुम।
वह द्रुपद-धरण, वह घोष-रण, वह विराट-गृह गो-हरण,
यदि सभी सत्य हैं तो कहो, करूँ तुम्हें क्यों कर वरण?"

दुर्योधन ने किन्तु कर्ण को यों परितोषा,—
"कहलाता है वीर, यही तो भाग्य-भरोसा।
अथवा देकर एक चार लेकर बच जाना,
सीखें हरि से लोग दूत का धर्म निभाना।
पर भुज-बल रहते भाग्य पर छोड़ें क्यों हम आपको,
सुन लें विनोद से ही न क्यों इस आकुल आलाप को।"

सुनकर उसकी बात घृणा से हरि मुसकाये,—
"ऐसों को क्या सौ विरंचि भी समझा पाये।
यह विनोद ही तुम्हें कहीं पीछे न रुलावे,
उसे बचावे कौन, स्वयं जो मृत्यु बुलावे।"
तब तक उनसे धृतराष्ट्र ने अनुनय के स्वर में कहा—
"अच्युत, मुझको आदेश दें शेष और जो कुछ रहा।"

"मुझको हे नरनाथ, अधिक अब कहना है क्या,
दुग्ध-धरा पर रुधिर-धार ही बहना है क्या?
बिना धर्म के अर्थ व्यर्थ ही-से होते हैं,
पर दुर्बल जन अर्थ-धर्म दोनों खोते हैं।
पाण्डव तो अब भी आपके प्रति पितृभक्ति निभा रहे,
सुनिए सम्प्रति, जो आपसे वचन उन्होंने हैं कहे।

'तात, आपके सुकृत सहायक हुए हमारे,
पूर्ण किये आदेश आपके हमने सारे।
झेले बारह वर्ष दुःख दारुणतम वन में,
एक वर्ष फिर छिपे छिपे हम रहे भुवन में।
उत्तीर्णों को पद तो मिले यदि न पुरस्कृत कीजिए,
अपने विशाल वात्सल्य में भाग हमारा दीजिए।

आप पिता हम पुत्र, आप प्रभु हम परिचारक,
कौन आपसे अन्य हमारा बड़ा विचारक।
स्वत्व-हेतु हम विकल कहीं निज धैर्य न खो दें,
मन तक कसके क्यों न, स्वजन यदि काँटे बो दें।
हे तात, न आने दीजिए आने वाली आपदा,
हम आज्ञाकारी आपके यथापूर्व ही हैं सदा।

किया गया बर्ताव निरन्तर हमसे जैसा,
देखा अथवा सुना किसी ने है क्या वैसा।
साक्षी उसके लिए आप ही रहें हमारे,
किसी भाँति कट गये कठिन वे दिन भी सारे।
अब भीरु, कापुरुष और जो इच्छा हो, कह लीजिए,
पर कृपया लड़ने के लिए हमको विवश न कीजिए।'

मुझसे भी यह कहा उन्होंने—'हा यह ज्वाला!
करना था यदि उन्हें यही, हमको क्यों पाला?
इसीलिए क्या, सहें सदा अपमान सभी हम,
मारे मारे फिरें, बैठ पावें न कभी हम।
वह प्यार तात का हाय! क्या कोरा कपटाचार था,
हम पाँच मात्र ही भार थे, वह सौ का परिवार था।'

अखिल सभा से कहा उन्होंने मेरे द्वारा—
'हम प्रार्थी हैं, न्याय करें सब सभ्य हमारा।
शरणागत पापार्त्त धर्म की सुनें न न्यायी,
होता है तो वही पाप उनको भयदायी।
अघ की ऐसी ही रीति है, वह अपनों को मारता,
क्या नहीं निम्नगा-नीर निज तट-तरु-मूल विदारता।'

प्रज्ञादृष्टे, सोच देखिए आप स्वयं ही,
क्या उनका यह कथन नहीं निष्पाप स्वयं ही।
देख धर्म की ओर अभी तक धीर युधिष्ठिर,
बैठे हैं चुपचाप ताप पाकर भी फिर फिर।
अब उनका राज्य दिये बिना उचित आपको और क्या?
कोई न्यायी निष्पक्ष भी कहे भला इस ठौर क्या?"

बोल उठे नृप आप आर्द्र से—"यही उचित है,"
द्रोणादिक ने कहा—"इसी में सबका हित है।"
पर क्या सम्मति-जन्य मौन था दुर्योधन का?
ज्वलन मत्सरी वही जानता था निज मन का।
"हे राजन्, राज्य रहे, उन्हें निकट बुलाकर प्यार से,
दें पाँच गाँव भी आप तो लेंगे वे आभार से।"

हरि ने जब यह कहा वहाँ छाया सन्नाटा,
दुर्योधन ने उसे व्यंग्य करके ही काटा,–
"सात स्वरों के तीन ग्राम तो सभी कहीं हैं,
एकस्वर में पाँच ग्राम ये सुने यहीं हैं!
वे मेरे तनु के तत्त्व हैं, प्राण-संग ही जायँगे,
रण-बिना सुई की नोंक भर भूमि न पाण्डव पायँगे!

कुल-गौरव की और त्याग की यहीं दुहाई,
ऐसी गुरुता वहाँ उन्हें क्यों नहीं सुहाई?"
"छोड़ आततायित्व चलो बनकर तुम भाई,
माँगो कुछ भी क्यों न, वे न दें तो मैं दायी।"
"मैं उनसे माँगूँ, जो स्वयं मेरे भिक्षुक हो रहे?"
"निरुपाय समर-गति हेतु ही तब तुम इच्छुक हो रहे।"

"यही सही, यह वसुन्धरा वीरों की भोग्या,
बल से लेने योग्य, नहीं देने के योग्या।
लोग मुझे कुछ कहें, भीरु-कायर न कहेंगे,
हम सौ अथवा वही पाँच अब यहाँ रहेंगे।
कुछ और मुझे सुनना नहीं, ठान जो ठठी सो ठठी।"
शठता के साथ चला गया सभा छोड़कर वह हठी।

"क्षमा क्षमा हे रमानाथ!" धृतराष्ट्र पुकारे,
"इन आँखों के और क्या कहूँ, यही न तारे!
विदुर, बुलाओ यहाँ तनिक तुम गान्धारी को,
समझावे कुछ वही बुलाकर कुविचारी को।
हा! माँ ने ही मूँदी जहाँ आँखें भद्राधान में,
क्या अधिक मोह दौर्बल्य यह उसकी मुझ सन्तान में।"

बोली इसी प्रकार वहाँ आकर गान्धारी,
"मैं भी हे गोविन्द, अन्ततः अबला नारी।
पाण्डुसुतों को देख मुझे भी डाह हुई थी,
एक एक पर बीस बीस की चाह हुई थी!
दुर्योधन में विकसित हुई घनीभूत वह डाह ही,
क्या कर सकती हूँ मैं भला, भर सकती हूँ आह ही।

तुम घर आये और न कर पाये हम दर्शन,
हम जैसा हतभाग्य कहाँ होगा कोई जन।"
यह कह करुणा-गलित हो उठे राजा-रानी,
हरि ने पट से पोंछ दिया आँखों का पानी।
"हे सुकृति, उपस्थित मैं यहाँ एक बार देखो मुझे,"
जग गये एक क्षण के लिए दृग-दीपक जो थे बुझे।

"तुम्हें देखकर और देखना अब क्या हमको?
समझेंगे कल्याण-कवच ही हम निज तम को।"
आया तब तक वहाँ सुयोधन किन्तु न माना,
गया व्यर्थ ही उसे गुरुजनों का समझाना।
फिर भी बोला—"अब शेष क्या रहा दूत का काम कुछ?
हरि, आओ मेरे साथ तुम, लो भोजन-विश्राम कुछ।"

"न मैं विपद में हूँ न प्रेम का भाव तुम्हारा,
फिर कैसे स्वीकार करूँ प्रस्ताव तुम्हारा?
साधु विदुर के यहाँ रह रहा हूँ मैं सुख से,
सबसे बढ़कर वहाँ मेल है मन से मुख से।"
"कुछ धोखे का भय है तुम्हें?" "तुम कहते हो, मैं नहीं।"
"क्या कर लो तुम, यदि पकड़कर तुम्हें बाँध लूँ मैं यहीं।"

"इसके पहले कटें क्यों न तनु-बन्धन तेरे!"
सात्यकि ने निज खड्ग खींचकर नयन तरेरे।
तत्क्षण प्रभु ने उसे रोककर जैसे तैसे,
दुर्योधन की ओर न जाने देखा कैसे।
परिकर समेत वह काँपकर वहीं लड़खड़ाता रहा,
वे गये विदुर के गेह, वह बैठ बड़बड़ाता रहा।

पर दिन प्रभु प्रस्थान-पूर्व कुन्ती के आगे,
प्रणत हुए तब विविध भाव उसमें उठ जागे।
"तात, एक युग बीत गया आशा में मेरा,
घेरे मुझको रहा निरन्तर घना अँधेरा।
कब से मैंने देखा नहीं—वे सब कैसे हैं कहाँ,
वे गये गहन में और मैं बैठ रही घर में यहाँ!

सम्पद है, जो विपद लगा दे हरिस्मरण में,
मेरा सम्बल रहा यही सर्वस्व-हरण में।
पाकर तुमको आज सफल वह सब कुछ सहना,
जीती हूँ मैं तात, यही तुम उनसे कहना।
आया वह अवसर आप यह, प्रस्तुत हो इसके लिए,
क्षत्राणी पीड़ा प्रसव की सहती है जिसके लिए।

जीवन का वह प्रश्न मरण से भी न रुकेगा,
मानी का सिर कटे, कभी भय से न झुकेगा।
तुमने इतने दुःख धर्म के पीछे झेले,
उसका हो जो शेष, उसे भी वह अब ले ले!
रक्खे तुम सबको भी वही, तुमने रक्खा है जिसे,
आगे का पथ ही जगत, पर पथ में ही रहना किसे?"

"दुर्लभ ही है बुआ, धर्म में दृढ़ मति ऐसी,
जिसके जैसे कर्म, पायगा वह गति वैसी।"
आये कौरव इसी समय उनको पहुँचाने,
पुर बाहर रुक मिले-जुले सब एक ठिकाने।
लौटा कर सबको अन्त में कहा उन्होंने कर्ण से,
"हे शूर, चलो कुछ दूर तुम मेरे साथ सुवर्ण-से।"

"जो आज्ञा," कह कर्ण आ गया उनके रथ में,
बोले वे एकान्त लाभ कर उससे पथ में।
"कर्ण, और क्या कहूँ, युद्ध अनिवार्य हुआ अब,
धर्मराज को छोड़ सभी का कार्य हुआ अब।
भवितव्य यही है, इसलिए करूँ व्यर्थ क्यों खेद मैं,
पर वीर, बता दूँ अन्त में तुम्हें तुम्हारा भेद मैं।

पाकर मुनि से मन्त्र, किया कुन्ती ने साधन,
कौतूहल-वश बाल्यकाल में तपनाराधन।
हुआ उसी संयोगजन्य यह जन्म तुम्हारा,
किन्तु कुमारी रख न सकी आँखों का तारा।
फिर भी जननी का मन मृदुल जब देखो तब रो रहा,
अपने अंचल-धन के लिए अब अधीर वह हो रहा।"

कर्ण सन्न रह गया, अन्त में वह कुछ काँपा,
उसने यन्त्र-समान करों से निज मुख ढाँपा,
एक बोझ हट जहाँ दूसरा सिर पर आवे,
कोई कैसे वहाँ साँस सुख की ले पावे।
सिर उठा और नीचा हुआ मानों सँभल नहीं सका,
जो अप्रतिहतगति था सदा वह अब था कितना थका!

"देख रहा हूँ स्वप्न जागता हुआ यहाँ मैं,
रहा जहाँ का तहाँ घूमकर कहाँ कहाँ मैं!
जिसे नियति से, बड़ी स्वयं जननी ने त्यागा,
उससे बढ़कर और कौन है कहीं अभागा?
ऐसे को भी संसार में अपनाने वाले मिले,
धरती ने झेल लिया उन्हें जो न नरक से भी झिले।

हरे-हरे! क्या आज आपने मुझे सुनाया?
सब पाकर भी हाथ कहाँ कुछ मेरे आया?
गौरव देकर मुझे दैव ने छीन लिया है,
तुमने आज कुलीन बनाकर दीन किया है।
निश्चय मेरी गति तो वहीं मैं सब भाँति जहाँ पला,
पर सहोदरों से जूझना, यह अभाग्य कैसा भला?

मैं पानी से निकल आग में आज गिरा हूँ,
उठ ऊँचा पा रहा शून्य ही शून्य निरा हूँ।
मुझसे तो वह साँप भला जो कंचुक छोड़े,
यह जन कैसे जुड़े हुए नाते अब तोड़े!"
"क्या क्षमा कर सकोगे न तुम माँ के परवश पाप को?"
"पर क्षमा करूँगा देव, मैं क्यों कर अपने आपको?

मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान, किन्तु तब क्या यह जाना,
वह है मेरी अनुज-वधू, अब कहाँ ठिकाना,
इसका प्रायश्चित्त मृत्यु के हाथ बिकाना।
हे देव, दैव को भी यहाँ मैं हो गया असाध्य-सा,
अपने ही राज्य-विरुद्ध अब लड़ने को हूँ बाध्य-सा!

निज पापों का एक आप ही पाचक हूँ मैं,
सबका दानी आज तुम्हारा याचक हूँ मैं।
यही याचना, यह रहस्य जाने न युधिष्ठिर,
जानेगा तो मुझे धरेगा पैरों पर गिर।
'मैं अनुग, तुम्हारा राज्य है, लो वा दो चाहो जिसे!'
वह यही कहेगा, किन्तु मैं कर पाऊँगा क्या इसे?

जाय न यों ही धर्मराज्य वह आया आया,
किसने कहाँ अजातशत्रु का ऋतपद पाया।
मैं सहता ही रहा, और सब भी सह लूँगा,
दुर्योधन का भी न कृतघ्न यहाँ मैं हूँगा।
मैं इतना आगे बढ़ चुका, पीछे कोई गति नहीं,
वह भी हो ले इस हाथ से, जिसमें निज सम्मति नहीं!"

"धीर, ठीक ही धर्मराज को तुमने जाना,
तुम्हें उन्होंने सूत-पुत्र मन से कब माना?
मैंने उनसे सुना—'बुद्धि कुछ चकराती है,
देख कर्ण-पद मातृपदस्मृति हो आती है।
हम पाँचों उसके सामने छोटे लगते हैं मुझे,
पर खरे नहीं उसके वचन खोटे लगते हैं मुझे'—"

"सचमुच दम्भी मात्र आज मैं उसके आगे,
निकले माथा फोड़ भाग्य जब मेरे जागे!
भटक शून्य में कहाँ टिकेंगे वे, क्या जानूँ?
कर जाऊँ, कर्त्तव्य जिसे मैं अपना मानूँ!"
"तो फिर मिलने के अर्थ अब जाओ, मैं कैसे कहूँ?
क्यों कल के लिए न आज ही पूर्णतया प्रस्तुत रहूँ।"

कुन्ती और कर्ण

अभिमानी दुर्योधन ने जब मानी नहीं बड़ों की बात,
सन्धि न हुई, वंश-विग्रह का दीख पड़ा दारुण उत्पात;
तब कुन्ती के मन को मानो मथने लगे घात-प्रतिघात,
उस दिन न तो खा सकी कण भर, न वह सो सकी क्षण भर रात।
कभी लेटती, कभी बैठती, कभी घूमती विकल पृथा;
गये डूबती-उतराती के स्थिर रहने के यत्न वृथा।
निशाचरी चिन्ताएँ तम में चित्त चबाती आती हैं,
तदपि एक निश्चय पर जन को वे ही पहुँचा जाती हैं।
गयी सबेरे साहस करके रानी सुर-सरिता के तीर,
किरणों से झिलमिला रहा था गलित-सुवर्ण-ललित शुचि नीर।
सुकच कर्ण आकण्ठ मग्न हो करता था मृदु मन्त्रोच्चार,
विकच कमल से निकल रहा था अलि-दल का कल-गल-गुंजार।
रवि के सम्मुख दृश्य अनोखा था मनस्वि-मुख-मण्डल का,
किंवा रवि की ही छवि का था बिम्ब विमल जल में झलका!
वासरमणि के कर ·कुन्ती को लगे चुभाते-से शर-शूल,
साल रही थी जिसे प्रथम ही बाल्यकाल की अपनी भूल।
मुख नीचा कर खड़ी रही वह टपटप आँसू टपकाती,
बीच बीच में झलक झाँककर पलक आप ही झपकाती।
नित्य-कृत्य पूरा कर अपना निकला ज्यों ही जल से वीर,
सिहर अचानक उसे देखकर हुआ ससम्भ्रम, फिर गम्भीर।
सूख गया गीला शरीर, पर फिर स्वेदार्द्र हुआ दानी,
कुन्ती की याचना इन्द्र से सहज कठिन उसने जानी!
तो भी अपने को सँभाल कर बोला रविनन्दन अविजेय—
"आयें, पद-वन्दन करता है आज्ञा का उत्सुक राधेय।"
"हा राधेय, सत्य से भी यह अनृत आज जाग्रत जीता,

तू कौन्तेय, अनृत से भी यह दुर्विध सत्य गया बीता!''
''देवि, सुना सब कुछ यह मैंने स्वयं कृष्ण के श्रीमुख से,
वह दुःस्मृति संचित करके अब वंचित न हो सहज सुख से।''
''देवी नहीं, न आर्या ही हूँ, मैं नागिन-सी जननी हूँ,
सबसे ऊँचा पद पाकर भी स्वयं स्वगौरव हननी हूँ।
माँ से माँ न कहे तो कुछ भी कहे पुत्र, वह गाली है,
किन्तु दोष दूँ कैसे तुझको जो स्वकर्म गुणशाली है।''
''सभी बड़ी-बूढ़ी तुम जैसी माताएँ ही हैं मेरी,
पर मेरी सन्दिग्ध जातता बजा चुकी अपनी भेरी।''
''मैं अभागिनी भी किस मुँह से कहूँ जात-धन आप तुझे?''
''तुम-सी माता हुई अमाता, यह किसका अभिशाप मुझे?''
''उन्हीं उदित से पूछ न, जिनसे चालित ग्रह-नक्षत्र समस्त,
मुझे दिखाये बिना त्राण-पथ हुए हाय! उस दिन जो अस्त।''
दीख पड़ा धूमिल-सा पल भर उन्हें महानल का गोला,
बल से वाष्प रोक पुरुषार्थी अंगराज रुककर बोला—
''तो इतना कहकर ही क्या तुम निरपराधिनी होती हो?
इससे अधिक मूल्य तो उसका, जो मुँह ढँककर रोती हो।''
''किन्तु नहीं रोऊँगी अब मैं, जल से भली मुझे ज्वाला,
तू भी क्या समझेगा, कैसे क्या कर बैठी कुल-बाला।
मुख्य दण्डदाता है जन का मन ही उसकी भूलों का,
कण्टक-मय कर देता है वह उसका आसन फूलों का।
तब भी तुझ जैसे उदार से आशा थी मुझको अनुकूल,
किन्तु मानती हूँ अभाजना मैं इसको भी अपनी भूल।
शस्त्र-परीक्षा के दिन ज्यों ही सूत-पुत्र तू कथित हुआ,
एक साथ ही मेरा मानस व्यथित भाव से मथित हुआ।
मैं चिल्लाने चली—'नहीं, यह मेरा सुत है, मेरा ही!'
किन्तु डूब-सी गयी उसी क्षण, दीखा मुझे अँधेरा ही।
जो हो गया, हो गया वह तो, गया, बह गया जो पानी,
यही समझ तू, आयी हूँ मैं सुनकर तुझे महादानी।''
''जो आज्ञा हो, पर यह जीवन अर्पित दुर्योधन के अर्थ।''
''समझ गयी मैं, किन्तु अर्थ में न हो उसी का महा अनर्थ।
डालूँगी न धर्म-संकट में हीन याचना करके मैं,
तू दाता तो नहीं याचिका तुझे कोख में धरके मैं।
किन्तु कृतापराध की अपने क्षमा-याचना हीन नहीं,

इसे देखते हुए लोक में मुझ-सा कोई दीन नहीं।
राज्यंदान कर दुर्योधन ने क्रीत किया यदि तेरा चाप,
तो सर्वस्व समर्पण करके होगा अनुग युधिष्ठिर आप।''
''किन्तु कहेगा अखिल लोक क्या, करो न तुम मुझको यों ग्रस्त।''
''हा! लोकापवाद से मैं ही डरी न थी, तू भी है त्रस्त।
भाई से भाई को भी क्या लोक नहीं मिलने देगा?''
''किन्तु नींव निज दृढ़ मैत्री की कर्ण कहाँ हिलने देगा?
क्या संकट में उसे छोड़ दूँ, जो मुझ पर अवलम्बित है?''
''पर यंह भी तो देख, अन्ततः उचित कहाँ उसका हित है।
जितने भी ज्ञानी गुरुजन हैं, विग्रह के वे सभी विरुद्ध,
तेरें बल पर ही दुर्योधन ठान रहा है यह गृह-युद्ध।
कुल ही नहीं देश भी सारा हो जावेगा इसमें नष्ट,
वीर-हीन होकर यह वसुधा होगी अपने पद से भ्रष्ट।
क्या तू रोक नहीं सकता है उसे मित्र की सम्मति से?
तुझे वीरता का बल है तो बचा उसे तिर्यग्गति से।''
''इसे मानता हूँ, उसका मन मैं भी मोड़ नहीं सकता,
वह मुझको भी छोड़ेगा, मैं उसको छोड़ नहीं सकता।
होनहार कुछ ऐसा ही है, वह होकर ही मानेगा।''
''पर जिसके कारण यह होगा, जगत उसे भी जानेगा।''
''तुम तो जानोगी, मैंने निज वचन अन्त तक पाला था।''
''हाँ, सहोदरों पर अनाथिनी ,माँ का क्रोध निकाला था।''
''नहीं पाँच गाँवों का भी क्या पाँच पाण्डवों को अधिकार?
यही न्याय करने वाले का साथी है तू अरे उदार!''
''प्रेम 'दोष-गुण नहीं देखता।'' ''यह अबलाओं की-सी बात,
तेरे मुँह से नहीं सोहती, धीर-वीर है जो विख्यात।
प्रेम न देख सके चाहे कुछ, पर विवेक तो अन्ध नहीं,
तू ही कह, आता है तुझको इसमें उसका गन्ध कहीं?''
''शान्ति-हितार्थ पाँच गाँवों का त्याग तुच्छ क्यों और न हो।''
''कहाँ रहें वे, जिन्हें सुई के अग्रभाग भर ठौर न हो?
तुझे इष्ट है, अन्यायी को कर दें आत्म-समर्पण वे?
स्वत्व धर्म पर भी न लगा दें अपने प्राणों का पण वे?''
''नहीं-नहीं, मेरे अनुजों को मुझसे भी लोहा लेना,
तुमसे यही विनय है, मेरा परिचय उन्हें न तुम देना।
सचमुच मेरी प्रसू तुम्हीं, मैं और कहाँ होता उद्भूत।''

"मैं यह कैसे कहूँ, किन्तु है तू मेरा ही सिंह सपूत।
तुझमें जो मिथ्यापवाद-भय, उसका अघ मेरे सिर है,
भीरु कहो, पर दर्प-दम्भ से ऊँचा उठा युधिष्ठिर है।"
"ध्रुव वह धर्मराज, विजयी हो, हठी पुत्र क्या और कहे?
पुत्र पाँच के पाँच तुम्हारे, अर्जुन किंवा कर्ण रहे।"
"दोनों ओर मुझे रोना ही, रुके किन्तु कातर वाणी,
मरने में ही जीने वाले जनती हैं हम क्षत्राणी?"
"दो मुझको पदधूलि, तुम्हें मैं दे न सका माँ, मनचाहा।"
"हाय वत्स, अब धूलि-भस्म ही शेष, और सब कुछ स्वाहा!
जैसे तू जाने, राधा पर प्रीति प्रकट करना मेरी,
मैं दुःखिनी देवकी-सी हूँ, वही यशोदा माँ तेरी!"

युयुत्सु

निर्मल नीलांचल रत्न-टँका,
निशि ने पसार संसार ढँका।
पर कर्ण अचंचल हो न सका,
पीड़ित शिशु-सा वह सो न सका।
आकर बयार बहलाती थी,
मुँह चूम केश सहलाती थी।
पर शान्त न थी मन की पीड़ा,
क्या तुच्छ जाँघ का वह कीड़ा!
था मन्द गन्ध-दीपक जलता,
उसका प्रकाश भी था खलता।
वह भी अधीरता देख न ले,
छिप जाय आपसे वीर भले।
पर दीप न बली बढ़ा पाया,
उससे युयुत्सु मिलने आया।
वह भी था नृप धृतराष्ट्र-तनय,
प्रिय न था विदुर ज्यों जिसे अनय।
जननी न किन्तु गान्धारी थी,
वह असवर्णा सुकुमारी थी।
सुनकर जिसका स्वर मात्र मधुर,
रीझा था अन्ध नृपति का उर।
मुँह पोंछ ससम्भ्रम चादर से,
उठ कर्ण मिला बढ़ आदर से।
"आये तुम इतनी रात गये,
होगी ऐसी क्या बात अये!"
माँ के अनुरूप मधुर वाणी,

बोला युयुत्सु—"तुम हो दानी,
कुछ समय मात्र तुमसे पाऊँ,
मैं भी कृतार्थ तो हो जाऊँ।
भीतर ज्वाला-सी जहाँ जगे,
ऐसे में कैसे आँख लगे?
मैं था अनिद्र कुछ अकुलाया,
तुम जाग रहे हो, सुन आया।
हरि आये गये, न सन्धि हुई,
मन सुमन हुए न सुगन्धि हुई।
सद्भाव यहाँ कुछ जगा नहीं,
मुझको यह अच्छा लगा नहीं।
सौजन्य उधर, अन्याय इधर,
मैं आकुल हूँ, अब रहूँ किधर?"
"मुझसे यह प्रश्न असंगत है,
अज्ञात कहाँ मेरा मत है?"
"वह भली भाँति है ज्ञात मुझे,
कर दो इतना व्याख्यात मुझे,
मैं भीत नहीं, जो कहे, कहो,
पर मातृ-पक्ष अवगीत न हो।"
आ गया कर्ण सन्नाटे में,
जो था कुल-धन के घाटे में।—
"आया यह मेरे निकट तभी!"
सँभला वह, जो सहमा न कभी।
"यदि है यह दोष, दम्भ-कृत है,
आत्मा से कौन अनादृत है?
होता प्रदीप से कज्जल ज्यों,
कर्दम से शत-सहस्र-दल त्यों।
इतना ही किन्तु यथेष्ट नहीं,
तुम बनो न यों दुश्चेष्ट कहीं।
अपनों के साथ मरण अच्छा,
अथवा पर-पक्ष वरण अच्छा?"
"पाण्डव क्या कभी पराये हैं?
वे छल से गये हराये हैं।
अपनों से बैर किया किसने?

क्रूरों का मार्ग लिया किसने।''
''देते हैं तुमको अन्न वही।''
''यह तो कहने की बात रही।
पाते हैं स्वयं कहाँ से वे?
हम भी क्या नहीं जहाँ से वे?
यों कौन किसे क्या देता है,
कोई किससे क्या लेता है।
सीधा विनिमय व्यापार यहाँ,
समझूँ इसमें उपकार कहाँ?
धनियों के हाथ भले धन है,
पर जन के साथ स्वजीवन है।
पाता, जो स्वेद बहाता है,
धन तन का मैल कहाता है।
अधिकार सभी को है चुन का,
सम्बन्ध बड़ा मेरा—उनका।
वे करें किन्तु अनरीति कहीं,
तो क्या मैं रखूँ नीति नहीं।
जो अंगराज्य है प्राप्त तुम्हें,
हो और न हो पर्याप्त तुम्हें,
किसलिए मिला उसका पट्टा,
तुम करो पार्थ का मुँह खट्टा।—
औदार्य स्वार्थमय ही उसका,
उद्देश्य राज्य जय ही उसका।
इस कारण तुम पर प्रीति उसे;
तुमसे है मिली अभीति उसे।
जो वैरी बना बन्धुजन का,
है मित्र कौन दुर्योधन का?
यदि उसकी प्रियता में फूले,
तो तुम न रहो भ्रम में भूले!''
''तुम अपनी कहो मुझे छोड़ो,
बाहर से व्यर्थ न बल जोड़ो।
जाकर पहले न विदुर के घर,
तुम आये यहाँ कहो क्यों कर।''
''सोचा यह, प्रथम विरोध सुनूँ,

निर्णय कर फिर औचित्य चुनूँ।"
"यदि कर्ण समीप न तुम आते,
मिलने विकर्ण से ही जाते।
तो पाते फिर भी कुछ वैसा,
मुझसे है इष्ट तुम्हें जैसा।"
"उसमें अवश्य अच्छी मति है,
फिर भी क्या अप्रतिहत गति है?
जो ठन कर ठान नहीं सकता,
मैं उसको मान नहीं सकता?"
"कुछ कहती नहीं तुम्हारी माँ?"
"क्या कहे भाग्य की मारी माँ?
वह स्वामि-सेविका मात्र सदा,
रो उठती है यों यदा कदा—
'तुमको पीछे परिताप न हो,
मुझको लेकर अपलाप न हो।'
वह किस रानी से हीन कहीं,
स्वेच्छा से ही स्वाधीन नहीं।
जो स्वयं न उसको देख सके,
उनसे कब उसके नेत्र थके।"
"तो अपनी ही क्या तुम्हें पड़ी?
जननी से कौन समृद्धि बड़ी?"
यह कह कर कर्ण तनिक काँपा,
रुक वहीं अधर उसने चाँपा।
"निष्क्रिय-सा न्याय-लक्ष उसका,
मैं पूरक दाय-पक्ष उसका।
मैं जननी का वह जात नहीं,
जो सहे न्याय का घात कहीं।
आक्रोश दोष के प्रति मेरा,
गतिशील, स्वमति का मैं प्रेरा।
हो चाहे मेरी हानि न हो,
पर मुझको आत्मग्लानि न हो।
माँ को जग में अपवाद मिले,
पर प्रभु का उसे प्रसाद मिले।"
"क्या यह सीधा विद्रोह नहीं?"

"हो, मेरा उच्चारोह यहीं।
मैं कुछ करने के लिए तुला,
होगा मेरा विद्रोह खुला।
कुछ समाधान मैं खोज रहा,
अपने को वहीं नियोज रहा।
पर पाता नहीं कहीं वैसा।"
"यदि करने लगें सभी ऐसा?"
"कर सकते केवल तुम्हीं कहीं,
कुरुराज-कर्ण दो अलग नहीं।"
"बलि, मेरे लिए बहुत इतना,
दूँ तुमको धन्यवाद कितना!"
"कृत्कृत्य हुआ हूँ मैं आकर,
देखूँ अब नियति-नृत्य जाकर!"

जब गया युयुत्सु, कर्ण डोला,
निःश्वास छोड़कर वह बोला–
"सचमुच मैं क्रीत सुयोधन से,
क्या एक मात्र भौतिक धन से?
मुझ पर है इतना भार लदा,
रहता हूँ जिससे दबा सदा।
जो था मैं हा! वह भी न बना,
जननी, क्यों तूने मुझे जना।"

समर-सज्जा

उजड़ चले गृह-ग्राम-पुर हुआ जहाँ अभिथान,
शिविरों से बसने लगे प्रान्तर नगर-समान।
जन के जीवन चक्र का यह कैसा उपहास,
नागर फिर लेने चले वन्य शिविर का वास!
यात्री योधों के हुए घर ही समर-क्षेत्र,
साले बधुओं के उन्हें सजल शरों-से नेत्र।
कहा सुभट ने लिपटता देख पदों में बाल,—
"जियी लाल, आया अभी यह मेरा ही काल!"
पैर बढ़े पर मुँह मुड़े पीछे बारम्बार,
पुनः लौटना हो न हो, लें भर नेत्र निहार।
पोंछ दिया प्रिय ने वदन—"करो प्रिये शुभ गान,"
किन्तु प्रिया के कण्ठ में गलित हुआ निस्वान।
चरण देहली पर रुके, गयी किन्तु बढ़ दृष्टि,
कुल-ललनाओं को लगी सूनी-सी सब सृष्टि।
पांचाली में था जहाँ प्रत्यय का उत्साह,
भानुमती भरने लगी रह रह ठण्डी आह।
हँस दुर्योधन ने कहा—"आज विजय का योग,"
वह बोली—"प्रियतम, मुझे महँगा उसका भोग।
जैसे भी हो, विजय ही बना तुम्हारा धर्म,
किन्तु पराजित प्रथम ही हैं ये मेरे मर्म।"
"प्रिये, पराजय मत कहो यह है विजयी प्रेम,
कर सकती है मृत्यु भी क्या मेरा अक्षेम?

धर न खींच मेरी गदा अरे युयुत्सु-किशोर!"

"दो न, गदा घोड़ा बने कोड़ा कार्मुक डोर!
तात, चलूँगा युद्ध में मैं भी निज़ दल जोड़,
देखूँ, काका भीम का कितना विस्तृत क्रोड़?"
सुनकर बच्चे के वचन उसे हृदय पर खींच,
दुर्योधन चुप ही रहा क्षण भर आँखें मींच।

कुरुक्षेत्र में जा जमे दोनों दल दो ओर,
धरती पर बादल घिरे फिरी गगन में घोर।
हय-गजादि पशु भी गये विवश नरों के साथ,
जीना हरि के हाथ है, मरना सबके हाथ!
शल्य चिकित्सक भी गये लेकर निज सम्भार,
शस्त्राहत का शस्त्र ही करते हैं उपचार।
"एकादश अक्षौहिणी कौरव सेना तात!"—
कहा युधिष्ठिर ने—"यहाँ अपनी केवल सात।"
भीमसेन यह सुन हँसे ऊँचा कर निज गात्र,
"यहाँ सात, पर एक पर एक वहाँ दो मात्र!"

पाण्डव-सेनापति हुआ धृष्टद्युम्न समर्थ,
बड़े स्वयं छोड़ें न क्यों पद छोटों के अर्थ।
उधर पितामह-तुल्य था कौन अन्य जन मान्य,
उनके रहते पा सके जो उनका प्राधान्य?
"परवश-सा स्वीकार मैं कर लूँगा यह भार,
पर न करूँगा मैं किसी पाण्डव का संहार।
वे अवध्य हैं और तुम रण में मेरे रक्ष्य,
पांचालों का लक्ष्य मैं, वे हैं मेरे लक्ष्य।
पहले ही तुम जान लो मेरे मन की बात,
और कर्ण से पूछ लो जो सदेह उत्पात!"
वृद्ध भीष्म का कर सका दुर्योधन न विरोध,
पर अभिमानी कर्ण उठ बोला यों सक्रोध,—
"मेरी कुत्सा ही सदा जरठ, तुम्हारा काम,
तजा तुम्हारे पतन तक मैंने यह संग्राम।"
"तुम जैसों की भीष्म को कहाँ अपेक्षा कर्ण?"
किन्तु हुआ कुरुराज का तत्क्षण वदन विवर्ण।

बिना कहे कहते हुए–'यह क्या किया कठोर?'
देखा कातर-दृष्टि से उसने उसकी ओर।
"रख सकता था मान मैं यह करके ही आज,
पर मेरा कण कण तुम्हें अर्पण है कुरुराज!
मन भी तुमने है दिया देकर बहु धन-मान,
मेरा जीवन ही उचित है उसका प्रतिदान।
वे पाण्डव-वध विरत हों, किन्तु अटल ये वर्ण,
रह सकता है एक ही अर्जुन किंवा कर्ण।"

तदनन्तर आये वहाँ राम रेवती-रंग,
दोनों पक्षों ने उन्हें लिया एक ही संग।
"देख रहा हूँ मैं यहाँ उलटे ही सब ढंग,"
बोले वे–"यह हो गया मेरा मधुरस-भंग!
हन्त! अन्त में आज क्या करते हो तुम लोग!
अपने हाथों आप ही मरने का उद्योग!
पुरावृत्त से भी नहीं भरे तुम्हारे तुन्द,
बनते हो तुम मनुज से दनुज सुन्द-उपसुन्द।
हरि से मेरा वश नहीं, उन्हें रुचे सो ठीक,
अथवा कहना चाहिए अमिट भाग्य की लीक।
कहने-सुनने की नहीं, गुनने की सब बात,
सबकी आँखें, किन्तु जब हटे तामसी रात।
जहाँ आप माने नहीं कोई अपनी भूल,
होगा निर्णय अन्य का वहाँ कहाँ अनुकूल?
न्याय-युद्ध भी न्याय से होते हैं क्या पूर्ण,
विजयी का भी सिर मुझे करना पड़े न चूर्ण!
बन्धु-रुधिर से बन्धु ही रँगते हो तुम हाथ,
असहयोग ही उचित है मुझे तुम्हारे साथ!
मेरे पट पर क्यों पड़े कलि-कल्मष की कीच,
चलूँ तीर्थ-यात्रा करूँ जाकर मैं इस बीच?"

पर दिन कौरव-दूत बन, लेकर मानो लूक,
गया पाण्डवों के निकट शकुनि-सपूत उलूक।

उनकी धार्मिकता तथा निज अबध्यता सोच,
समाश्वस्त वह था तदपि मिटा न भय-संकोच।
अपने स्वर में कर चला चर उलूक शुक-पाठ,
उखड़ा दुर्योधन यथा बन कर सूखा काठ।—
"मृत्यु यहाँ लाई तुम्हें, सावधान हो जाव,
कण्टक-वन के व्रण नहीं आगे रण के घाव।
यहाँ धर्म कह कर नहीं चलने का पाखण्ड,
कल की दुर्गति आज क्या भूल गये तुम भण्ड!
यही ठीक, सहते रहो तप कह कह कर कष्ट,
राज्य-राज्य जप कर वृथा करो न निज को नष्ट।
कुटिल कृष्ण-कौटिल्य भी प्रकट हुआ इस बार,
चला तारने जो तुम्हें सार-धार के पार!
क्लीवों के वश के कहाँ वीरों कैसे कृत्य?
देखें हम भी यदि करे वृहन्नला निज नृत्य!
अबला के बल पर बचा भूखा भीम वराक,
वैनतेय से जूझ कर क्या कर लेगा काक?
नकुल और सहदेव तो हैं अनाथ-से दीन,
भ्रातृ-हीन होंगे न क्यों वे पितृ-मातृ-विहीन?
राज्य लाभ के अर्थ यह क्या अच्छा उद्योग,
शिखंडियों को साथ ले आये हो तुम लोग!
अब भी अवसर है तुम्हें, भाग बचो इस रात,
मुझको भी क्या लाभ जो करूँ तुम्हारा घात?
बिगड़ चुका यह लोक तो, किन्तु व्यर्थ है शोक,
जाओ, करो उपाय कुछ, सुधर जाय परलोक!"
धीर युधिष्ठिर आप ही सुनकर रहे न शान्त,
निज वीरों का क्षोभ भी किया उन्होंने क्षान्त।
"मरता है अस्वस्थ जो करता वही प्रलाप,
तात! तनिक अनुभव करो दुर्योधन का ताप।
कहना उससे दूत, तू—सुना तुम्हारा स्वान,
मिला तुम्हीं से यह भला आहव का आह्वान।
दुर्बलता ही तो प्रकट करते हैं दुर्वाद,
सावधान हम हों न हों, तुम क्यों करो प्रमाद।
मुझको कहना है यही अब जो लक्ष समक्ष,
वेध न पावेंगे उसे किसी शकुनि के अक्ष।"

अर्जुन का मोह

"उदय की आभा अक्षय हो।"
वन्दिजन बोल उठे—"जय हो।
अरुण-से हे चिर तरुण, चलो,
शत्रु-दल तम-सा तमक दलो।"
मुग्ध हो मारू बाजों से,
सजे दोनों दल साजों से।
बढ़े गज, घन घण्टे घहरे,
चलित हय हींस ललित लहरे।
भेरियाँ गूँजीं, शंख फुंके,
सुभट समरानल हेतु झुके।
उठी शस्त्रों में किरणें कौंध,
यथा चपलाओं की चकचौंध।
व्यूह में नर नाहर-से बद्ध,
टूट पड़ने को थे सन्नद्ध।
बिगड़ते हुए बन्धु-सम्बन्ध,
बना जाते हैं जन को अन्ध।
अमर-से नर-वर समर चढ़े,
मन्दिरों-से रथ सरव बढ़े।
गगन में सौ सौ केतु उड़े,
जयाजय के जुग जोग जुड़े।

स्वयं श्रीहरि थे जिसके सूत,
केतु पर आंजनेय अवधूत,
पार्थ-रव, जिसके अश्व अवध्य,

रुका युग सेनाओं के मध्य।
रथी ने डाली दृष्टि समक्ष,
देखने को अपना प्रतिपक्ष।
दिखाई दिये पितामह मान्य,
और गुरु तथा स्वजन अन्यान्य।
युद्ध करना है इनके संग,
बैठ-सी उनकी गयी उमंग।
"अहह! यह दुष्कृत कैसा घोर?"
उन्होंने देखा प्रभु की ओर।
"इन्हें मैं कैसे मारूँ हाय!"
हुए वे सहसा कंपितकाय।
"स्वजन-सम्बन्धी ये ऐसे,
रक्ष्य शर-लक्ष्य बनें कैसे?
भतीजों सहित खड़े भाई,
कुमति ही क्यों न इन्हें लाई।
ससुर-साले हैं, मामा हैं,
सुपरिचित सब श्रुतनामा हैं।
मिला भी इन्हें मार कर राज्य,
हरे, तो वह है हमको त्याज्य।
चले हम करने कैसा पाप!"
छोड़ बैठे वे अपना चाप।
दया से द्रवित हो गये धीर,
भरा उनके नयनों में नीर।
देख कर उनका रंग कुरंग,
किया मधुसूदन ने भ्रू-भंग।
"विषम वेला में तुझको ओह!
कहाँ से आया यह व्यामोह?
न इसमें स्वर्ग, न कीर्ति, न मान,
नहीं आर्योचित, यह अज्ञान
कहाँ औदार्य, अरे यह दैन्य,
प्रथम ही तुझ पर चढ़ा ससैन्य।
दया बन आयी दुर्बलता,
आप तू अपने को छलता।
उचित क्या तुझको यह बर्ताव,

छोड़ तू क्लैव्य-कापुरुष-भाव।
क्षुद्र दौर्बल्य हृदय का छोड़,
परन्तप, उठ अपूर्व यश जोड़।
कहाँ तेरा वह क्षत्रिय-गर्व,
आप ही आप मिला यह पर्व।
करेगा यदि तू यहाँ प्रमाद,
पायगा तो अधर्म-अपवाद।
रहा जिनमें अतिमान्य अजेय,
उन्हीं में होना है क्या हेय?
करेंगे सब सब कहीं अकीर्ति,
मृत्यु अच्छी है, नहीं अकीर्ति।
हुआ यदि विजयी रण-पण पाल,
भूमि भोगेगा तू चिरकाल।
मरा तो स्वर्ग-विहार अखण्ड,
वीर उठ, और उठा कोदण्ड।''
''अकण्टक ऋद्ध राज्य भू पर,
और अमराधिपत्य ऊपर,
सकेंगे कैसे मेरा रोक,
इन्द्रियों का शोषक यह शोक?
कुलक्षय से कुल-धर्म विनष्ट,
और कुल-वधुएँ होंगी भ्रष्ट।
हरे, मैं कैसे आज तरूँ,
उन्हें मारूँ वा आप मरूँ?
करूँ क्या, तुम्हीं कहो हे देव!
भक्त पर निठुर न हो हे देव!
त्याग स्वजनों का हननोद्योग,
भला है भव में भिक्षा-भोग।
न होगा मुझसे तो यह युद्ध।''
हो उठी उनकी गिरा निरुद्ध।
''सदय हो मुझपर दया-निधान,
बचूँ इस हिंसा से भगवान!
अहिंसा ही हो मेरा धर्म,
उसी में है हम सबका शर्म।''
''कर्म क्या वह तेरे बस का?

लक्ष्य तू आप असाहस का।
बता, यदि होते ये पर मात्र,
न होते तेरे स्वजन अपात्र,
तदपि सहकर इनके उत्पात,
तू न करता क्या इनका घात?
धनंजय, मत हो तू यों दीन,
हीनता हिंसा से भी हीन।
त्रस्तता तेरी त्रासक है,
सहज ही तू तो शासक है।
नहीं हिंसा दुष्टों की शास्ति,
अन्यथा न्याय-नीति की नास्ति।
न होने दे निज बुद्धि अशुद्ध,
समझ शस्त्रोपचार यह युद्ध।
अधम जो पर धन-धरिण हरें,
कुलस्त्री का अपमान करें,
विषव्रण हो न सकें वे व्याप्त,
लोक-हित में कर उन्हें समाप्त।
मिटे जब तक न परापर भाव,
न्याय का तब तक कहाँ निभाव।"
"समझ में आती है यह बात,
किन्तु हा! फिर भी ऐसा घात।
राज्य भोगूँ कैसे रक्ताक्त?
बनूँ मैं कैसे ऐसा शाक्त?
सरल पथ मुझे दिखाओ तुम,
शिष्य हूँ शरण, सिखाओ तुम।"
"विगुण-सा भी स्वधर्म धरणीय,
तुझे तो महत् कर्म करणीय।
कर्म का ही तुझको अधिकार,
न कर तू फल का सोच-विचार।
हो सका कौन कर्म से मुक्त,
प्रकृति कर देगी तुझे नियुक्त।
ओघ-सा जन का सहज स्वभाव,
नहीं टिकती निग्रह की नाव।
युक्ति है यही एक अभिराम,

कर्म कर तू होकर निष्काम।
जयाजय अर्पण कर मुझको,
नहीं फिर कुछ चिन्ता तुझको।
अशोच्यों को न सोचने बैठ,
और भी तू कुछ गहरा पैठ।
मरों का जीतों का भी खेद,
नहीं करते ज्ञानी गतभेद।
यहाँ आता सो जाता है,
गया सो फिर भी आता है।
परस्पर जन्म-मरण-परिणाम,
सोच का कह, इसमें क्या काम?
मारने वाला जो जाने,
और जो इसे मरा माने,
उभय वे हैं अनजान अतीव।
न मरता है न मारता जीव।
सर्वथा मरने को है देह,
अमर है आत्मा निस्सन्देह।
नित्य हैं प्राण, अनित्य शरीर,
युद्ध का निर्भय होकर वीर।
न तो हो तुझे कर्म-फल-काम,
न हो कर्मों से ही उपराम।
मान मत कहीं परत्व-ममत्व,
साध तू सबमें योग समत्व।
बहुत-सी बातें सुन कर भिन्न,
भ्रमित-सी मति तेरी उच्छिन्न।
उसे कर थिर समाधि में लीन,
तभी तू होगा योगासीन।
बढ़ा हो बाधाओं का व्यास,
नहीं छोटा जन का अभ्यास।
सिद्धि के अर्थ कर्म ही इष्ट,
कर्म का कौशल योग विशिष्ट।
अनभ्यासी भी, मेरे अर्थ,
कर्म कर होगा सिद्ध समर्थ।
कठिन समझे तू इसको भी,

तो न हो केवल फल-लोभी।
बड़ा अभ्यासापेक्षा ज्ञान,
ज्ञान से भी विशेष है ध्यान।
ध्यान से श्रेष्ठ कर्म निष्काम,
काम का त्याग शान्ति का धाम।
व्यर्थ है तेरा प्रज्ञावाद,
भरा है तुझमें विषम विषाद।
आपको स्थिर कर तू पहले,
एक-सा हर्ष-शोक सह ले।
तुष्ट जो अपने में रहते;
उन्हीं को स्थितप्रज्ञ कहते।
त्याग कर मन के सारे काम,
वही होते हैं आत्माराम।
किसी से जिन्हें नहीं है मोह,
नहीं है जिन्हें किसी से द्रोह,
रहें जो राग-रोष-भय-हीन,
वहीं हैं स्थितप्रज्ञ स्वाधीन।
इन्द्रियाँ हैं जिनके बस में,
विरत जो विषयों के रस में।
दुःख-सुख जिनको एक समान,
उन्हीं को स्थितप्रज्ञ तू जान।
हानि से भरें नहीं जो आह,
लाभ की जिन्हें नहीं कुछ चाह,
और जो हैं अलिप्त भोगी,
वही हैं स्थितप्रज्ञ योगी।
जूझ तू निज कर्त्तव्य विचार,
जीत के समय स्वयं मत हार।
लिया है मैंने तेरा भार,
ठहर तू मेरी ओर निहार।"

उठाई अर्जुन ने जो दृष्टि,
सामने थी क्या अद्‌भुत सृष्टि।
बनी पल में आकृति उत्ताल,

उठे भक-से जल जैसे ज्वाल।
पार्थ ने पाई दृष्टि विशेष,
तदपि दुस्सह था वह उन्मेष।
भूमि से नभ तक पिण्डाकार,
ज्वलित था तेजःपुंज अपार।
प्रभा से दशों दिशाएँ पाट,
प्रकट था प्रभु का रूप विराट।
दीप्त बहु बाहु-उदर-मुख-नेत्र,
केश तक थे किरणों के क्षेत्र!
पतंगों से उड़ उड़ ग्रह-लोक,
लीन होते थे पीनस्तोक।
तीक्ष्ण दाढ़ों से चकनाचूर,
हो रहे थे सब कौरव शूर।
वीर निज दल के भी सत्रास,
बने थे उन्हीं मुखों के ग्रास।
धनंजय होकर विस्मित भीत,
लगे यों कहने वचन विनीत—
"विभो, यह रूप विलक्षण वाम,
जानता नहीं, धरूँ क्या नाम।"
"काल मैं सबका भक्षक हूँ,
यहाँ भी तेरा रक्षक हूँ।
व्यर्थ की चिन्ता मत कर तू,
भोग निज राज्य विजय वर तू।
निरख मुझसे हत ये नर तू,
वीरवर, हो निमित्त भर तू।
द्रोण युत भीष्म, कर्ण, कुरुमौर,
जयद्रथ, शकुनि आदि सब और
मरे हैं मुझसे, इन्हें समेट,
प्राप्त कर तू स्वराज्य की भेट।"
"प्रणति तुमको हे त्रिभुवन-भूप,
संवरण करो अहो! यह रूप।
क्षम्य हूँ मैं अजान भाषी,
अनुग्रह का ही अभिलाषी।
पुत्र की पिता, मित्र की मित्र,

प्रिया की प्रिय हे चित्र-चरित्र,
क्षमा कर देता है ज्यों भूल,
रहो त्यों मुझपर तुम अनुकूल।"
"भक्त जो मेरा प्यारा है,
नहीं तू मुझसे न्यारा है।
तभी तो है तूने हेरा,
पार्थ, यह विश्वरूप मेरा।
सभी को जो मुझमें जाने,
और सबमें मुझको माने।
दूर वह मुझसे कभी नहीं,
निकट मैं उसके सभी कहीं।
योग युक्तात्मा समदर्शी,
सभी में है आत्म-स्पर्शी।
नहीं उसमें-मुझमें विक्षेप,
कर्म करके भी वह निर्लेप।
अर्प मुझको सब आयोजन,
यज्ञ - तप - दान - भजन - भोजन।
भक्ति का बहुत एक भी कण,
ग्रहण करता हूँ मैं तत्क्षण।
छोड़कर तू सब धर्म विवेक,
शरण में आ जा मेरे एक।
स्वस्थ हो, मैं तेरा हूँगा,
मुक्ति सब पापों से दूँगा।"
"प्रभो, क्या इष्ट और जन को,
न भूलूँ इस आश्वासन को।
और क्या समझूँ-बूझूँगा,
स्वस्थ मन से ही जूझूँगा।"
भक्त का हुआ मोह जो भंग,
हँसे रख सौम्य रूप श्रीरंग।

उसी क्षण सबका मन झकझोर,
युधिष्ठिर गये दूसरी ओर।
किया स्वजनों ने हाहाकार—

"आर्य जाते हैं कवच उतार—"
उठाकर कर बोले यदुनाथ,
"रहो, देखो धीरज के साथ।"
चकित-सा हुआ स्वयं कुरुकेतु,
आ रहे थे पैदल किस हेतु?
पहुँच एकाकी भीष्म समीप,
पदों में प्रणत हुए अवनीप।
और बोले—"आज्ञा हो तात,
करें अब हम सब यह संघात।
युद्ध का अविनय ही आधार,
क्षमाप्रार्थी मैं बारम्बार।"
हो गये गद्गद से गांगेय,
"जयी हो वत्स, बनूँ मैं जेय।
प्रथम ही हीन भादना जीत,
उठे तुम ऊँचे, बढ़ो विनीत!"
झुकाया जाकर फिर जो सीस,
मिली गुरु से भी उन्हें असीस।
"विवश मैं, जन हा! धन का दास,
जयी हो तुम, रक्खो विश्वास।"
गये फिर कृप-समीप कौन्तेय,
मिला उनसे भी उनका देय।
"मुझे बाँधे है इनकी डोर,
स्वस्ति है किन्तु तुम्हारी ओर।"
देख निज पद-नत उनको शल्य,
रोकता कैसे निज वैकल्य?
"लिया मैंने निज भाग्य सहेज,
हरूँगा किन्तु कर्ण का तेज।"

लौट कर वे फिर घूम पड़े,
हुए पर-दल की ओर खड़े।
ललित - गम्भीर - शरीर धरे,
धीर यों बोले वचन खरे—
"सुनो सब, जय है हरि के हाथ,

और हरि सदा हमारे साथ।
जिसे आना हो अब भी आव,
धर्म की ओर इधर हो जाव।"
चमक-से गये सभी के गात्र,
किन्तु सब रहे देखते मात्र।
निकल कर एक युयुत्सु रथी,
आ हुआ उनका पन्थ-पथी।
"बन्धु,—तुम एक बहुत हमको,
शेष शत तो अर्पित यम को!
दीखती है निश्चित यह बात,
तुम्हीं से तर्पित होंगे तात।"
उभय पक्षों के कल कल में,
उसे लाये वे निज दल में।
दिपे यों मानो विजयस्तम्भ,
हुआ तब तुमुल युद्ध आरम्भ।

युद्ध

युद्ध कहीं पाल पाता अपने नियम ही!
तुल्य प्रतिद्वन्द्वियों को छोड़ कर औरों से—
यों ही नहीं लड़ते थे योद्धा उस काल के।
बहुधा पदातियों से केवल पदाति ही,
अश्व-गजारोहियों से अश्व-गजारूढ़ ही,
रथियों से केवल रथी ही थे झगड़ते।
हारे-थके शत्रु को वे अवसर देते थे
वर्महीन पर भी प्रहार करते न थे।
कोई वाक्य युद्ध करे तो वे वही करते,
मारते नहीं थे किसी हार मानते को भी।
शस्त्र-भंग होने पर कहते विपक्षी से—
"ऐसे क्या लड़ोगे, रहो, ले लो कुछ मुझसे।"
यदि वह कहता—"अभी तो भुजदण्ड हैं।"
तो वे शस्त्र छोड़ करते थे मल्लयुद्ध ही।
संगर भी उनके लिए था एक रंग-सा!
भेदिये ही प्राणों पर खेलते थे उनके।
युद्ध थमते ही मिलते थे बन्धु-सम वे।
चारणों की और परिचारकों की बात क्या,
शस्त्र-भार-वाहक भी उनके अबध्य थे।
वादक तो मादक थे रक्ष्य दोनों पक्षों के।

किन्तु अकस्मात जब काल निज रूप में
आता है समक्ष, तब किंकर्तव्यविमूढ़ हो,
अपने नहीं तो अपनों के लिए, धीर भी,
नियम-विरुद्ध कर बैठते हैं कुछ भी।

ऐसा इस युद्ध में भी देखा गया बहुधा।
तो भी नियमों का भंग निन्दनीय होता है।
ऐसी लोक-निन्दा क्या यहाँ भी अपवाद थी?
पाई भगवान ने ही उसमें बड़ाई थी।
'आयुध न लूँगा मैं' उन्होंने यह था कहा,
और भक्त भीष्म ने कहा था—'देख लूँगा मैं।'
बाध्य वे हुए थे बात रखने को भक्त की।
ऐसा रण-रंग गंगानन्दन ने था किया,
पाण्डवों का सारा बल अस्तव्यस्त हो गया।
द्वन्द्व जहाँ हो रहा था, संकुल तुमुल था।
भर गयी सारी रणभूमि रुण्ड-मुण्डों से,
रक्त के प्रवाह छूटे, पानी की पुकार थी।
हुंकारें जहाँ थीं, वहीं आहें थीं, कराहें थीं।
लाल लाल भूमि सब ओर विकराल थी,
दीखे रक्त-कर्दम में हाथी भी अशक्त-से!
कट कट शीश गिर राहु-से उदित थे,
केतु-से कटे भी बाहु भय उपजाते थे।
कर्तित थी कन्धराएँ, नर्तित कबन्ध थे!
टूटे रथ आँतें-सी बिखेर कर अंगों की,
तड़प रहे थे जन्तु शीघ्र मर जाने को!
हड़प रहे थे स्यार गीध शव नोच के,
सो गये थे शत्रु-मित्र भूमि पर साथ ही।
सबको किशोरों-सा खिलाया पितामह ने।
आशा जय की तो कहाँ प्राणों की रही किसे?
लेके तब चक्र चले कृष्ण उन्हें मारने।
उनके प्रताप तथा तेज के प्रभाव से,
आस पास छाये हुए धूलि-कण क्षण में
तप्त चिनगारियों-से उद्भासित हो उठे!
बोले पितामह से वे—"पाण्डवों के वध की
इच्छा न हो तुमको, परन्तु मेरा कार्य तो
पूरा नहीं होगा, यदि हार हुई उनकी।
और, मेरी हार बिना कैसे तुम जीतोगे?
मानता हूँ, आज मुझे तुमने हरा दिया।
साधु साधु! लो, मैं हुआ बाध्य शस्त्र लेने को।
और जो कहो सो करूँ, किन्तु सावधान हो!"

चाप रख ऊँचा भाल भीष्म ने झुका दिया—
"मारो प्रभो, मारो, यह कोप नहीं, करुणा।
आज मेरे जन्म-मृत्यु दोनों की समाप्ति है।"
धर प्रभु-पाणि इसी बीच कहा पार्थ ने—
"करते प्रहार पितामह पर अब भी
मेरा कर काँपता था, मुझको क्षमा करो,
करना पड़ेगा नहीं कष्ट अब तुमको।"
धर्मराज ने भी किया अनुनय उनसे—
"युद्ध में पितामह के रहते हुए हरे!
जीतने की आशा नहीं की जा सकती कभी।
यदि तुम चाहो तो अकेले इस चक्र से
मार सकते हो सब शत्रुओं को काल ज्यों।
तो भी तात, तुमने कहा है—'इस युद्ध में
आयुध न लूँगा मैं,' निभाना इसे चाहिए,
चाहे मन मार हमें खानी पड़े हार ही।
करते पितामह प्रहार नहीं नारी पै
और वे शिखण्डी को समझते हैं नारी ही,
चाहे कितना ही पुरुषार्थी वह क्यों न हो।
वचन तुम्हारे भंग होने से यही भला,
सफल करा दो तुम उसकी प्रतिज्ञा ही।
अर्जुन प्रधान पृष्ठ-पोषक हों उसके।"

अन्त में यही हुआ, प्रसन्न न थे मन में
अर्जुन, परन्तु अन्य कौन-सा उपाय था?
त्राण-हेतु घूँट कड़ा पीना पड़ा उनको।
कौरव न रोक सके बढ़ते शिखण्डी को,
पार्थ के विशिख उसे बीच में लिये रहे।
उसके विरोध-हीन बाणों के प्रहार से
बिंध कर सारा तन शान्त पितामह का,
गिरता हुआ भी रहा ऊपर ही भूमि से।
बिद्ध वैरि-बाण-पंक्ति शय्या बनी उनकी।
मानो निज रश्मि-जाल संवरण करके
ओढ़के बिछाके वही सान्ध्य रवि था पड़ा!

रुक गया युद्ध, महायोद्धा युगपक्ष के
होकर उदास उन्हें घेर आ खड़े हुए।
देह था शरों पर परन्तु सिर लटका।
सस्मित उन्होंने कहा—"कोई उपधान दो।"
लाये गये शीघ्र वे उन्हीं के रिक्त रथ से
खिन्न हो उन्होंने कहा—"दूर करो इनको!"
पार्थ को पुकार बोले—"वत्स, उपधान दो,"
"जो आज्ञा" तुरन्त तीन बाण छोड़ वृद्ध के
मस्तक के नीचे खड़े कर दिये पार्थ ने।
ऊँची उठी ग्रीवा, कहा तुष्ट पितामह ने—
"योग्य उपधान यही मेरी इस शय्या के,
जीते रहो वत्स तुम!" "तात, तुम्हें मार के
जीना अभिशाप ही है,"—पार्थ चुप हो गये।

जयजयकार किया पूज्य पितामह का
दोनों ही दलों ने और साथ ही सुरों ने भी।
शत्रु-मित्र दोनों का मतैक्य जहाँ होता है,
फूट पड़ती है वहीं भव्यता में दिव्यता!
"होंगे जब सूर्य उत्तरायण, मरूँगा मैं,
तब तक जीते जो रहेंगे, वे मिलेंगे ही,
श्रान्ति मेटें शिविरों में योधजन अधुना।"
सप्रणाम आँसुओं की अंजलि प्रथम ही
दे देकर उनको प्रयाण किया लोगों ने।
बोले वे सुयोधन को निकट बुलाके यों—
"बेटा, अब भी तू पाण्डवों से सन्धि कर ले;
और दस दिन भी चलेगा अब युद्ध क्या?"
बोला कुरुराज अति दुःख और लज्जा से—
"धिक्! हम सबके समक्ष ही शिखण्डी ने
शल्य-सा शरीर कर छोड़ा यह आपका।"
हँस पड़े वृद्ध—"क्या थे विशिख शिखण्डी के?
वर्म भेद पार्थ-शर मर्म जो न छेदते।
कटता है कर्कटक अपने ही बेटों से!"
"किन्तु मेल हो सका न जिनसे प्रथम ही,

वे तो अब हत्यारे हमारे पितामह के।
अब उनसे क्या सन्धि? अन्त तक जूझूँगा,
आज यदि कर्ण होता–" "जानता हूँ मैं उसे,
किन्तु वत्स, वैर बढ़ता है इसी रीति से।
होता वह शान्त मेरे साथ ही तो अच्छा था,
किन्तु अब तू भी उसे रोक नहीं सकता।
अपना नियन्ता आप होकर भी लोक में
हन्त! निज हन्ता बनता है नर आप ही।"

अन्त में आ कर्ण ने प्रणाम किया उनको–
"आपका सदैव दोषी कर्ण क्षमा-प्रार्थी है।"
"शिष्ट, हम सबको क्षमा ही इष्ट अन्त में।
उत्स तू लगा था मुझे इस रण-रस का!
और की तो बात ही क्या, आप तेरा जन्म भी
तेरे प्रतिकूल गया, तो भी गुण-कर्म से
तुझको महान मानने को विश्व बाध्य है।
धन्य वह जननी, अपूर्व रत्न-खननी,
धन्य पुरुषार्थ तेरा, मानो स्वयं दैव भी
दमन न कर पाया तेरे दृढ़ दर्प का!
किसने लिया है प्रतिशोध भी यों भव से?
किन्तु क्षमा होती कहीं दानि, तेरे दण्ड में,
तो इस प्रचण्ड वैर का भी यत्न तू ही था।
पूरक है तेरा यहाँ एक युधिष्ठिर ही।"
वृद्ध मुसकाये फिर बोले आह भर के–
"राम और भरत सदा ही नहीं मिलते!
जान लिया मैंने, अब प्रेम नहीं होने का
जूझना भले तू, किन्तु द्वेष दूर करके।"
"भरसक ऐसा ही करूँगा"–कहा कर्ण ने।

द्रोण के विषय में भी अर्जुन में वैसी ही
जागी दया-दुर्बलता और उन्हें उसका
दण्ड मिला मानो अभिमन्यु-वध-रूप में।
भीष्म के समान ही धनंजय-तनय ने

करके विपक्ष-दल दलित स्वबल से,
मारे थे अनेक अरि योद्धा ललकार के,
दुर्योधन-पुत्र और कर्ण के कनिष्ठ से।
मन्त्रणानुसार तब संशप्तक शूरों ने
एक नया अयन बनाया दूर अपना।
देकर चुनौती वहीं ले गये वे पार्थ को,
और इस ओर चक्रव्यूह रच द्रोण ने,
उसमें अकेले ही सुभद्रा के सपूत को
घेरा, यथा पंजर में केशरी-किशोर को!
वह घुस पैठना ही जानता था उसमें,
अर्जुन ही जानते थे घुसना-निकलना।
अन्य कोई घुस भी सका न साथ उसके,
द्वार पर दुर्द्धर जयद्रथ नियुक्त था,
जिसको मिला था वर मानो इसी जय का।
तो भी कौन जूझ सका वीर अभिमन्यु से?
हँस हँस उसने रुलाया रणधीरों को!
रथियों को विरथ बनाकर उड़ा दिया,
शल्य को अचेत कर उसके अनुज को
मार के, तनुज को भी छोड़ा नहीं उसने।
आप ही अकेले एक एक कर युद्ध में
किसको हराया नहीं द्रोण-कृप-कर्ण से
बोला वह—"जो हो, तुम गुरुजन अन्ततः
मारूँ क्या तुम्हें मैं, उपहार में लो हार ही!"
बोला कुरुराज-पुत्र लक्ष्मण से वह यों—
"भाई तुम मेरे, तुम्हें दूँगा वीरगति ही!"
जो जो कहा उसने सो करके दिखा दिया।

मिल तब छै छै महारथियों ने घातें कीं,
मारने चले वे उसे घेर सब ओर से।
"यह षड्यन्त्र मूर्तिमन्त!"—कहा उसने
मारके बृहद्बल को वायु के-से वेग से
बोला वह—"मैंने तुम्हें पंच ही बना दिया
चाहो तो प्रपंच करो!" एक बृहद्बल के

मरते ही दो दो रथी और नये आ जुटे,
छह थे जहाँ सात हुए। सामने के ही नहीं,
दायें और बायें तथा पीछे के प्रहारों से
मारे अश्व, तोड़ा रथ, काटा चाप, खड्ग भी
वैरियों ने; तो भी उपहास कर उसने
ठोके भुजदण्ड दोनों—"आओ, जिसे जाना हो!"
जाना था परन्तु किसे? दुर्योधन बोला यों—
"हिंस्र पशुओं से सम युद्ध नर क्यों करें,
शुद्ध सार-शस्त्र जब कर में हो उनके?"
मौन अभिमन्यु हुआ अन्त में यों कहके—
"कायर बनाके तुम्हें मरके भी जीता मैं।"

ठोकर दे पाप-पथ-पंक-भरे पैर की
शव पर, वीरता दिखाई जयद्रथ ने,
आप देवव्रत ने सराहा जिसे जीते में,—
मान कर अपने समान ही समर में,
सबसे बड़े से लड़ा छोटा जब सबसे,
मारना भी मरना भी सीखता-सा उनसे!

पाण्डव क्या शोक सह पाते यह सहसा,
आता कोप कौरवों के ऊपर न जो उन्हें।
पार्थ ने प्रतिज्ञा की—"न मारूँ जयद्रथ को
मैं सूर्यास्त पूर्व कल, तो जल मरूँ स्वयं।"
सूख गयी मानो दया जलते हृदय की,
बढ़ते गये वे प्रलयाग्नि के समान ही।
किन्तु नहीं रुकता है समय कभी कहीं,
ढल चले अस्ताचल ओर दिवाकर भी।
अर्जुन के अर्थ हुई चिन्ता युधिष्ठिर को।
सात्यकि से कहने लगे वे—"बड़ी वेर से
अर्जुन का कोई समाचार नहीं आया है।
बढ़ गये निश्चय ही लक्ष्य तक दूर वे,
किन्तु जान पड़ता है, शत्रुओं के घेरे में

शंखनाद का भी अवकाश नहीं उनको!
शूर, तुम जाकर सहायक हो उनके।"
उत्तर में सात्यकि यों बोला—"आर्य, आपकी
आज्ञा शिरोधार्य मुझे, किन्तु छोड़ आपको
जाना प्रतिकूल क्या न होगा स्वयं उनके?
धरकर आपको सुयोधन को देने का
वचन दिया है उसे उग्र द्रोणाचार्य ने,
कृष्णार्जुन छोड़ गये मुझको इसीलिए।"
हँस पड़े आर्ति में भी धर्मराज सहसा—
"सीता के समीप जैसे लक्ष्मण को छोड़ के
माया-मृग मारने गये थे राम वन में!—"
सात्यकि भी रोक नहीं पाया हँसी अपनी—
"रावण भी द्विज ही था द्रोण ऐसा पहले!"
"किन्तु मुझे चिन्ता है उन्हीं की, अपनी नहीं।
हो भले ही मेरी धृति, निष्कृति हो मेरों की।
जाओ तुम वीर, तुम्हें देता हूँ वचन मैं,
धर न सकेंगे गुरुदेव मुझे कैसे भी।
भाग बचना भी एक यत्न आत्मरक्षा का।
भागा नहीं यों मैं कभी गुरुओं से डरके।"
सात्यकि को जाना पड़ा, एक घड़ी पीछे ही
भीम को भी भेजे बिना वे रह सके नहीं।
पार्थ और सात्यकि तो कतरा के गुरु से
व्यूह में घुसे थे किन्तु भीम न थे आपे में
जल उठे देखते ही उनको समक्ष वे—
"द्विज-उज जो हो तुम, गुरु हो अवश्य ही,
किन्तु वध-योग्य वह जो भी आततायी हो।"
फेंक दे उखाड़ ऊँचा झाड़ झंझा वात ज्यों,
रथ के समेत उन्हें एक ओर फेंक के
सामने से ही वे घुसे शत्रु-दल दलते।
आधी धार्त्तराष्ट्र-चमू उस दिन युद्ध में
मर कर भी न बचा पाई जयद्रथ को।
पूरी हुई पार्थ की प्रतिज्ञा दिन रहते,
कठिन तपस्या फली पाशुपत पाने की;
कृष्ण की कृपा से कृतकृत्य हुए वे कृती।

किन्तु सान्त्वना की खोज तब भी बनी रही।
द्रौपदी-सुभद्रा और उत्तरा की यातना
तीन ओर, चौथी ओर अपना विषाद था;
शान्ति किसी ओर भी दिखाई न दी उनको।
देखते थे मानो एक स्वप्न वे शिविर में,
दे रहे हैं मानो हरि धैर्य उन सबको—
"कौन कहता है अभिमन्यु मरा? वस्तुतः
वह तो अमर हुआ—कीर्ति करके यहाँ।
गर्व-योग्य ऐसी गति मिलती है किसको?
पाया पूर्व देह से भी दिव्य रूप उसने
और महत्पद की कहूँ क्या बात तुमसे,
खेलता है आज वह इन्दिरा की गोद में।"
"भैया, एक बार कैसे कहूँ उसे ऐसे मैं?
प्रस्तुत अभी हूँ यह देह छोड़कर भी।"
यों कह सुभद्रा पड़ी पैरों पर उनके।
"निम्न गति होती है बहन, आत्मघात से,
ऐसे वह उच्चगति-शील कैसे दीखेगा?
उत्तरा की कोख में है भव्य रूप उसका
अधुना उसी का हमें मंगल मनाना है।"

शोकानल का है कुछ यत्न अश्रु-जल ही,
किन्तु अवकाश न था पाण्डवों को यह भी,
गरज रहे थे अरि सिर पर उनके।
रक्खा विकराल दैत्य-रूप गुरुदेव ने,
दीख पड़ा काल-सा समक्ष इस पक्ष को।
द्रुपद-विराट ऐसे उद्भट भी उनसे
कट कर खेत रहे, पूले यथा घास के,
छू ले आप यम भी तो चाप रहते उन्हें!
तो भी धीर धृष्टद्युम्न उनसे नहीं दबा,
उनके वधार्थ ही लिया था जन्म उसने।
वे ही नहीं, भिड़ गये स्यंदन भी दोनों के।
द्रोण भी अजेय ही थे शस्त्र रहते हुए,
वर-सा उन्हें भी यह प्राप्त था विधाता का।

देख निज युद्ध वे दहल उठे आप भी!
तनु नहीं किन्तु मन मानो उन मान्य का
आकुल-सा हो उठा कृतित्व में भी अपने!
ब्राह्मण की करुणा हिलोड़ उठी उनको—
"धारण न करता कठोर क्षात्र धर्म मैं
तो हा! यह घोर कर्म करना क्यों पड़ता?
साधारण शस्त्रधारियों की इन अस्त्रों से
हत्या जो नहीं तो और क्या है यह इतनी,
करनी पड़ी जो मुझे? कारण क्या इसका?
कन्द-मूल-फल भी क्या मुझको न मिलते?
शिव शिव! शव ही दिये हैं मुझे हिंसा ने!
मेरे लिए दोनों पक्ष एक ही समान थे,
न्याय से तो पाण्डव ही प्रथम वरेण्य हैं,
मेरे स्नेह-भाजन हैं वे निज गुणों से भी।
छोड़ा निज धर्म मैंने, छोड़ूँ पर धर्म भी
कैसे—हाय! कैसे! वह मेरे बन्धु भीष्म भी
रुक रहे मानो मुझे आगे कर लेने को!
कौन उनका-सा यहाँ मेरा अन्य साथी है?
मारने से मरना ही अच्छा क्या नहीं मुझे?"

इसके बिना क्या पाण्डवों का भी कुशल था?
अस्त्र छोड़ने को उन्हें कर सके बाध्य जो,
ऐसी एक झूठी बात कौन कहे उनसे?—
यह विष कौन पिये शोणित-समुद्र का?
"संरक्षक सबका मैं," सोचा युधिष्ठिर ने—
"दुर्गति हो मेरी भले, सबकी सुगति हो।"

मार अश्वत्थामा गज वैरी इन्द्रवर्मा का
गर्ज उठे भीम—"अश्वत्थामा हत हो गया!"
वज्राहत वृक्ष की-सी द्रोण की दशा हुई।
बोले किसी भाँति वे—"युधिष्ठिर कहें तो है।"
सिहर युधिष्ठिर ने साख भरी इसकी—
"हाँ आचार्य देव, अश्वत्थामा हत हो गया,

वह नर-कुंजर गया है मृत्यु-मुख में!"
किन्तु छल पूर्ण यह सत्य भी अनृत था।
दोनों नर-कुंजर स्वजन शंख-रव में
डूब गये। साथ ही युधिष्ठिर का रथ भी,
ऊँचा-सा धरा से उठ चलता था जो सदा,
धँस गया नीचे चार अंगुल प्रमाण में!
शस्त्र फेंक गुरु तो समाधिस्थित-से हुए।

टूट पड़ा श्वापद-सा धृष्टद्युम्न सहसा
लेने को कठोर प्रतिशोध पिता-पुत्र का।
पक्व केश उनके पकड़ बायें हाथ से
दायें से उसी ने सिर काट डाला उनका।
हाथ उठा कहते ही रह गये पार्थ यों—
"मारो मत, मारो मत, उनको पकड़ लो!"
हाहाकार कर उठे शत्रु-मित्र दोनों ही।
सात्यकि तो क्रोध कर दौड़ा उसे मारने,
बीच में आ अपनों ने शान्त किया दोनों को।

निन्दा की युधिष्ठिर की आप धनंजय ने—
"हाय आर्य, यह क्या किया है आज आपने?
आपके निकट भी क्या राज्य बड़ा सत्य से?"
मौन थे युधिष्ठिर, भृकुटि चढ़ी भीम की—
"सावधान अर्जुन! क्या कहते हो—किससे?
सत्य-रक्षा से भी आत्म-रक्षा बड़ी होती है,
एक छोड़ सौ सौ सत्य-धर्म पलें जिससे।
अग्रज के 'आत्म' में हमीं-तुम हैं, वे नहीं,
कहते इन्हें हो राज्यकामी तुम? धिक है।
आप गुरु भी तो निज धर्म छोड़ बैठे थे,
उद्धत अधर्मियों के अर्थ-दास बन के।
स्वत्व उस अर्थ में हमारा भी नहीं था क्या?
पाप के पराजय में पाप भी है पुण्य ही।"
"नहीं नहीं, पाप कभी पुण्य नहीं होता है।"

बोले धर्मराज—"भीम, भाई, तुम शान्त हो।
सिद्ध नहीं होता शुद्ध साधन से साध्य जो,
उसकी विशुद्धता भी शंकनीय होती है।
तात, मेरा पक्षपात योग्य नहीं इतना;
पाप जो हुआ है, उसे मानना ही चाहिए,
अन्यथा असम्भव है प्रायश्चित्त उसका।
ऐसी स्थितियाँ भी हैं असत्य जहाँ क्षम्य है,
किन्तु मेरा स्खलन खलेगा नहीं किसको?
मर्त्य की तो बात क्या, अमर्त्य भी अपूर्ण हैं,
उचित परन्तु नहीं ऐसा समाधान भी,
प्रश्रय जो देता चले पाप की प्रवृत्ति को।
नर को तो नारायण तक है पहुँचाना।
मैंने जो किया है, वह जान कर ही किया—
राज्य-हेतु अथवा नरक-हेतु, क्या कहूँ?
दुःखित हूँ, किन्तु मैं निराश नहीं फिर भी।
मेरी साधना के लिए काल जो अनन्त है!
मति-गति अर्जुन, तुम्हारी रहे ऐसी ही
भोगो मिल राज्य तुम, भोगूँ जा नरक मैं।"
"अनुग तुम्हारा वहाँ आगे!" कहा भीम ने
रोने लगे अर्जुन—"हा! आर्य, निज दुःख से
मैंने तुम्हें मिथ्या बोल मारे, मुझे दण्ड दो;
किन्तु यों न त्यागो हमें।" पैरों पर वे गिरे।
अंक में ले उनको युधिष्ठिर भी रो पड़े।
बोले हँस कृष्ण—"हुआ, देखो अब सामने!"

भीष्म और द्रोण के अनन्तर था कर्ण ही।
मान कर प्रार्थना सुयोधन की, उसका
शल्य सारथी तो बना, किन्तु कहा उसने—
"यह अभिमानी भला पार्थ से लड़ेगा क्या?—
हार खा चुका है वार वार जो प्रथम ही।
जाति को छिपाके सूत-पुत्र विप्र बनके
धोखा दे चुका है यह गुरु भृगुराम को।
भेद खुलते ही अभिशप्त हुआ उनसे—

'भूले तुझे विद्या ठीक अवसर पर ही!'–"
बोला क्रुद्ध कर्ण–"स्वयं सूत बना, तो भी तू
लज्जित क्यों होता नहीं ओछी बात कहते?
मैंने तो कहा था यही उनसे–'मैं द्विज हूँ'
यह छल है तो पूछ जाके बड़े पार्थ से–
छल है वा सत्य–'अश्वत्थामा हत हो गया।'–"
"ओहो! अब जाना, ज्येष्ठ पार्थ पर तेरी ही
छाया यहाँ आ पड़ी थी!" "और क्या कहेगा तू?
जैसे तुझे इष्ट हो, परीक्षा कर देख ले,
रूप की वा वर्ण की, शरीर की वा रक्त की,
आकृति-प्रकृति की वा अस्थि-चर्म-मज्जा की,
मन की वा आत्मा की, बता मैं निम्न किससे?
उच्च कहाँ कौन किस बात में है मुझसे?
यों तो जन जाति का है मूल गोत्र एक ही,
कुल का विकास भिन्न भिन्न रहे सबका।
कर ले भले तू मनस्तुष्टि कुछ कहके,
जानता हूँ तुझको मैं और तेरे देश को!"
"मैं भी जानता हूँ तुझ गोघातक म्लेच्छ को!
मेरा देश कैसा है, मुझी में सब देख लें।
धोखे में कही भी बात मैं निभाता जाता हूँ।
और–" "साक्षी हूँ मैं।" कुरुराज बोला बीच में–
"किन्तु तात, आपस में लड़ना क्या ठीक है?
गरज रहे हैं जब शत्रु खड़े सामने।
आप दोनों ही तो अब मेरे अवलम्ब हैं।"
"मैं कभी रुकूँगा नहीं कहने से अपनी,
किन्तु त्रुटि होने नहीं दूँगा निज कर्म में।"
"इतना यथेष्ट मुझे, आप गुरुजन हैं,
कटु भी बनेगा मिष्ट मेरे लिए आपका।"
यह कह कर्ण ओर देखा कुरुपति ने।
कर्ण बोला–"तुमने कहा सो स्वयं मैंने भी।
जूझना है मुझको तो, जो भी परिणाम हो।"
"जीतने की आशा बिना जूझ क्या सकेगा तू?"
यह कह शल्य हँसा। बोला हँस कर्ण भी–
"मैं निष्कामकर्मा भला, हो, जो फलकामी हो!"

भय कहते हैं किसे, कर्ण न था जानता,
छक्के-से छुड़ा दिये परन्तु घटोत्कच ने।
मानो भीम-भैरव ही उसके बहाने से
कौरवों की सेना ध्वंस करने को आ गये!
जाता था बवण्डर-सा वह जिस ओर को
उड़ते विपक्षी तृण तुल्य थे तुरन्त ही।
वाहन ही कौन था, जो तेज सहे उसका?
पैदल ही प्रलय मचाया उस योद्धा ने।
भागे सब अश्व-गज सामने से उसके,
शल्य ने कठिनता से रोका रथ अपना।
अर्जुन के केतु पर बैठे कपि-केसरी
देखकर उसकी लड़ाई लहरा उठे!
मेघनाद ही क्या यह मित्र बन आ गया,
लेके नया जन्म, अब किसका कुशल है?
कूद कूद कर्ण के शरों को सरकंडों-सा
धर धर, तोड़ तोड़, हँस हँस, उसने
फेंक फेंक उनको उसी की ओर यों कहा—
"लेके यही अस्त्र आया लड़ने तू मुझसे?
मारें तुझे काका, मैं अकर्ण कर छोड़ूँगा!"
कर्ण भान भूल गया क्षोभ-अपमान से,
मान रख पाया वह इन्द्र की ही शक्ति से,
अर्जुन के मारने को रखे वह था जिसे।
काका को बचाके मरा राक्षस भतीजा यों
और पितृ-ऋण से उऋण वह हो गया।

"पीछे अभिमन्यु के गया हा! घटोत्कच भी,
संकट-सहाय मेरा, प्यारा सहदेव-सा!"
क्षुब्ध हुए धर्मराज—"देख लिया सबका
शौर्य मैंने, देखूँ अब कर्ण को मैं आप ही!"
चल पड़े विस्फोटित वे आग्नेय गिरि-से
सक्षमों का क्षोभ भी भयंकर ही होता है।
आये अकस्मात वहाँ व्यासदेव ऐसे में,
देके शुभाशीष बोले वे उन प्रणत से—

"तात, निज मर्यादा समुद्र नहीं छोड़ता,
तुम भी न हो यों क्षुब्ध, स्वाभाविक रूप से
जूझो भले, जैसे वह उत्थित तरंगों से
खेलता है, सटता है हटता है तट से।
कार्य अभिमन्यु से भी मान्य घटोत्कच का;
तुम चिर धर्ममय, विजय समीप है।"
यह कह द्वैपायन अन्तर्द्धान हो गये।
हो गये समाहित युधिष्ठिर प्रथम ही।

"कर्ण, एक शक्ति थी, उसे भी तुम खो चुके।
यह तो था बेटा, अभी बाप-काका हैं सभी!"
"रहने दो मद्रराज, मैं भी अभी शेष हूँ;
अपने ही बल का भरोसा सदा सच्चा है।"
पौरुष से दृप्त अति दीप्त वह हो उठा।

आँधी-सा घटोत्कच तो आकर चला गया,
कर्ण था अटूट सार-धारा का प्रपात-सा,
सामने जो आया, वही डूबा-बहा उसमें!
आशा भी किसी के बचने की रही किसको?
सीमा छोड़ मानो महासिन्धु वहाँ उमड़ा!
बात क्या युधिष्ठिर-नकुल-सहदेव की?
उनको डुबाकर न उसकी तरंगों ने,
फेंक दिया एक ओर दूर दारुखण्ड-सा।
आप भीम भी क्या इस बार पार पा सके?
ढालें मृत हाथियों के देहों की बनाके भी
रक्षा नहीं पा सके वे। किन्तु उन्हें उसने
मारा नहीं, कुन्ती को वचन जैसा था दिया।
छोड़ दिया जीता उपहास मात्र करके—
"खाना जानता है और सोना तू, लड़ेगा क्या?
हट जा, न आना अब और मेरे सामने!"
"कर ले प्रलाप मृत्यु-पूर्व कुछ कर्ण, तू,
प्राप्त पुनर्नवता करूँ मैं इस बीच में।

तेरे नीच स्वामी के सहोदर-समूह को
और तेरे अन्य बहु बन्धु-बान्धवों को भी,
मार मार अश्व-गज वाहनों के साथ ही
मानता हूँ, सम्प्रति हुआ मैं कुछ श्रान्त-सा।
वायु भी शिथिल पड़ जाते हैं कभी कभी,
सूर्य भी विराम नहीं लेते क्या दिनान्त में?
फिर भी न भूल, मैं वहीं हूँ, जिसने तुझे
छोड़ा था धनंजयार्थ अधमरा करके।"
"हाथ नहीं चलते तो मुँह ही चला ले तू!
देखा तुझे, देखता हूँ, तेरे धनंजय को।"

करके स्मरण हनूमान-सा स्वबल का
स्वस्थ क्षण में ही भीम आये फिर रण में;
दीख पड़ा सम्मुख ही दुःशासन उनको।
भभक उठे वे—"अरे पापी, तुझको तो मैं
व्योम में रसातल में खोज कर मारता,
भाग्य से तू भू पर ही मिल गया मुझको!"
सिंह-से उछल कब टूट पड़े क्रुद्ध वे,
दुःशासन ने भी तब जाना, जब वे उसे
स्यंदन से खींच फिर पृथ्वी पर आ गये।
कसके चलाये हाथ डूबते हुए ने भी,
किन्तु वे थे भान भूले, मानते क्या उनको?
छिप-से गये वे निज नग्न रोष-ज्वाला में।
पटक-पछाड़ उसे छाती पर चढ़के
गरज उठे यों—"कहाँ दुर्योधन-कर्ण हैं?
शक्ति हो तो रोकें, रक्त दुष्ट दुःशासन का
भीम पीने जा रहा है सबके समक्ष ही!
चुपड़ उसी से वह केश याज्ञसेनी के
उससे कहेगा—'शुभे, वेणी अब बाँध तू।'—"
शस्त्र छोड़ निज के नखों से ही नृसिंह ने
चीर डाला वैरि-वक्ष और—अहो! और क्या?
देख वह घोर दृश्य भाग चले भट भी!

अर्जुन ही एक मुख्य लक्ष्य रहे कर्ण के,
टिक सके उसके समक्ष वही मेरु-से।
दोनों रथियों का वह युद्ध एक दृश्य था,
उनसे भी दर्शनीय सारथी थे उनके।
घात करते थे रथी, सारथी बचाते थे,
वाहों के बहाने नरनाहों को नचाते थे!
"सावधान!" कहके प्रहार किया कर्ण ने,
पैर मोड़ घोड़े झुके तत्क्षण ही कृष्ण के,
बचे पार्थ-प्राण, शिरस्त्राण बाण ले उड़ा।
किन्तु पार्थ ज्यों ही योग्य प्रत्युत्तर दें उसे,
धँस फँसा एक रथ-चक्र त्यों ही उसका,
दीख पड़ा कर्ण मानो भानु निज यान में।
स्वकर उठा के वह अर्जुन की ओर को,
सारथी को असफल देख आप उतरा
और धँसा चक्र धर खींचने चला उसे।
किन्तु खींच पाया नहीं वह उसे आप भी,
मानो भाग्य ने ही उसे नीचे रोक रक्खा था!
बोल उठे पार्थ—"कर्ण, किस अधिकार से
मुझसे ठहरने को कहता है क्रूर, तू।
भूल गया आज ही क्या बात वह कल की—
'हिंस्र पशुओं से सम युद्ध नर क्यों करें—
शुद्ध सार-शस्त्र जब कर मैं हो उनके।'
आती है सभी को सुध संकट में धर्म की
किन्तु तूने पहले ही घात किया उसका।"
यह कह दाँत पीस क्रोध से अबोध ज्यों
आकर्षित उग्र शर छोड़ दिया पार्थ ने,
कट कर कर्ण-शिर टूट गिरा तारे-सा।
तारे ही दिखाई दिये दिन में विपक्ष को!
तो भी एक तेज कढ़ कर्ण के ललाट से
ऊर्ध्वगति तारक-सा लीन हुआ रवि में।

कर्ण तक ही थी सब आशा कुरुराज की,
जूझा वह निर्मम-निराश-सा ही अन्त में।

शल्य को बनाया निज सेनापति उसने।
शल्य बोला—"तुमने जो मान किया मेरा है,
उस पर वार दूँगा प्राण भी मैं अपने।
किन्तु मैं सहूँगा नहीं भीष्म और द्रोण ज्यों,
व्यंग्य से तुम्हारा वार वार वह कहना,—
'प्रीति है तुम्हारी पाण्डवों पर, इसीलिए
जीत नहीं हो पाती हमारी इस युद्ध में।'
जीवित युधिष्ठिर को धर न सके द्रोण भी,
कामना तुम्हारी यह पूर्ण कर दूँगा मैं।
अन्यथा स्वयं ही हुत हूँगा समराग्नि में।
अणु-परमाणु मेरे सारे ही तुम्हारे हैं।"
"कब किससे क्या कहूँ, जानता हूँ तात, मैं।"
मौन हुआ दुर्योधन इतना ही कहके।

शल्य के पराक्रम से एक बार फिर भी
लौटता-सा साहस दिखाई दिया सेना का।
किन्तु एक बार करवाल लिये काल-सा
दौड़ा जब शल्य टूटे स्यंदन से कूद के—
धरने वा मारने युधिष्ठिर को वेग से,
तब घबराये बिना धीर धर्मराज ने,
लेने को स्वभाग मानो मातुल-हृदय का,
उसको विभक्त कर डाला तीक्ष्ण शक्ति से!

काट इसी बीच दो दो पुत्र और कर्ण के
मारा म्लेच्छराज को भुजंग-सा नकुल ने।
और सहदेव ने उलूक-पात करके,
वंचक शकुनि के भी प्राणों को उड़ा दिया;
काम नहीं आयी कुछ धूर्त-विद्या उसकी।

घायल-सा घोड़े पर बैठा घूम घूम के
दुर्योधन सेना को सँभालता था व्यर्थ ही।

भूला जयी पक्ष ध्यान उसका भी हर्ष से
फूल कर। ले जा कर एक ओर उसको
बोले कृपाचार्य—"वीर, अब भी जो चाहो तो
पाण्डवों से सन्धि का प्रयत्न करूँ जाके मैं?
आशा है युधिष्ठिर से चाहे जब जो मुझे,
छोड़ा है उन्होंने सदा औरों पर आपको,
मानेंगे तुम्हें वे भीमसेन के समान ही।"

हाय! भर आयीं आज आँखें कुरुराज की,
कौन जाने, शोक से वा क्षुब्ध अभिमान से।
बोला अश्रु रोक बली उन्मुख हो उनके—
"आर्य मेरे हित के लिए ही यत्नशील हैं।
मुझसे कहा था यही मान्य पितामह ने,
तब भी था आदि ही-सा किन्तु अब अन्त है!
अन्तर है इनमें, परन्तु मुझमें नहीं।
हत हैं पितामह, निहत गुरुदेव हैं;
और वह कर्ण—मेरा कर्ण—सुख-दुःख का
साथी गया पुत्र और भाइयों के साथ ही—
मेरे अर्थ। मेरा भक्त दुःशासन भी गया,
मारा हा वृकोदर ने कैसा पशु-सा उसे!
सौ थे हम, आज यह एक ही मैं शेष हूँ;
भाई भी भतीजे भी सभी तो गये मेरे हैं।
लक्ष्मण-समान सब मेरे पुत्र हैं कहाँ?—
जब मैं पड़ा हूँ यहाँ जीवित नरक में।
पाण्डवों का एक अभिमन्यु मात्र जिसके
बल से विजित हुआ, डूबा सिन्धुराज है।
मातुल शकुनि-से हितैषी भी नहीं रहे।
सौ सौ मित्र राजा, त्यक्त जीवित मदर्थ जो
आये थे, सभी के सभी मृत्यु-मुख में गये।
किसके लिए मैं अब इच्छा करूँ सन्धि की?
लेकर किसे मैं अब भोगूँ राजभोग भी?
त्यागी आप और गुरु-पुत्र तो तपस्वी हैं।
अन्ध मेरे वृद्ध पिता-माता, हाय! फिर भी

उनके समक्ष भी मैं जाऊँ किस मुँह से?
क्या है आज, सान्त्वना दूँ जिससे मैं उनको?
आशीर्वाद चाहता हूँ एक यही आपसे
अन्त तक आन बान अपनी निभा सकूँ।

मानता हूँ बात धर्मराज के विषय में
आपकी यथार्थ। राजसूय की समाप्ति में
मुझको उन्होंने रोक आप यह था कहा—
'तात, मैंने निश्चय किया है यही मन में,
तुम अपनों के अनुसार ही चलूँगा मैं।'
किन्तु जिन्हें मैंने पाँच गाँव भी नहीं दिये,
सन्धि करने के लिए कैसे कहूँ उनसे?
मैंने जो कराया यह इतना विनाश है,
व्यर्थ कर दूँ क्या इसे? आप ही बताइए,
क्या मुख दिखाऊँगा मरों को मर कर मैं?
विधि की विनोद-लीला हार-जीत जन की!
युद्ध भी जुआ-सा एक खेल प्राण-पण का।
हारे हैं बली भी यहाँ, निर्बल भी जीते हैं,
किन्तु वीर हारे कहाँ जीवन-मरण में?
अब भी गदा है अतिरिक्त मेरे हाथ में,
भीम और जो हो, उसे देता हूँ चुनौती मैं।
किन्तु कुछ वेला माँगती है श्रान्ति मुझसे!"

"धन्य वीर, धन्य! यह एक गेय गुण ही
मुझको तुम्हारे सब दोष भुला देता है।
जाओ, श्रान्ति मेटो तुम, शीघ्र ही मिलूँगा मैं।
अष्टादश अक्षौहिणी अष्टादश दिन में
हो गयी समाप्तप्राय, पाण्डवों के थोड़े से
सैनिक बचे हैं, इस ओर तुम राजा हो,
मैं हूँ, कृतवर्मा के समेत अश्वत्थामा है।
लड़ सकते हैं पाण्डवों से हम चार ही।"
"मैं अनुगृहीत हुआ, तोष यही मुझको,

अन्त तक कोई त्रुटि छोड़ी नहीं हमने।''

जाने लगा ज्यों ही कुरुराज, सुना उसने–
''वीर, कुछ क्षण दो मुझे भी कष्ट करके,
जानता हूँ, इष्ट तुम्हें सम्प्रति विजन ही।''
यह कृतवर्मायुत उग्र अश्वत्थामा था,
मुँह भभरा था, केश बिखरे थे उसके।
असजग दीप्त दृग, पग डगमग थे।
''पागल न हो यह,'' विचारा कृपाचार्य ने।
बोला वह उनको प्रणाम कर राजा से,
''वीर, विजयी हो तुम, जीवित हूँ मैं अभी।
आज रात जैसे बने, वैरियों से बचना,
आके स्वयं सूचित करूँगा सुप्रभात मैं।
राज-शिविरों में शत्रु सो लें आज सुख से
किन्तु मुँह धो लें फिर जागने से वे सभी।''
''सेनानी तुम्हीं हो अब शेष हम सबके,
किन्तु गुरु-पुत्र! एक पिण्डदाता छोड़ना।
पास ही मैं ह्रद में रहूँगा, और क्या कहूँ?''
''जीवित के अर्थ पिण्ड-पानी, नहीं जीव के।''
''तात, श्रद्धा-भक्ति का तो भूखा भगवान भी।
जीवन का वैर रहे मृत्यु के भी साथ क्या?''
यों कह विनम्र हो सुयोधन चला गया।
सोचने लगे वे शेष तीनों भावि योजना।

बोले इस ओर कृष्ण भावोन्मत्त भीम से–
''भूलो मत वीर, अभी दुर्योधन शेष है!''
चौंक से गये सब–''परन्तु वह है कहाँ?''
भीम बोले–''डूब मरा होगा कहीं पानी में,
मुँह क्या दिखाएगा किसी को और हमको?''
''ऐसे मरने का नहीं वह चिर साहसी,
निश्चय छिपा है कहीं पास के ही ह्रद में,
कुशल बली है जल-वास की कला में भी।''

आकर चरों ने तभी सूचित किया उन्हें–
"पास ही सरोवर में दुर्योधन पैठा है।"
खोजने चले वे सब शीघ्रता से उसको।
आज्ञा दी युधिष्ठिर ने पहले युयुत्सु को–
"जाओ, तुम वीर, हस्तिनापुर तुरन्त ही
लेकर सुयोधन के परिकर वर्ग को।
संजय को मारा नहीं, छोड़ दिया हमने,
ले लो उसको भी संग, जैसे बने तात को
धीरज बँधाना और माता को सँभालना।
आये तुम मेरे साथ, तब वे समर्थ थे,
पा सकेंगे आज वे तुम्हीं से कुछ सान्त्वना।"
"जो आज्ञा" युयुत्सु कह पाया कहाँ उनसे,
उसका गला था भरा, वह सिर झुका गया।

कोस भर दूर था जलाशय शिविर से।
तीर पर पहुँच निनाद किया भीम ने–
"दुर्योधन है क्या यहाँ? जाँघ ही निकाल दे,
बनने चली थी जो द्रुपदजा की पीठिका!"
जिस नलिका से श्वास-वायु नीचे जाता था,
भीम-गर्जना भी घुस पैठ गयी उसमें–
"मैं तो जानता था, कुछ तत्त्व होगा तुझमें,
किन्तु ऐसा कापुरुष निकला तू अन्त में,
सबको समक्ष कटवा कर समर में,
धिक! छिप बैठा आप मरने के डर से।
माँग प्राण-भिक्षा फिर निर्भय विचर तू।
रो रही हैं तेरी गृह-नारियाँ बिलख के,
रो रहे हैं अन्ध वृद्ध माता-पिता, उनको
सान्त्वना दे, देख खड़े कृष्ण-युधिष्ठिर ये,
सहज उदार क्षमा देंगे, यदि चाहे तू।
अन्यथा सौ कोठों में तुझे क्या भीम छोड़ेगा?"
सह सकता है वीर किसकी प्रचारणा?
ऊँचा गदा गेंद किये उद्धृत भू-गोल-सा
निकला कुरूद्वह बराह-सा सलिल से!

किंवा मद-कुम्भ धरे दैवत-द्विरद-सा
दैव-वश हो के स्वयं शकुन विपक्ष का!

"देखो यह आ गया मैं, आओ, जिसे आना हो।
दूँगा प्रतिवाक्य तुम्हें कर्म से कुशब्दों का!
होती है विराम की अपेक्षा चेतनों को ही।
जीने के समान मरना भी जानता हूँ मैं,
जीते रहें तुमसे अलज्ज अपमान में।
चाहता था राज्य जिन्हें लेके, वे चले गये।
लेकर उन्हीं की वैरि शुद्धि आज तुमसे
मैं भी चला जाऊँगा पुनीत तपोवन को।
भुक्तोज्झिता वसुधा रहेगी, उसे कोई ले।
ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊँगा।
पौरुष तो मेरा जन्म-जात अधिकार है;
कुशल तुम्हीं हो क्लीव-जीवन बिताने में!"
"साधु सत्यवादी, साधु! पौरुष के पुतले!
संयम-नियम को भी क्लैव्य कहता है तू।
पौरुष न होता यदि ऐसा बड़ा तेरा तो
कर्ण कैसे सेवक से स्वामी बन बैठता?
अब भी उसी का अनुगामी क्यों न होगा तू,
जूझा हमसे था जिस मत्सरी के बल से।
कुछ कह, मरता सो क्या न करता यहाँ?"

घोर गदा-युद्ध हुआ भीम-दुर्योधन का।
छाया भर छोड़ मानो रुण्डों पर मुण्डों की
दोनों गदा दण्डों पर लेकर उन्हें लड़े!
आ-सा गया भूमण्डल पैंतरों में घिरके।
घोर रव ही न उठा बजती गदाओं का,
दर्शकों की दृष्टि छूती छूटती चिनगारियाँ!
भीम ने जो आती हुई देखी कुछ क्लान्ति-सी,
करके स्मरण पुनः द्यूत-सभा-काण्ड का,
कूद सिंहनाद का द्विगुणित वेग से,
वज्र-सा प्रहार किया ऊरु पर उसके,

गिर पड़ा योद्धा—"धिक पापी!" कहता हुआ।
"पापी मैं नहीं, तू" यह कहकर भीम ने
मारी एक लात और सिर पर उसके।
"हैं हैं भीम!" बोल उठे कृष्ण-युधिष्ठिर भी,
अर्जुनादि का भी सिर नीचा हुआ लज्जा से।

लौट बलराम इसी बीच वहाँ पहुँचे,
आँखें यह देख दूनी लाल हुईं उनकी।
लांगल उठाके चले मारने वे भीम को—
"मैंने गदा-युद्ध यही तुझको सिखाया था?
होता उत्तरांग ही नहीं क्या लक्ष्य उसका?
नियम-विरुद्ध तूने मेरे अन्य शिष्य को
मारा, रह, मैं तुझे भी जीता नहीं छोड़ूँगा।"
आकर तुरन्त मधुसूदन ने बीच में
रोक लिया अग्रज को और कहा उनसे—
'भीम की प्रतिज्ञा थी, इन्होंने वहीं पूरी की;
था संयोग ही जो गदा हाथ में थी इनके।'
"नहीं-नहीं!" भीम बोले—"मैंने कहा स्पष्ट था—
तोड़ूँगा गदा से जाँघ मैं इस जघन्य की।
शुद्ध योद्धाओं के साथ युद्ध के नियम हैं,
कापुरुष क्रूर यह, सच्चे बली छल का
लेते नहीं आश्रय, कुलस्त्री की कदर्थना
करते नहीं वे, इस दुष्कृत ने जैसी की
दुःशासन युक्त, रक्त मैंने पिया जिसका।
केवल विकर्ण-वध चाहता नहीं था मैं,
विवश उसी ने किया उसके लिए मुझे।
मैं कर चुका हूँ पूर्ण अपनी प्रतिज्ञाएँ,
और जय हो चुकी है मेरे धर्मराज की,
मेरे बलदेव अब मारें भले मुझको।
अब प्रतिकार कहाँ, शेष यहाँ प्यार ही।"
"कौन मारे उसको, बचावें कृष्ण जिसको।"

बोले बलभद्र फिर हरि से—"हरे-हरे!
धर्म का भी पक्षपात क्या तुम्हें उचित है।"
हरि हँस बोले—"तात, ठीक यही बात है,
धर्म की ही ओर मेरी मति गति है सदा!"
"चुप रहो दुष्ट!" हँस बैठे बलराम भी!
"जो कुछ हुआ है, सब दारुण-करुण है।
मानता हूँ, दुर्योधन भूल करता गया,
क्रूरता दिखाई सदा शूरता ने इसकी,
तृप्त नहीं होते दृप्त अपने ही सुख से,
दूसरे के दुःख से ही उसकी विशेषता।
किन्तु दूसरा था कौन, भाई सब थे यहाँ,
कौन पर-पाप अपनों के बीच आ गया!—
सबको लड़ाके आज सबसे परे हुआ।
दोष रहें, गुण ही है ध्येय-गेय गत के,
किन्तु मेरी पीड़ा नहीं दुर्योधन तक ही;
हाय! सारा उपवन छिन्न-भिन्न हो गया!
माधव, मुझे कुछ समझ नहीं पड़ता,
मन में तुम्हारे कब क्या है, कहूँ कैसे मैं?
मैं तो हली-हाली, तुम ज्ञानी और योगी हो।
कैसी यह साधना की तुमने समाधि में?
हाय चक्री, क्या हुई तुम्हारी वह मुरली?
क्या हुआ तुम्हारा ब्रज। कालिन्दी कहाँ रही?
कैसे दिन थे वे कनू, कैसा यह काल है?
गाएँ ही भली न थीं क्या स्यंदन के घोड़ों से?
घट न तुम्हारा रस-गोरस से जो भरा,
द्वारका का सिन्धु भी उसे क्या भर पा रहा?
कुरुओं की ऐसी गति वृष्णियों की भी न हो,
डूब गया कृष्ण, महा भारत रुधिर में!

युद्ध के भी लाभ होंगे, सर्वनाश यह तो,
सिहर उठा मैं यहाँ सुनकर ही जिसे।
कैसे वह देखा गया तुमसे, सहा गया।
वीर-रस-भाव रखता हो युद्ध आदि में,

रौद्र-भाव मध्य में, भयानक है अन्त में;
और परिशिष्ट में तो है वीभत्स ही सदा!
शत्रुओं का पीछे, घात पहले ही अपना
करते हैं लोग भय-रोष किंवा लोभ से,
चोट कर अपने चरित्र पर आप ही;
अनुचित उचित प्रतीकार नहीं देखता।
तुच्छ मशकों से सूक्ष्म कीट-कृमि-दंश भी
भेद डालते हैं जिन्हें, ऐसे नर देहों को
शक्ति, शूल, परशु, कृपाण, कुन्त बाणों से
छिन्न भिन्न करके जनाता नर गर्व है!
कब से यही क्रम अखण्ड चला आ रहा
और नर जीवित है अब भी, मरा नहीं!
निश्चय मनुज ही दनुज रक्तबीज है।
मानुष की सत्ता हा! अमानुषिकता में है!

कृष्ण, विष व्यापा यहाँ मेरे मोद-मधु में
अपनी-सी आकृति-प्रकृतियाँ थीं जिनकी,
अपने से देह-मनः प्राण रखते थे जो,
अपनी-सी जिनमें थीं आशा-अभिलाषाएँ,
अपना-सा जीवन अभीष्ट जिन्हें था यहाँ,
आप ही कराल शस्त्र मारकर उनको
अपनी ही मूर्तियाँ-सी भंग की मनुष्यों ने,
हाय! अपने से हार मात्र मनवाने को,
आप जिसे मानने में लज्जा उन्हें आती थी!

किंवा अपने-से ही मनुष्य क्यों कहूँ स्वयं
अपने ही भाई-बन्धुओं को, बड़े-बूढ़ों को,
मामा-भानजों को, गुरु-शिष्यों को, सखाओं को,
साले-बहनोइयों को, काकाओं-भतीजों को,
अपने ही हाथों मार डाला यहाँ लोगों ने!
और अपनी ही बड़ी छोटी कुलदेवियाँ
काकियाँ-बुआएँ, स्नेहमूर्ति मामी-मौसियाँ,

भानजी - भतीजियाँ, बहिन - बहू - बेटियाँ,
सलहज-सालियाँ, सहज सखी भाभियाँ
विधवा बना दीं आत्मघातकों ने सहसा!
बैठ जिन कन्धों पर शैशव में खेले थे,
काट डाला यौवन में आप उन्हें क्रूरों ने!
कन्धों पर जिनको चढ़ाये फिरे प्यार से,
करके हताहत गिराया उन्हें धूलि में!
धिक यह घोर कर्म, शर्म कहाँ इसमें?
एक साथ बढ़े-पढ़े, खेले-हँसे-विलसे,
शोणित के प्यासे हुए आपस में ऐसे वे,
होते नहीं जैसे हिंस्र पशु भी अरण्य के।
धिक! नर नागरों के अर्थ की अनर्थता।
दीख पड़ते हैं मुझे दोनों पक्ष हत्यारे!
शून्य भी भला न था क्या शेष हाहाकार से।''

बोल उठे बीच में युधिष्ठिर—''यथार्थ है,
किन्तु भद्र, मेरा पक्ष सर्वथा विवश था।
दोष नहीं मेरा, यदि है तो क्षात्र धर्म का!
हम अपराधी निज धर्म पालने के हैं।
वह है विगुण तो हमारा अपराध क्या?
तात, पर-धर्म तो भयावह कहा गया।
अन्यथा मैं भूप नहीं भिक्षुक भुवन का।
मानो वा न मानो तुम, मेरा मन आदि से
सबको बचाने के लिए ही यत्नशील था।''
''जानता हूँ आर्य तुम्हें, हरि से विनोद में
एक बार मैंने ही कहा था—'युधिष्ठिर तो
साधु है स्वभाव से ही, क्यों उस निरीह को
राज्य के प्रपंच में फँसा रहे हो तुम यों
एक कमण्डलु ही यथेष्ट उसके लिए!'
हँस के इन्होंने कहा—'भैया, एक मात्रा ही
इधर लगा रहा हूँ लेके मैं उधर से,
और कमण्डलु को कुमण्डल बनाता हूँ।'
किन्तु मैं प्रकट करूँ दुःख कैसे अपना?''

"राम, अब भी मैं यही कहता हूँ मन से
कामना नहीं है मुझे राज्य की, वा स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही
ज्वाला ही जुड़ा सकूँ मैं अपनों के दुःख की
भोगूँ अपनों का सुख, मेरा पर कौन है।
सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों,
सब शुभ पावें, न हो दुःखी कहीं कोई भी।"

यों कह युधिष्ठिर अधीर भावावेश से,
बैठ गये धूलि में, सुयोधन के पार्श्व में?
अंक में समेट उसे बोले आर्द्र वाणी से—
"भाई, यदि अब भी तू भूल नहीं मानता,
तो मैं मानता हूँ, उसे तू क्षमा ही कर दे।
युद्ध परिसीमा है परत्व के विकास की
तू ही नहीं हाय! आज मैं भी हूँ लुटा-कुटा।
और कह तुझसे कहूँ क्या हतभाग्य मैं?
तेरा ऊरुचरण बनूँगा मैं, न जा तू यों
छोड़ निज धाम-धरा अरुण अनूरु-सा!"
अद्रि-से अटल में भी फूटा आज उत्स-सा—
"आर्य, अब जीवन तो मेरे लिए मृत्यु है।
नीचे का विरोध रहे, ऊपर मिलूँगा ही;
मिलना वहीं है, यहाँ केवल बिछुड़ना।—"
मौन हुआ वीर, धीर धर्मराज रो उठे,—
"सम्मुख समर में निहत स्वर्ग-भागी तू
जीवित नरक-भोग मेरे लिए है यहीं।"

बोले भगवान यों गभीर खड़े भ्राता से—
"पाँच गुना पातिव्रत पाला यहाँ जिसने,
मेरी उस एक शीलशालिनी बहिन की
घर्षणा का कर्षणा का यह परिणाम है।
कल भी मरेंगे, जो न लेंगे सीख आज से,
आवर्तन आगे न हो इस इतिहास का।

किन्तु तात, क़ातर क्यों तुम इस घात से।
जब तक जगती है, अंकुरित होगी ही;
नित्य नये फूल-फल फूलेंगे-फलेंगे ही।
आज भारलाघव हुआ है कुछ उसका,
माता भूमि होगी नहीं हीन पृथ्वीपुत्रों से।
और यह भारत तो भव का भी भव है,
इसका विभव एक मुझसे ही अल्प क्या?
युद्ध की अशोभनता जन यदि जान लें,
तो न होगा व्यर्थ यह इतना अनर्थ भी।
तात, इसे जाने और माने बिना गति क्या?
कौन हो निराश इस मेरी पुण्यभूमि से।
आगे आयँगे सो आप आगे की सँभालेंगे,
छोड़ें आज इंगित जो, वे भी कृतकृत्य हैं।
भावी तो समृद्ध है सदा ही वर्त्तमान से,
आज के प्रलय में भी जय किस अन्य की।
कल की विजय भी मैं आज ही मनाता हूँ!"

"पूरी हो तुम्हारी अभिलाषा, और क्या कहूँ?
किन्तु रह सकता नहीं मैं यहाँ, जाता हूँ।"
यह कह द्वारका को प्रस्थित हुए हली।
पीछे पाण्डवों को साथ ले के यदुनाथ भी,
समझ सुयोधन की इच्छा भृत्य छोड़ के,
करके न वंचित कराहने से भी उसे,
हो गये विसर्जित। न जाकर शिविर में
और ही कहीं वे गये, सात्यकि भी संग था।

हत्या

सब ओर असित आवरण निशा का घोर घना तम छाया,
छिप गयी उसी में श्रान्त-क्लान्त-सी शिथिल सृष्टि की काया।
मारी मेघों की फूँक पवन ने दिव के दीप बुझाये,
गोड़े तमसा ने मार्ग सदा के सूझे और सुझाये।
वट के नीचे थे पड़े सो रहे कृपाचार्य-कृतवर्मा,
अश्वत्थामा को नींद कहाँ, चिन्तित था वह प्रतिकर्मा।
सहसा कौंधे की चकाचौंध में देख साहसी चौंका,
ऊपर उलूक ने चंचु-शूल सोते बलिभुज पर भोंका।
वह उछल पड़ा—"निज रक्त पिलाऊँ तुझको भर भर चुल्लू,
आहा हा! मेरा पथ प्रदर्शक हुआ आज तू उल्लू।"
वह कुटिल हास्य कर उठा—"जाय आदर्शवाद वह कोरा।"
उसने सोतों को "उठो, उठो!" कहकर झट-झट झकझोरा।
घबराकर दोनों उठे, प्रेत-सा खड़ा उन्हें वह दीखा,
बोला, "मैंने प्रतिशोध-यत्न वट के उलूक से सीखा।
आओ, काकों-से सुप्त शत्रुओं को समाप्त कर डालें,
दुर्योधन का प्रिय कार्य साध निज क्रोध अबाध निकालें।"
मत था विरुद्ध भी शुद्ध व्यर्थ-सा एक क्रुद्ध पर दो का,
"शान्तं पापम्!" कह कृपाचार्य ने उसे घृणा कर रोका,—
"यह तो पहले ही हार मान ली डर कर हमने मानो,
ऐसी जय से है भली पराजय, तुम यह निश्चय जानो।
हम सम्मुख रण में जूझ मरें तो भी कृतकृत्य रहेंगे,
सब शूर कहेंगे हमें, न रिपु भी कायर क्रूर कहेंगे।
निज साधन के बलिदान बनें हम तो यह भी क्या थोड़ा?
तुममें क्या कुछ भी नहीं तुम्हारा इस तामस ने छोड़ा?
ब्राह्मण होकर इस घोर राक्षसी हिंसा पर तुम आये।

क्या पाप करोगे, यदि न पुण्य से तुम स्वकार्य कर पाये?"
"सचमुच ही मुझमें पाप-पुण्य का अब क्या बोध बचा है?
लेने को, देकर और सभी कुछ, बस प्रतिशोध बचा है।
साधन जैसे हों, किन्तु सिद्ध हो आज साध्य ही मेरा,
यह दुर्दिन की निशि, किन्तु मुझे दे रहा प्रकाश अँधेरा!
मारें कल मुझको राम, आज मैं राक्षस ही बन जाऊँ,
नख से शिख तक निज शत्रु जनों के शोणित में सन जाऊँ,
ब्राह्मण-कुल ही क्या नहीं झेलता रावण की राक्षसता,
हँसता है हिंसन वहीं जहाँ मानव में दानव बसता।
रहना तुम द्रष्टा मात्र, बनूँगा आज स्वयं मैं कर्त्ता,
विधि-विष्णु-तुल्य तुम शिविर-द्वार पर, मैं भीतर हर हर्त्ता!
अथवा बैठो तुम धर्म कर्म लेकर, मैं चला अकेला।"
विक्षिप्त बना वह बढ़ा प्रकट कर अपनी ही अवहेला।
दोनों साथी भी गये उसी के पीछे अवश अगत्या,
युद्धोपरान्त आरम्भ हुई प्रतिहिंसा पूरित हत्या।

तम के तन में कुछ घाव लगे-से दिये दीख पड़ते थे,
दूरागत श्वान-शृगाल-शब्द ही कानों में गड़ते थे।
दिन भी दुपहर में स्तब्ध, रात थी यह तो, गाढ़ी-गहरी,
निश्चिन्त हुए-से ऊँघ गये थे पार्थ-शिविर के प्रहरी।
चिर निद्रित करके उन्हें नियत कर अपने दो दो द्वारी,
भीतर अबाध घुस गया चोर-सा वह जीवन का ज्वारी।
पांचालों पर ही प्रथम प्रलय-सा उसने क्रोध उतारा,
सोया था धृष्टद्युम्न, उसे धर गला घोंट कर मारा।
बच सका शिखंडी भी न वहाँ उससे खंडित होने से,
बड़बड़ा उठा वह—"रहे उत्तमौजा भी अब रोने से!"
घूमा तब उसकी ओर झपट कर कपट करालमना वह;
झट दपट उसे हन युधामन्यु का कृन्तक काल बना वह।
हलचल होने से चौंक-चौंक कर इधर उधर जन जागे,
हक्के-बक्के से—"कौन-कौन?" कह जिधर बना, उठ भागे।
"मैं हूँ दुर्योधन-बन्धु ब्रह्मराक्षस!" कह वदन बिराये!
कृष्णा के उठते पाँच पुत्र भी उसने काट गिराये!
उस घातघट्ट ने अट्टहास कर किया भयंकर ताण्डव।

उस रात कृष्ण के साथ कहीं अन्यत्र गये थे पाण्डव।
सात्यकि भी उनके साथ शिविर में अनुपस्थित रहने से,
बच गया शूरता रहित क्रूर का घृणित घात सहने से।
अम्बर तब थर्रा गया तड़प कर उस नृशंस के डर से,
जो भागे, वे हत हुए द्वार पर कृतवर्मा के कर से।
करके पूरा संहार शिविर में उसने आग लगाई।
फिर लौट सुयोधन निकट बन्धु की बुझती ज्योति जगाई।
"हुम्!" करके नृप ने एक वार उद्भ्रान्त दृष्टि से ताका,
चिर शान्त हुआ वह छोड़ उसी क्षण अपने हठ का साका।

इस ओर शिविर में लौट सबेरे पाण्डव ज्यों ही आये,
आहत-से वे भी हुए देख वह काण्ड न कुछ कह पाये।
गिरकर धरती पर किसी भाँति उठ बैठी थी पांचाली,
हरि निकट गये तो खड़ी हो गयी बिखरे बालों वाली।
गिर पड़ी परन्तु तुरन्त पगों पर छोड़ दृगों की धारा,
अवरुद्ध कण्ठ का श्वास सती ने वाष्प बिखेर उवारा,–
"पतियों की रक्षा हुई रात, यह भी है कृपा तुम्हारी,
सब कुछ सहने को बाध्य आप ही आप क्षत्रिया नारी।
रोने का भी अधिकार दैव ने उससे छीन लिया है,
पर क्षम्य नहीं क्या तात, किसी जननी का भरा हिया है?
मैंने उत्साहित किया स्वयं ही जिन्हें युद्ध करने को,
भेजा था निश्चय जिन्हें विजय वा अभय मृत्यु वरने को,
कैसे उन सबका शोक करूँ मैं? होकर अब अनपत्या,
पर मरे कहाँ वे, हुई यहाँ तो उन पाँचों की हत्या!
जन क्यों न कहें, यह पाप-कलह सब मैंने ही करवाया,
पति और पिता का वंश नाश कर लाखों को मरवाया।
पर मैं क्या करती, तुम्हीं बता दो मुझे दयामय मेरे,
जिसमें न अँधेरा मुझे देखना पड़ता आज सवेरे।
करती मैं कैसे त्याग राज्य का, जब तक वह अपहृत था?
अब जैसा वह हो गया, उसे होना हमसे उद्धृत था।
माँ गान्धारी-सी मूल्य-दान में त्रुटि न रही हो मेरी,
तो रानी से भी बड़ी बनूँ मैं चिर दिन उनकी चेरी।"
वह परम मानिनी, चरम दुःख में भी जो हुई न दीना,

यह कहते कहते मौन हो गयी मानो संज्ञा-हीना।
प्रभु ने प्रबोध दे कहा—"बहन, था होनहार ऐसा ही,
जो जन जैसा, सुख-दुःख-भार भी है उसका वैसा ही!
सहना पड़ता है यहाँ सभी को, सँभलो और सँभालो,
जो चिर संगी हैं क्षतच्छिन्न-से, उनको देखो भालो।"
"सब होनहार भी हरे, तुम्हारे हाथ मानती हूँ मैं,"
फिर भी जो तुमको प्रेय उसी में श्रेय मानती हूँ मैं।
यह कहकर ग्रीवा मोड़ सती ने निज पतियों को देखा,
वह दृष्टि खींच-सी गयी सभी के उर पर खरतर रेखा।
"हत छहों पुत्र, पर अहत भाग्य से आर्यपुत्र, तुम मेरे,
अब भी सनाथ मैं अमर बेल-सी, पाँच महाद्रुम घेरे!
दूँ प्रथम बधाई तुम्हें विजय की अथवा बच जाने की?
गुरु-पुत्र प्रबल।" यह बात हुई फिर हलचल मच जाने की।
"सुध-भूलों की सुध बनी देवि तुम, ऋणी रहा मैं जी से।"
हुंकार मार, मुट्ठियाँ बाँधकर दाँत भीम ने पीसे।
"देखूँ उसका प्राबल्य।" उन्होंने किया प्रयाण विकल-सा।
प्रज्वलित अनल-सा, क्षुब्ध अनिल-सा, चल-प्रपात के जल-सा।
सहदेव-नकुल-सह धर्मराज को रोक वहीं हित-मति से,
अर्जुन को लेकर गये कृष्ण भी मन की-सी रथ-गति से।
"मैं क्या उसका मुख देख सकूँगी।" उसे यहाँ मत लाना,
"वह भूला अपना मनुष्यत्व, तुम अपने को न भुलाना।
भर पाया मैंने तात, तुम्हारा गात क्रोध से काँपा।"
हरि से यह कहकर द्रुपदसुता ने हाथों से मुँह ढाँपा।

हत्यारे बहुधा साधु वेश का ढंग-ढोंग रचते हैं,
पर जिनके सिर पर पाप बोलते हैं, वे क्या बचते हैं?
वल्कल धारे खल धरा गया गंगा-तट पर आश्रम में,
निज तीन काल-से कुपित देखकर पड़ा आप ही भ्रम में।
मरता क्या करता नहीं, सँभल झट हँसा ठठाकर पापी,
पर व्यर्थ देख सब शस्त्र अन्त में हुआ उग्र अभिशापी।
"तुम राक्षसत्व तो देख चुके, ब्रह्मत्व देखना मेरा,
मर जाय उत्तरा-गर्भजात, घर में भर जाय अँधेरा!"
"चोरों का कोसा चन्द्र कहीं मरता है अरे अभागे!"

यह कहते कहते बढ़े क्षुब्ध-से अच्युत उसके आगे।
छोड़ा अमोघ ब्रह्मास्त्र द्रोणि ने—"पाण्डव रहित जगत हो।"
अर्जुन ने भी, पर कहा उन्होंने उस महास्त्र से नत हो—
"आचार्य पुत्र का कुशल प्रथम, फिर हम सबका मंगल हो।"
खल सज्जन हो वा न हो, विकल भी सज्जन कैसे खल हो।
मिल शान्त हुए युग अस्त्र, भीम ने कूद शत्रु कच पकड़े,
अकड़े-से उसके अंग उन्होंने पाये जकड़े-जकड़े।
मुनियों ने निर्णय किया—"मारना तो है इसे बचाना,
तब है जब आधिव्याधि-कोप गल गल कर पड़े पचाना।
पर प्राप्त इसे है एक दिव्य मणि, केश काट वह ले लो।
ऐसा ही करके कहा पार्थ ने—"जाओ, जीवन झेलो।"

विलाप

संजय ने जब सर्वनाश की कथा सुनाई,
दुःख-दग्ध धृतराष्ट्र भूप को मूर्च्छा आयी।
जब वे जागे, वही दहन फिर आगे आया,
जिसने मानस-नीर दृगों का वाष्प बनाया!
"सुनकर वचन यथार्थ हाय! ये संजय, तेरे,
जीवित ही जल रहे अवश सब अवयव मेरे।
यह सर्वक्षय अन्त समय में मैंने भोगा,
क्या मुझ-सा हतभाग्य विश्व में कोई होगा?
यह भी बनता नहीं, किसी पर दोष धरूँ मैं?
क्या कहकर उन पाण्डुसुतों पर रोष करूँ मैं?
मेरा ही दुर्भाग्य हाय! क्या और कहूँ मैं!
जीवित कैसे मृत्यु बिना अब और रहूँ मैं?
दुर्योधन का द्वेष पाण्डवों पर जब देखा,
दिन दिन बढ़ने लगा दुराचारों का लेखा,
देखा चारों ओर उपस्थित जब भय मैंने,
जान लिया था तभी भरत-कुल का क्षय मैंने।
भीमसेन को जब अथाह जल डुबा न पाया,
नागों का विष उसे अमृत बनकर जब आया,
मणि लेकर जब उठी मूर्ति उसकी फणिपाशा,
करता कैसे पुत्र-विजय की तब मैं आशा?
लक्ष लक्ष धन्वी-समक्ष झष-लक्ष विद्ध कर,
हुआ धनंजय सिद्ध द्रौपदी का प्रसिद्ध वर।
जतुगृह-निर्गत प्रकट हुए पाण्डव जब ऐसे,
करता तब मैं पुत्र-विजय की आशा कैसे?
जब खाण्डव वन जला, गिरी यद्यपि जल-धारा,

भीमसेन ने जरासन्ध को रण में मारा,
राजसूय जब हुआ, विश्व का जयस्तम्भ जो,
जाना था, सब व्यर्थ सुयोधन करे दम्भ जो।
जुआ हुआ जब, चपल शकुनि ने छल की ठानी,
हुई द्रौपदी पाप-सभा में पानी पानी,
धर्मराज ने कुछ न कहा इतने पर भी जब,
यही बहुत है, गिरा सुतों पर वज्र न जो तब।
पाण्डव जब अज्ञातवास कर चुके रीति से,
और सन्धि-सन्देश उन्होंने दिया नीति से,
दुर्योधन ने तदपि किसी का कहा न माना,
निश्चय पूर्वक नाश तभी मैंने था जाना।
पाण्डुसुतों ने भीष्मदेव की प्रियता पाई,
जब स्वमरण-विधि उन्हें उन्होंने स्वयं बताई,
भंग हुई आचार्य द्रोण की जब रण-रचना,
तब सौ में से कहाँ एक का भी था बचना।
छला गया जब कर्ण इन्द्र से एकक्षण में,
हर ली उसकी शक्ति घटोत्कच ने जब रण में,
तब मैं कैसे भला जीत की आशा रखता?
अन्धा भी मैं सभी ओर था हार निरखता।
भीष्म-विदुर-द्रोणादि सभी ने समझाया था,
पर न एक भी मन्त्र सुतों के मनभाया था।
हम ठहरे जड़-जीर्ण, हमारी क्या गिनती है,
अब तो पीछा छोड़ मोह, मेरी विनती है।
वत्स सुयोधन, तनिक घूमकर इधर निहारो,
अब भी हित के वचन हमारे कहे विचारो।
मिलना तो अब कहाँ, जन्म यदि फिर तुम धारो,
तो अनुनय है यही, तात, निज शील सुधारो।
देते थे तुम जो न सुई के अग्र भाग भर,
तुमको जाना पड़ा आज सब भूमि त्याग कर।
अन्त समय तक हाय! न तुमने हठ को छोड़ा,
हित में होता कहीं, न था यह गुण भी थोड़ा।
कालचक्र की चाल भला कब रुकी कहीं है,
देती कोई शक्ति वहाँ पर काम नहीं है।
पड़े रहे सब विभव यहीं जैसे के तैसे,

चले गये वे जीव मात्र आये थे जैसे।
हम वृद्धों के कहाँ आज सौ सहज सहारे?
हम अन्धों के कहाँ आज आँखों के तारे?
वह प्रताप, वह तेज और वह शौर्य कहाँ है?
शेष हमारे लिए काल का क्रौर्य यहाँ है!"

विदुरादिक ने उन्हें व्यर्थ ही-सा समझाया,
जीवन भर की व्याधि, कठिन दो दिन की माया!
बोले वे—"हा! अब अमृत्यु में मुझे कौन सुख।"
गान्धारी ने कहा—"गये हैं वे अपराङ्मुख।
सुनते थे हम उन्हें उन्हीं से, अब न सुनेंगे,
पर अपनों में वीर उन्हें चिरकाल चुनेंगे।
चलो नाथ, हम करें, क्रिया तो उनकी पहले,
देखें फिर, यह भूमि भार अपना यदि सह ले।"
सहकर किसी प्रकार शोक की दुस्सह ज्वाला,
उस देवी ने स्वयं सँभल कर उन्हें सँभाला।

जीवन से उपहसित तिरस्कृत हाय! मरण से,
कुरुक्षेत्र को चले अन्त में वे अशरण-से।
करतीं हाहाकार गयीं कुरुकुल-दाराएँ,
स्खलित-गलित प्रलयान्धकार की-सी ताराएँ।
कलाहीन थी कभी न जिनकी चेष्टा कोई,
मर्यादा भी विकल भाव ने उनकी खोई।

"मुझ नृशंस को मृत्यु दण्ड दो देव, दया कर,"
गिरे युधिष्ठिर भान भूल धृतराष्ट्र-पदों पर।
नृप गद्गद हो गये। "आत्मघाती मैं होऊँ?
हम अन्धों की यष्टि तुम्हीं, तुमको भी ख़ोऊँ?"
करुणामल की हाय! पूर्ण आहुति-सी होली,
गान्धारी के पैर पकड़ पांचाली बोली—
"हतवत्सा मैं योग्य किंकरी आज तुम्हारी,

दो कुछ भी आदेश, देवि, मैं उस पर वारी।"
"तेरे दुख पर बहू, आज ईर्ष्या है मुझको,
मैं तो जठरा, बहुत भोगना होगा तुझको।
देवरानियाँ निरपराधिनी हैं सब तेरी,
उन्हें देखियो, यही याचना-आज्ञा मेरी।"
आर्त्तध्वनियाँ सभी ओर छितरा कर छाईं।
उठीं कहाँ से, भ्रान्त दिशाएँ जान न पाईं।
निज से भी पर-दुःख देखकर स्वयं सवाया,
युग पक्षों को एक दूसरे ने समझाया।

कुन्ती से जब मिले युधिष्ठिर रोते रोते,
"यह कैसा कर्तव्य अम्ब!" बोले सुध खोते।
"वत्स, अन्य गति न थी, यही सन्तोष करो तुम,
तजो आत्म-अवसाद, प्रजा के कोष भरो तुम।"

कुरुक्षेत्र

करुणाजनक, ऊजड़, विकृत बल-वीर्य का यह खेत है,
पारस्परिक संग्राम का परिणाम यह समवेत है।
रणभूमि कौरव-पाण्डवों की ऐतिहासिक है यही,
शोकार्त्त गान्धारी जिसे श्रीकृष्ण को दिखला रही!
सौ पुत्र जिसके थे, वही धृतराष्ट्र की अर्द्धांगिनी,
एकाकिनी है आज, सुत-सम्पत्ति उसकी है छिनी।
अन्तस्सलिलघन-तुल्य उसके पास ही हरि हैं खड़े,
दोनों दलों के बीर क्षत-विक्षत-निहित होकर पड़े।
"इस दुर्दशामय दृश्य के ही देखने को लोक में,
जो मृत्यु के उपरान्त भी डाले रहेगा शोक में,
हे देवकीनन्दन, यहाँ क्या दिव्यदृष्टि मुझे मिली?
हा! क्या हुई सब आज जो थी भव्य सृष्टि मुझे मिली?
देखो, दिवाकर-तुल्य जिनका तेज और प्रताप था,
फैला हुआ सर्वत्र ही शशि-सदृश कीर्ति-कलाप था,
इस रक्त-कर्दम-मय मही पर सो रहे हैं आज वे,
हा! अब न जाने हैं कहाँ सब साज और समाज वे!
उपमा सुरों में भी न जिनकी श्रेष्ठ कवियों को मिली,
निर्दोष निर्मल कीर्तिरूपा कौमुदी जिनकी खिली,
ज़ो थे हमारे ही नहीं, इस विश्व के सबसे बड़े,
कुरु-वृद्ध भीष्म वही शरों की आज शय्या पर पड़े।
भृगुराम सम बलधाम ये गुरुदेव द्रोणाचार्य हैं,
विख्यात जिनके लोक में अद्भुत अलौकिक कार्य हैं,
तनु त्याग कर पाला इन्होंने एक पुत्रस्नेह को,
अब जान पड़ता है, कृपी भी तज रही हैं देह को।
पाण्डव न सुख से सो सके चिरकाल जिसके हेतु से,

संग्राम में जो उदित था दुर्द्धर्ष दुगुना केतु से,
सुत के सहित वह कर्ण भी निश्चल पड़ा है हत हुआ,
वह वीर्य बल, वर्चस्व, गौरव, गर्व सारा गत हुआ।
हतभागिनी राधा विषम बाधा व्यथा वह सह रही,
वृद्धा लिपट कर कर्ण-शव से विलख क्या क्या कह रही—
'हा वत्स! मेरे दूध का यह मूल्य मुझको दे गया,
मेरे जने थे, जो, उन्हें भी संग अपने ले गया।
जब तेज तेरा सह न पाई जन्मदात्री आप ही,
भोगे न क्यों ममतामयी यह दीन धात्री ताप ही।
राधेय, मरणाभाव में दुर्लभ मुझे विश्राम है,
तूने अमर, जो कर दिया निज संग मेरा नाम है।'
सारे अनर्थों का शकुनि को जानती थी मूल में,
पर आज उसकी भी दशा पर पा रही हूँ शूल मैं।
घेरे उसे हैं काक कितने, ध्वस्त पंजर-जाल है,
चलता न कोई छल न बल आता यहाँ जब काल है।
निज पुत्र-पौत्र-विहीन यह मैं शोच किस किसका करूँ?
मिलती नहीं है माँगने से मृत्यु भी, जो मैं मरूँ।
देता जिन्हें कर था सतत नृप-गण विनय से नत हुआ,
जीती हुई मैं देखती हूँ निज सुतों को हत हुआ!
उस ठौर दुःशासन-हृदय का भीम ने शोणित पिया,
हा! द्रौपदी के दुःख का प्रतिशोध दानव-सा लिया।
क्या पाण्डवों को शाप देकर पिंड भी खोऊँ हरे!
जीत रहें जो रह गये, जों मर चुके हैं सो मरे।
ये पुष्प-शय्या-शायिनी शर-भूमि में सुकुमारियाँ,
निज केश खोले रो रही हैं भरत-कुल की नारियाँ।
सुत-पति-पिता-भ्रातादि-विषयक शोक हैं जो सृष्टि में,
प्रत्यक्ष-से वे सब यहाँ पर आ रहे हैं दृष्टि में।
गोविन्द, विधवा देखकर भी पुत्रवधुओं को यहाँ,
इस देह में अटके न जानें प्राण मेरे हैं कहाँ।
श्रुति, शास्त्र और पुराण-वाणी यदि असत्य नहीं कभी,
तो सत्य ही सुत शूर मेरे स्वर्ग में होंगे सभी।
यह सौ सुतों के मध्य मेरी एक मात्र मनोहरी,
प्यारी सुता थी दुःशला, जीती हुई अब है मरी।
गृध्रादिकों से सिर-रहित पति-देह-रक्षा कर रही,

क्षण भर व्यथा को भूलकर रक्षार्थ मन में डर रही।
ये कोमलांगी रानियाँ मानी सुयोधन की हरे,
किस भाँति क्रन्दन कर रहीं पति के पदों पर सिर धरे।
पति-शोक-सह सुत-शोक भी ये पा रहीं अति घोर हा,
फटता नहीं अब भी हरे, यह हृदय कुलिश-कठोर हा!
गोविन्द, समझाती रही मैं इस सुयोधन को सदा,
'सुत, सम्पदा के लोभ से तू मत बुला यह आपदा।'
पर निज गदा के गर्व से मेरी गिरा मानी नहीं,
भवितव्यता की गति किसी ने है कभी जानी नहीं।
बेटा सुयोधन, ध्यान रखते जो बड़ों की बात का,
तो देखना पड़ता न यह दुर्दिन हमें अभिघात का।
वह दर्प और प्रभाव सारा अब तुम्हारा है कहाँ,
भस्मावशेष कृशानु-सम तुम दीख पड़ते हो यहाँ।
क्या तुम अकेले ही गये, सब कुछ हमारा ले गये,
माँ-बाप की भी क्यों न तुम निज संग नौका खे गये।
हम दीन अन्धों पर तुम्हें कुछ भी दया आयी नहीं,
भावज्ञ थे तुम, क्यों तुम्हें सद्भावना भाई नहीं।
गोविन्द, तुम जो कह रहे हो, मैं न यों रोदन करूँ,
पर हाय! अब क्या सोच कर मैं चित्त में धीरज धरूँ?
वात्सल्य के वश था जिन्होंने कुछ न पुत्रों से कहा,
है सोच सर्वाधिक मुझे निज वृद्ध पति का ही हहा!
निश्चय युधिष्ठिर पुत्र-सम सेवा करेंगे सर्वदा,
नाना उपायों से हमारा दुख हरेंगे सर्वदा।
पर वासुदेव, कृशानु सम यह शोक हम कैसे सहें?
सोचो तुम्हीं, किस भाँति हृतसर्वस्व होकर हम रहें?
पूर्णेन्दु-से जिनके सिरों पर शुभ्र शोभित छत्र थे,
सेवक अपेक्षाधिक जिन्हें करते सुखी सर्वत्र थे।
यह गृध्र-पक्षों की उन्हीं पर आज छाया हो रही,
आता नहीं जो ध्यान में भी काल दिखलाता वही।
केवल इसे कुरु-वंश का ही नाश कहना भूल है,
केशव, हुआ इस युद्ध में यह देश नष्ट समूल है।
कुछ कौरवों की ओर से, कुछ पाण्डवों की ओर से,
हत हो गये हैं वीर सारे क्षात्र-धर्म कठोर से।
क्या देखती है आज मेरी दृष्टि यह पटभेदिनी,

नर-रक्त पीकर राक्षसी-सी सो रही है मेदिनी!
मैं मानती हूँ दुरित-पूरित बन्धु-वैर-विरोध था,
पर हाय! क्या अन्याय का अन्याय ही प्रतिशोध था?
मैं जान लेती थी सुतों को स्पर्श करके गात्र से,
देखे बिना पहचान लेती अलग आहट मात्र से।
मेरे तिमिर में किन्तु अब क्या शेष आहट भी बची,
फिर भी प्रलय से भी भयंकर हृदय में हलचल मची।
तुम रोकते तो रोक सकते सहज दुष्कर काण्ड को,
पर फूटना ही था हमारे भाग्य के इस भाण्ड को।
कुरुकुल सरीखा वृष्णि-कुल भी लड़ परस्पर नष्ट हो,
तो पूछती हूँ, कृष्ण, क्या तुमको न इससे कष्ट हो?"
सहसा जनार्दन हँस पड़े सुनकर सती की बात को,
"हे देवि, जो तुमने कहा, समझो घटित उस घात को।
मेरे समय के साथ मेरा कार्य पूर्णप्राय है,
पर एक धीरज ही तुम्हारे शोक का सदुपाय है।"
"क्या कह गयी मैं हाय! मेरा दोष देव, क्षमा करो,
मुझ दुःखिनी हतबुद्धि का अपराध मत मन में धरो।"
सिर पीट अपना अस्थिरा प्रभु के पदों में गिर पड़ी,
दी सान्त्वना उसको उन्होंने, की कृपा-करुणा बड़ी।

अन्त

समय बीतता ही है, हम सब जैसे उसे बिताएँ,
किया गया संस्कार शवों का जलीं असंख्य चिताएँ।
अम्बर को भी दग्ध न कर दें जगती की ज्वालाएँ,
धूम-धुन्ध में सजललोचनी दहलीं दिव-बालाएँ?

कुरु-बधुओं की तपन आग भी झेल न सकी सवाई,
उन सतिओं ने जल-समाधि में पतियों की गति पाई।
स्थूल देह को अग्नि-दान फिर सूक्ष्म देह को पानी,
उस अवसर पर धर्मराज से बोली कुन्ती रानी।
"वत्स, कर्ण को भी अंजलि दो, निज अग्रज के नाते।"
गिर ही पड़ते आर्त्त युधिष्ठिर यदि न सँभाले जाते।
"हाय अम्ब! पहले न कहा क्यों तो यह सब क्यों होता?
अब जाना, क्यों उसे देख मैं था स्वस्थिरता खोता।
इतनी बड़ी बात भी मन में कैसे पचा सकी तुम?
ऐसे सुत की भी कुछ ममता जननि, न बचा सकी तुम!"
"जननी न थी हाय! हननी थी उसकी मैं हत्यारी,
कहीं तुम्हें भी बलि न बना दे प्रसू तुम्हारी प्यारी।"

बन जाने से रुके वृद्ध नृप देख युधिष्ठिर-बाधा,
और युधिष्ठिर ने ज्यों त्यों कर धर्म-कर्म सब साधा।
निज राज्याभिषेक-जल उनको भिगो गया रोदन-सा,
जँचा स्वत्ययन पाठ उसी का आकुल अनुमोदन-सा!
तन से सिंहासन पर, मन से वन में भूप विराजे,

लगे सुखोत्तर शान्ति-सहगमन-वेला के-से बाजे।
हरि से कहा उन्होंने—"जिससे हारा अर्जुन जीता,
देव, सुना दो इस जन को भी एक बार निज गीता।"
प्रभु मुसकाये, बोले—"पहले उस समाधि में आऊँ,
तब न तात, मैं उसी गिरा में फिर निज गीत सुनाऊँ।
स्वयं सुज्ञ तुम, आज न हो, कल सँभलोगे निज बल से,
लो चल कुछ उपदेश, भीष्म हैं जाने को भूतल से।"

अपने ज्ञान-विधान भीष्म ने कृष्ण-कृपा से खोले,
धर्मराज को विविध बोध-धन देकर वे फिर बोले।
" 'सु' कहो, वा 'दुः'ख तो शून्य है यह है मेरा कहना,
तुम सुख और दुःख दोनों के ऊपर उठकर रहना।"
किन्तु पितामह के प्रयाण पर उनकी शय्या के शर,
अनुभव करने लगे युधिष्ठिर रोम रोम में खरतर।
उन्हें पुनःस्थापित कर प्रभु ने वारंवार प्रबोधा,
"तात, शोक को भी जीतो अब तुम जगती के जोधा।
बाहर से भी बड़े विपक्षी अपने ही भीतर हैं,
उन पर वही विजय पाते, जो आत्मनिरीक्षक नर हैं।"
"वही दृष्टि पाऊँ मैं तुमसे" यह कह उठे युधिष्ठिर,
भूमि-भार से नहीं, विनय से नम्र हुआ उनका सिर।
अस्थिर मन को आप उन्होंने जैसे तैसे रोका,
अपने से भी पूर्व प्रजा को अपने में अवलोका।
अश्वमेध-विधि-हेतु जनों पर कोई कर न लगाया,
खनन करा कर वसुधा से ही विपुल रत्न धन पाया।
जना उत्तरा ने भी सुत, पर हुआ परिक्षित मृत-सा,
द्रोणतनय का शाप शौरि ने दूर किया दुष्कृत-सा।
हरा हो गया कुल का अंकुर, भरा हर्ष घर-बाहर,
गये यज्ञ-हय के रक्षक बन अर्जुन-से नर-नाहर।

वीर-हीन कब वसुन्धरा है, अक्षय जननी जगती,
एक हाट के उठने पर क्या नहीं दूसरी लगती।
कर न दिया सीधे त्रिगर्त के नृपति सूर्यवर्मा ने,

प्रागृज्योतिष के वज्रदत्त-से सहज शूरकर्मा ने।
ले न सका पितृ-वैर युद्ध कर सिन्धुराज का बेटा,
तो उस आतुर ने अपने को आप मृत्यु से भेटा।
लिये दुग्धमुख पौत्र दुःशला पार्थ-निकट जब आई,
बोल उठे वे—"हाय बहिन!' वह बोल उठी "हा भाई!"
पर नीलध्वज-सुत प्रवीर जब जूझा उनसे रण में,
और वश्यता मानी नृप ने जीवन-धन-रक्षण में,
तब मृतवत्सा रानी पति की अवगति से यों ऊबी,
क्षोभ-शोक-अपमान न सहकर गंगा में जा डूबी।
पुत्र बभ्रुवाहन मणिपुर में मिला पार्थ से नत हो,
"चिरंजीव," बोले वे—"तेरा क्षात्र धर्म अक्षत हो।
होकर भी मैं पिता आज प्रतिपक्षी होकर आया,
मुझसे भी यों हार मानना क्यों तेरे मन भाया?"
वहाँ उलूपी नागसुता भी उन्हीं दिनों आयी थी,
चित्रांगदा सरीखी ही स्थिति उसने भी पायी थी।
बोली वह "यदि ऐसा है तो वत्स, नहीं निर्बल तू,
जीत पिता को भी निज गुण से, ले ले यश अविचल तू।"
पिता-पुत्र का युद्ध विलक्षण हुआ दो ग्रहों ऐसा,
दोनों मूर्च्छित हुए अन्त में कर जैसे को तैसा।
सुत तो उठ बैठा सचेत हो, रहा अचेत पिता ही,
यत्न न करती कहीं उलूपी जाती चुनी चिता ही!
अपना ही आत्मा था यह तो, अन्य कौन जय पाता,
जो भी जहाँ लड़ा अर्जुन से हार हुआ कर-दाता।

हुआ यथाविधि यज्ञ, दान ने पायी परम रुचिरता,
दीखा सहसा एक नकुल मख-भूमि सूँघता फिरता।
उत्सुक धर्मराज ने पूछा "यह क्या खोज रहा है?"
व्यासदेव ने बड़े भाव से वह वृत्तान्त कहा है।
"कुरुक्षेत्र में एक विप्रकुल उंच्छ-वृत्ति-भोगी था,
द्विज गृहस्थ होने पर भी अति तपोनिष्ठ योगी था।
एक बार सूखा पड़ने से संकट के घन छाये,
कई दिनों के अनाहार पर कुछ यव ही घर आये।
पिता-पुत्र में, सास-बहू में बँटा सक्तु जैसे ही,

एक बुभुक्षित अतिथि अचानक आ पहुँचा वैसे ही,
साग्रह अपना अंश सभी ने पहले देना चाहा,
हुआ सभी का अन्न अतिथि के जठरानल में स्वाहा।
मिला परमपद उन चारों को धर्म-परीक्षा देकर,
खोज रहा उस सक्तु-यज्ञ का गन्ध नकुल रस लेकर!
सन्न युधिष्ठिर हुए, उन्हें ज्यों जड़ता ने आ घेरा,
सँभल उन्होंने कहा—"तुच्छ है यज्ञदान सब मेरा।
किन्तु राज्य में मेरे क़ोई मरे न वैसे भूखा,
यदि सब ओर जलाशय हों तो पड़े कहीं क्यों सूखा।
रहें किसान अवर्षण में भी भूमि जोतते-बोते,
फलें उच्च उद्यान देश में अति वर्षण भी होते।
आप दुःख अनुभवी उन्होंने सबको सुखी बनाया,
मन से प्रजाजनों ने उनका जयजयकार मनाया।

अन्ध तात से पूछ कार्य कर श्रेय उन्हें देते वे,
पौत्र परिक्षित के समान ही सतत उन्हें सेते वे।
हुए वृद्ध दम्पति वन के ही अन्त समय अभिलाषी,
मार्ग सींचते-से आँखों से मौन रहे मृदु भाषी।
संजय-विदुर-सहित कुन्ती भी उनके साथ चली जब,
दुगुनी होकर मातृ-विरह की बाधा उन्हें खली तब?
"माँ, क्यों युद्ध कराया, यदि यों तुमको भी जाना था?"
"बेटा, निज कर्त्तव्य उसी में तब मैंने माना था।
अब मेरा कर्त्तव्य यही है, जिसको मैं करती हूँ,
जेठ-जिठानी का सेवा-व्रत नत सिर पर धरती हूँ।
तुम भी स्वकर्त्तव्य पालन कर करो लोक का लालन,
कातराश्रुओं से न करो यों मेरा पद-प्रक्षालन।"
गुरुजन के वन-गमन पूर्व ही घर आ गयी उदासी,
"गये शेष पुरखे भी अपने।" बिलखे सब पुरवासी।

आगे का संवाद और भी था भुजंग-सा काला,
झगड़ परस्पर लड़कर जूझा वृष्णि-वंश मतवाला।
गये कृष्ण निज धाम राम-सह कर संवरण स्वलीला,

स्तब्ध पाण्डवों के वदनों का वर्ण पड़ गया पीला।
सँभले सहसा स्वयं युधिष्ठिर दृढ़निश्चयी सरीखे,
वैसे कभी न दीखे थे वे जैसे उस दिन दीखे।
एक बार वे सिहर सभी को लगे स्वयं समझाने,
अर्जुन भेजे गये द्वारका स्त्री-बच्चों को लाने।
उनको लेकर लौटे जब वे हरि के बिना अकेले,
हत-से होकर पथ में दारुण दुःख उन्होंने झेले।
एकलव्य के जातिबन्धु जुड़ अकस्मात आ टूटे,
धन ही नहीं, उन्होंने उनसे रक्षित जन भी लूटे।
नारायण से बिछुड़े नर के भाग्य सर्वथा फूटे,
धन्वि धनंजय उस संकट से ज्यों त्यों करके छूटे।

तब युयुत्सु को सौंप हस्तिनापुरी परिक्षित को भी,
अनुज और कृष्णा युत होकर सब में अरत अलोभी।
शेष एक हरि-पौत्र वज्र को इन्द्रप्रस्थस्थित कर,
वचन सुभद्रा से यों बोले धर्मराज कुल-हितकर।
"दो दो पौत्रों के पालन का भद्रे, भार तुझे है,
अपने दुःख देखने का अब क्या अधिकार तुझे है?
नहीं उत्तरा की ही, मेरी धरती की धात्री तू,
रह, सह हरि की बहिन, प्रसव-सा नवभव-निर्मात्री तू।"
क्या कह सकी सुभद्रा उनसे पड़ अचेत पद छू कर,
अर्जुन नीची दृष्टि उठाकर लगे देखने ऊपर।
नर घर छोड़ निकल जाता है, नारी घुटती रहती,
लज्जा भय-विषाद की मारी दुखियारी सब सहती।
कृप को कुलाचार्यता देकर बाहर होते होते,
सुना पाण्डवों ने, कहती थी वह यों रोते रोते।—
"मैं सबकी धात्री, मेरा भी कोई धाता-त्राता?
अगति अभद्रा को जगती में तू न भूल ओ भ्राता!"

स्वर्गारोहण

भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धर्म-कर्म कर भले भले,
सम्पूर्ण प्रपंचों से ऊपर
उठ पाँच पंच ये कहाँ चले?
रख एक शान्त रस अन्तस में
विष-सा विषयों को त्याग चले,
दुःखों से लड़कर शूर-सदृश,
सुख के स्वप्नों से जाग चले।
बल से भूमण्डल-जय करके
ये स्वर्ग-विजय के हेतु चले,
तर सकें अन्य भी भव-सागर,
रच अचल शील के सेतु चले।
ये धर्मराज्य-संस्थापन कर,
उद्यापन कर सब छोड़ चले,
उद्योमों के ये आश्रय-से
सब भोगों से मुँह मोड़ चले।
जो रत्न जड़ित-से थे तन में,
ये तृण-सा उन्हें उखाड़ चले,
बाहर ही बल्कल धरे नहीं,
भीतर से राजस झाड़ चले।
पर छोड़ सकी क्या श्री इनको,
ये निकल न जावें घेरे से,
वह प्रभा-मंडलस्थिता इन्हें
देती जाती है फेरे-से!
क्षणभंगुरता से रूठे-से!

ये किसे मनाते जाते हैं?
ये मार्ग बनाते आये थे,
अब उसे जनाते जाते हैं।
इनके दृढ़ चरण-चिह्न अपने
माथे पर पथ है लिखा रहा,
निज का, निज भावी पथिकों का,
वह भाग्य खुला-सा दिखा रहा।
नव जीवन-तुल्य मरण को भी
बढ़ यथा समय ये लेते हैं,
विभु का वार्त्तावह जान उसे
आतिथ्य-मान सब देते हैं।
डरते हैं,—जिनमें चोर छिपा,
इनको सब ओर अभय ही है,
ज्ञानी, कृतवर्मा, भक्त सभी
ये जहाँ जाँय जय-जय ही है।
निस्सार समझ शस्त्रों को भी
कर चले विसर्जित ये जल में।
पर हाय! मनुष्यों ने उनको
क्या जाने दिया रसातल में?
उनके अनर्थ के चिन्तन पर
कब चतुर जनों का चित्त गया?
हो रहा अर्थ-बलि ले लेकर
उनका विकास ही नित्य नया!

सहचरी हो रही है इनकी
यह कौन मुक्ति-सी मूर्तिमती?
इन साधु-शिरोमणि पतियों की
सच्ची साध्वी अनुरूप सती।
इन युधिष्ठिरों को लुभा सकी
क्या ऋद्धराज की सत्ता है?
बन चली याज्ञसेनी पीछे

उसकी प्रत्यक्ष महत्ता है।
हो रही उच्चता प्राप्त स्वयं
इस हिमगिरि से भी आज इन्हें,
निज शिखर-शीर्ष ऊँचे करके
अवलोक रहा नगराज इन्हें!
आध्यात्मिकता के आँगन में
अब कौन नहीं अंगी इनका?
इंगित-भंगी से स्वीकृत-सा
है सारमेय संगी इनका!
नीचे अवनी, ऊपर अम्बर,
अब इन्हें मध्य पथ बढ़ा रहा,
गिरिराज उठाकर गोदी में
मानों कन्धों पर चढ़ा रहा!
लेकर समाधि, जम कर जल भी
अविचलता से संलग्न हुआ,
दधिकाँदो का उत्सव करके
हिम-शैल उसी में मग्न हुआ!
पट पकड़ झाड़ियाँ रोक इन्हें
संस्पर्श-सुरस चखती जाती,
पर वसन रहे, तनु-मोह न लख
कुछ अभिज्ञान रखती जाती।
जगती अतीव ठंढी साँसें
इनके वियोग में भरती है,
अपनी माया इनमें न निरख
काया भी काँप सिहरती है!

रुक कहा युधिष्ठिर ने—"कृष्णे,
तुम श्वेत हो रही हो जैसे,
अथवा उदार गिरिराज तुम्हें
निज रौप्य नहीं देता कैसे?
अब हम सुमेरु की सीमा में

आ गये साध्वि, जो सोने का।"
"तो नाथ, आ गया मेरा भी
यह समय शान्ति मय सोने का!
मैं भाग्यवती, सब मिला मुझे,
मेरा कुछ कहीं नहीं छूटा;
अपना प्रवाल-पंचक भी मैं
ले चली, यहाँ जो था फूटा।
फिर भी प्रिय पुण्यभूमि मेरी
मेरे स्मृति-तन्तु न तोड़ेगी,
यह कौन कहे रोकर-गाकर
कब कहाँ मुझे वह छोड़ेगी।
यह-यही-एक इच्छा मेरी—
पंचत्व प्राप्त करके प्यारे!
मैं एकात्मा से भजूँ तुम्हें,
रख तुल्य रूप न्यारे न्यारे।
तुम किन्तु न रुको, बढ़ो आगे,
जो कहे, जगत मुझको कह ले;
मैं गिरती हूँ, यह गिरी प्रभो,
पर पहुँचूँगी तुमसे पहले!"
"तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता मेरी ही।"
चल पड़े युधिष्ठिर यन्त्र-सृदश,
अनुजों को लगी अँधेरी ही।
बोले सहदेव तनिक चलकर
हे आर्य, अचल अब गात हुआ,
मैं गिरा, द्रौपदी-बिना मुझे
मानो यह पक्षाघात हुआ!"
रुककर न युधिष्ठिर ने, उनसे
चलते चलते बस यही कहा—
"तुम नहीं, गिरा तुममें मेरा
रूपाभिमान जो उठा रहा।"
कुछ आगे कहा नकुल ने यों
"गिरता हूँ अब मैं अवश निरा।"
सुन कहा युधिष्ठिर ने "तुम में

मेरी मति-गति का गर्व गिरा।''
आगे चल गिरे धनंजय भी,
''अब और नहीं उठता पद ही।''
''तुम नहीं गिरे, झड़ गिरा यहाँ
तुम में मेरा मानी मद ही।''
बोले गिर भीम अन्त में यों–
''हे आर्य, यहाँ मैं भी टूटा।''
''तुम छूटे नहीं तुम्हारे मिस
मेरा औद्धत्य यहाँ छूटा।''
खुल गये सभी बन्धन मानों,
अब आप आप वे व्यक्त हुए,
भौतिकता के सब भाव स्वयं
आध्यात्मिकता से त्यक्त हुए।
उस विषम दशा में पड़कर भी
क्या ही सहिष्णु थे वे विनयी,
निकले उनके-से पुरुष वही
जो हुए अन्त में प्रकृतिजयी।
उन्मुक्त जीव-से वे सुकृती
स्वच्छन्द, स्वस्थ अब दीख पड़े,
उनकी गति देख सुवर्ण-शिखिर
रह गये जहाँ के तहाँ खड़े।
जिन अनुजों को ही देख सदा
मानों सजीव थे जो जग में,
कैसे वे ऐसे छोड़ उन्हें
बढ़ गये परम दुर्गम मग में?
जो आप मुक्ति-पथ-गामी हैं,
चाहें अपनों की मुक्ति न क्यों?
हो जिन्हें मोह-ममता-माया,
मानें वे इसे अयुक्ति न क्यों।
लगते थे जो सशंक-से, वे
थे दृढ़ निश्चयी अचल ध्यानी,
जिज्ञासु-रूप में रहकर भी
निश्चिन्त गूढ़ तत्वज्ञानी।
था जिन्हें द्वेष, उनके प्रति भी

उन सक्षम को कुछ द्रोह न था,
था जिन्हें प्रेम, जो प्यारे थे,
उन पर भी उनमें मोह न था।
"जो होना है सो हुआ करे,
मेरे अधीन मेरा पथ है,
माने वह बाधा-विघ्न कहाँ,
जिसका अनिरुद्ध मनोरथ है।
जो थे शरीर रहते मेरे,
अब आत्म-रूप अविभिन्न हुए,
माना, शरीर भी अनुपम थे,
पर छूट आप वे छिन्न हुए।
भार्या-भ्राता सब छूट गये,
अब देह, स्वयं तेरी वारी,
तू भी अब मेरा मोह न कर,
जाऊँ मैं तेरी बलिहारी!
सुख-दुःखों में है साथ दिया
तूने समान ही सत्वों से,
क्या कहूँ और मैं, मिल तू भी
अपने उदारतम तत्त्वों से।
भव तुझसे जो था मुझे मिला,
मैं तुझको लौटा चला सभी,
जब चाहे तू ही भूल मुझे,
मैं तुझको भूलूँगा न कभी।
यदि फिर भी आना पड़ा मुझे
तो पाऊँगा क्या वृद्ध तुझे?
करता जावेगा काल स्वयं
नित नूतन और समृद्ध तुझे।
संसार, मुझे अब आज्ञा दे,
आवेंगे नये अतिथि तेरे,
उनके स्वागत के अर्थ सदा
सद्भाव रहेंगे ही मेरे।
हम नहीं कर सके जो साधन,
वह सिद्ध करे अगली पीढ़ी;
बढ़ता रह तू इस भाँति सदा,

चढ़ता रह नित्य नयी सीढ़ी।
जाने वालों की जीत वहीं
आने वालों से हार जहाँ,
अन्यथा हमारा गौरव जो,
वह सन्तानों का भार यहाँ।

कुछ और नहीं, अब मैं ही मैं,
इस 'मैं' को भी किसको सौंपूँ?
पर बोझ न हो उसको मेरा,
अपने को मैं जिसको सौंपूँ?
कहता है अहा! अहं, तू क्या,
'कुछ ऐसा खेल न खेलूँ क्यों,
जो मुझे ले सके अपने में,
उसको मैं आप न ले लूँ क्यों?'
हे नारायण, क्या और कहूँ,
तू निज नर मात्र मुझे रखना;
क्या नहीं एक से दो अच्छे,
लीला-रस रहे जहाँ चखना?
बुझ जाने में वह ज्योति कहाँ?
क्या तुझे देखने से भागूँ?
मैं चिरस्नेह से उजल उठूँ,
जलकर भी जहाँ तहाँ जागूँ।
पर अब भी मैं निश्चिन्त नहीं,
जब छूट गये घोड़े-हाथी,
यह पूँछ हिलाकर उछल उछल
धरता है मुझे शुनक साथी।
जगती में जात जहाँ जो हों,
रस लेकर फूलें और फलें;
पर अपनी यात्रा शेष अभी,
आ संगी, आगे चले चलें।''

सहसा 'जय भारत!' शब्द हुआ,
नभ से फूलों की वृष्टि हुई,
स्वर्गीय गन्ध गमका, ऋतु में
सुस्पृश्य भाव की सृष्टि हुई।
देखें जब तक उन्मुख होकर
कुछ चौंक कृती कुन्तीनन्दन,
तब तक समीप आ रुका त्वरित
सुस्वरित शचीपति का स्यन्दन।
मातलि ने कहा—"चलें श्रीमन्,
सुर करें आपका अभिनन्दन।"
"मैं अनुगृहीत" नत हुए नृपति,
"यदि करूँ यथा उनका वन्दन।
चल भाई!" मातलि चौंक पड़ा—
"कुत्ता भी साथ चलेगा क्या?
इस रथ का यह अपमान स्वयं
नृप को भी नहीं खलेगा क्या?"
"खलता अवश्य, होता यदि मैं
रूपानुरूप लोकाचारी,
भौतिक सीमाएँ भद्र, स्वयं
अब छूट गयीं मेरी सारी।
तुम जाओ, मेरा भाग्य नहीं,
जो मैं सुदेव-दर्शन पाऊँ,
शरणागत, अनुजाधिक सहचर
यह श्वान छोड़ क्यों कर जाऊँ?"
"जय जय भारत! मैं धर्म वही,
तुम पुनरुत्तीर्ण हुए, जाओ।"
वह कुत्ता अन्तर्द्धान हुआ
कह—"तात योग्य निज पद पाओ।"
"मैं अनुगृहीत।" कह धर्मात्मज
सानन्द स्यन्दानासीन हुए,
भारत अब भारत मात्र न थे,
ऊँचे उठ सार्वजनीन हुए।

"जय पृथिवीपुत्र, जयति भारत,
जय जय अजातशत्रो, स्वागत!"
सादर देवों से लिये गये
स्वर्गप्रतिष्ठ वे निष्ठा-नत।
नाचीं सुरांगनाएँ गाकर—
"क्या ऊर्ध्वगामिनी धारा है!
हे वसुन्धरा के धन, आओ,
सुरपुर भी क्रीत तुम्हारा है!"
"कुछ कहो भद्र," सुन सुरपति से
वे बोले—"सब कुछ बना यहाँ,
जो रहा जन्म भर रूठा ही,
यह दुर्योधन भी मना यहाँ।
पर तात, अमरपुर में भी हा!
क्या रहे मर्त्य तनु की तृष्णा?
आज्ञा हो तो मैं मिलूँ स्वयं
जाकर है जहाँ अनुज-कृष्णा।"
लज्जित-से हुए त्वरा पर वे,
हँस वासव ने आदेश दिया,
द्रुत देवदूत ले चला उन्हें
कह—"मैंने तो यह क्लेश किया!"
वे "नहीं नहीं" कहते कहते
रुक गये अचानक हतमति-से,
विस्मित भी हुए व्यथित भी वे
अपनी अचिन्त्य-सी उस गति से।
"वह अमृतार्णव, यह गरलोद्भव!
हे दैव, यहाँ भी यह छलना?
चिर जीवन ही अभिशाप वहाँ
मरने के बिना जहाँ जलना!
हे दूत, देख कर आया हूँ
जिस अमरपुरी का गौरव मैं,
यह देख रहा हूँ सचमुच क्या
उसके समीप ही रौरव मैं!
प्रत्येक स्वर्ग के साथ नरक
क्या आवश्यक अनिवार्य अहे!

ये उभय परस्पर पूरक हैं
अथवा दूरक, यह कौन कहे?
उस कुरुक्षेत्र का नर-कुंजर
वह अश्वत्थामा तरा तभी,
पर मेरे मृषा-कथन का क्या
यह मथन-दण्ड था शेष अभी?
अच्छा है, वह भय-कम्प मिटे
इस अन्धतमस की ऊमस में,
मेरी अपनी ही दृष्टि नहीं
रह गयी किन्तु मेरे बस में।
अब मुझे दीखते हैं, उड़ते
व्यालों से बिखरे बाल कटे,
ये सड़े गले चलते फिरते
कंकाल कराल, कपाल फटे!
लगता है, एक दण्ड में ही
यह एक कल्प मैंने भोगा,
रह साँय साँय! कह, अन्त कहाँ
इस भाँय भाँय का कब होगा?
हे पथप्रदर्शक, धन्य तुम्हीं,
पर अमर नहीं मेरा चोला!"
"चाहें तो लौट चलें श्रीमन!"
हँसता-सा देवदूत बोला।
सुन पड़े करुण चीत्कार तभी—
"हा धर्मराज! आओ, आओ,
भूले भटके आ गये यहाँ,
तो दया करो, टुक रुक जाओ।
जो लगा तुम्हारा वायु हमें
इससे हमको विश्रान्ति मिली,
हम दले-जले-से जाते थे,
तुमसे हम सबको शान्ति मिली।
हे अनुज रुको, हे नाथ रुको,
हे अग्रज रुको, दया करके,
हम अधिक न रोकेंगे तुमको,
पर जिये आज मानो मरके।"

रुक खड़े हो गये वे सहृदय—
"लो ठहरा मैं, तुम शान्त रहो,
तुम नहीं दीखते, भाग्य यही,
पर कौन स्वजन हो, कहो अहो!"
"हम कर्ण, द्रौपदी, भीमार्जुन,
हम नकुल और सहदेव सभी,
हे तात, हमें क्या आशा थी,
हम देख सकेंगे तुम्हें कभी?"
सुन सन्न हुए वे दया-द्रवित,
जी भर आया, भर उठा गला,
"तब सुकृती रहा सुयोधन ही।"
आनन से यही वचन निकला।
"वे देखें सुनें, सुकृति हैं जो
वह नृत्य-गान निज मनमाना,
कर सकूँ दैव, कुछ मृदु ही मैं
यह तीव्र तड़पना-चिल्लाना।
मेरा मन मुझसे पूछ रहा—
'यह नरक पार कर जाओगे,
पर कहो, कौन-कितने हैं वे,
तुम जिन्हें तार तर जाओगे?'
हो जाय न दग्ध, मुझे भय है,
दिव इसी दाह से दरक कहीं?
यदि यह सड़ाँध फैली आगे
तो न हो स्वर्ग भी नरक कहीं?
हे दूत!" सँभलकर बोले वे—
"जाओ तुम, यहीं रहूँगा मैं;
इन आत्मीयों के साथ सदा
स्वर्गादिक नरक सहूँगा मैं
जाकर सुरेन्द्र को तुम मेरे
सादर सौ धन्यवाद देना,
कहना, मैं हूँ सन्तुष्ट यहीं,
मुझको वह स्वर्ग नहीं लेना!"

"ये तुम त्रिवार उत्तीर्ण हुए,
जय जय जय भारत!" नाद हुआ।
दुःस्वप्न-सदृश दुर्दृश्य मिटा,
अति अकथनीय आह्लाद हुआ।
पार्थिव शरीर में फूट पड़ी
उद्दीप्त दिव्य उनकी काया,
खुल गयी गाँठ मानो गल कर,
झल मल कर निष्क निकल आया!
हँस मिल स्वजनों ने कहा—"स्वतः
हमको अमरों का ओक मिला,
पर तात, तुम्हारे आने से
आहा! अब यह गोलोक मिला!"
सस्मित नारायण प्रकट हुए—
"आओ, हे मेरे नर आओ!
जो कुछ है जहाँ, तुम्हारा है,
मुझको पाकर सब कुछ पाओ!"

❑ ❑ ❑
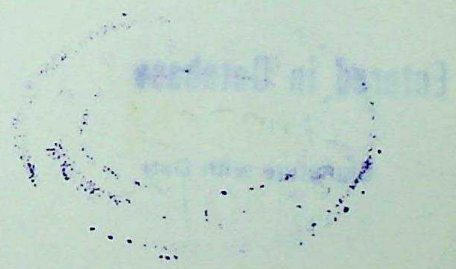
"किन्तु हिन्दी-प्रान्तों में पुनरुत्थान (रेनेसाँ) का नेतृत्व मुख्यतः स्वामी दयानन्द ने किया था। अतएव यहाँ पुनरुत्थान के कवि मैथिलीशरण गुप्त में यह बात सुनने में विचित्र लगती है क्योंकि गुप्त जी आर्यसमाजी नहीं थे—सनातनी कवि हैं।"

—**दिनकर,** 'भारतीय पुनरुत्थान के कवि मैथिलीशरण गुप्त'

मैथिलीशरण गुप्त

खड़ी बोली के रूप निर्धारण में अपूर्व योगदान। 'भारत-भारती' के प्रकाशन से राष्ट्रीयता की भावना को अपार बल मिला। तभी से 'राष्ट्रकवि' का विरुद नाम के साथ जुड़ गया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने उन्हें 'राष्ट्रकवि' नाम से सम्बोधित किया। सन् 1941 में भारत रक्षा कानून के अधीन जेल रहे। स्वाधीन भारत की संसद में आरम्भ से ही मनोनीत सदस्य। 'साहित्य वाचस्पति' और 'डी.लिट्.' (आगरा विश्वविद्यालय 1948) की मानद उपाधियों से सम्मानित। पद्मविभूषण 1954। प्रसिद्ध कवि सियारामशरण गुप्त के अग्रज। हिन्दी में रीतिवाद विरोधी अभियान में अग्रणी। भारतीय नवजागरण तथा आधुनिक स्वाधीनता संग्राम को अभिव्यक्ति देनेवाले लोक कवि।

संपादक परिचय

कृष्णदत्त पालीवाल

जन्म : 4 मार्च, 1943, सिकंदरपुर, जिला फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश।

सम्प्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष। जापान के तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़ में विज़िटिंग प्रोफेसर रहे। पत्रकारिता में निरन्तर सक्रिय।

पुरस्कार/सम्मान : हिन्दी अकादमी पुरस्कार 1986। दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन सम्मान 1964। तोक्यो विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय, जापान द्वारा प्रशस्ति 2002। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का राममनोहर लोहिया अतिविशिष्ट सम्मान 2005। सुब्रह्मण्यम भारती सम्मान 2005—केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा। साहित्यकार सम्मान 2006-2007, हिंदी अकादमी, दिल्ली। हिंदी भाषा एवं साहित्य में बहुमूल्य योगदान के लिए विश्व हिंदी सम्मान 2007—आठवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन, न्यूयॉर्क, अमेरिका।